सिद्धान्त दिग्दर्शिका

आशीर्वाद

भक्तामर महोदधि उच्चारणाचार्य श्री 108 विनम्रसागर जी महामुनिराज

संकलन/संपादन

श्रमण मुनि विज्ञसागर

॥ वीतराग शासन जयवंत हो ॥
परम पूज्य वात्सल्य रत्नाकर
आचार्य 108 श्री विमलसागर जी गुरुदेव
परम पूज्य सूरिगच्छाचार्य
आचार्य 108 श्री विरागसागर जी गुरुदेव
जीवन है पानी की बूँद के 6500 छंद के रचयिता
परम पूज्य भक्तामर महोदधि उच्चारणाचार्य श्री 108 विनम्रसागर जी महामुनिराज

अखिल भारतीय विद्वत संगोष्ठी, भिण्ड (म.प्र.)

कर्मकाण्ड पर आयोजित विद्वत गोष्ठी पूज्य गुरुदेव की जन्मभूमि भिण्ड में विराजित समस्त संघ

पूज्य गुरुदेव का पाद प्रक्षालन करते हुए विद्वतगण

अखिल भारतीय विद्वत संगोष्ठी, भिण्ड (म.प्र.)

विषय पर प्रकाश डालते हुए पूज्य गुरुदेव

पूज्य गुरुदेव को ध्यान पूर्वक सुनते हुए विद्वत गण

अखिल भारतीय विद्वत संगोष्ठी, भिण्ड (म.प्र.)

दीप प्रज्ज्वलन करते हुए विद्वतगण

गुरु पूजन करते हुए श्रावकगण

पूज्य गुरुदेव की वाणी का रसास्वाद करते हुए
श्रावकगण एवं विद्वतगण

अखिल भारतीय विद्वत संगोष्ठी, अलवर

अलवर में जीवकांड पर विद्वत संगोष्ठी पर प्रकाश डालते हुए विद्वान गण

अलवर में जीवकांड पर विद्वत संगोष्ठी का संचालन करते हुए ब्र. प्रदीप पियूष

अखिल भारतीय विद्वत संगोष्ठी, अलवर

आमंत्रित अथितियों द्वारा दीप प्रज्वलन

विषय प्रस्तुत करते हुए विद्वानगण

अखिल भारतीय विद्वत संगोष्ठी, अलवर

आचार्य श्री की वाणी का रसपान करते हुए विद्वतगण

आचार्य श्री की वाणी का रसपान करते हुए मुख्य अतिथि एवं श्रावकगण

॥ वीतराग शासन जयवंत हो ॥
श्रमण मुनि 108 श्री विज्ञसागर जी
श्रमण मुनि 108 श्री विनतसागर जी
श्रमण मुनि 108 श्री विनयसागर जी
श्रमण मुनि 108 श्री विनंदसागर जी
श्रमण मुनि 108 श्री विनुतसागर जी
श्रमण मुनि 108 श्री विश्वकुंदसागर जी
श्रमणी आर्यिका 105 विमलश्री माताजी
श्रमणी आर्यिका 105 विनेहश्री माताजी
श्रमणी आर्यिका 105 वितपश्री माताजी
श्रमणी आर्यिका 105 विशमश्री माताजी
श्रमणी आर्यिका 105 विपुलश्री माताजी
श्रमणी आर्यिका 105 विश्रेयश्री माताजी
श्रमणी आर्यिका 105 विमुदश्री माताजी
क्षुल्लिका 105 विराजश्री माताजी
ब्र. आदिश भैयाजी
बा.ब्र. कुशाल भैयाजी
ब्र. सुनीता दीदी
बा.ब्र. शुभी दीदी
बा.ब्र. श्रिया (प्राची) दीदी
बा.ब्र. वर्षा दीदी
बा.ब्र. दिव्या दीदी
बा.ब्र. मिति दीदी
बा.ब्र. पूजा दीदी

कृति	– सिद्धांत दिग्दर्शिका
संग्रह आधार	– गोम्मटसार जीवकाण्ड से प्राप्त आलेख
कृतिकार	– सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य श्री नेमिचन्द्र
आशीर्वाद	– परम पूज्य गणाचार्य श्री 108 विरागसागर जी मुनिराज
पावन सान्निध्य	– परम पूज्य उच्चारणाचार्य श्री 108 विनम्रसागर जी मुनिराज
संकलन एवं सम्पादन	– मुनि विज्ञसागर जी महाराज, आर्यिका विमलश्री माताजी
सहयोगी	– आर्यिका विपुलश्री, आर्यिका विमुदश्री माताजी
गोष्ठी संयोजन	– बा.ब्र. प्रदीप शास्त्री पियूष, जबलपुर

आयोजक एवं निवेदक
सकल दिगम्बर जैन समाज, अलवर (राज.)

अखिल भारतीय विद्वत शास्त्री परिषद के तत्त्वावधान में
लगभग देशभर के जाने माने 60 विद्वानों की उपस्थिति

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	शीर्षक	नाम	पृष्ठ सं.
1.	आशीर्वाद	प.पू. उच्चारणाचार्य विनम्रसागर जी	1
2.	प्राक्कथन	मुनि विज्ञासागर जी	2
3.	अ.भा.विद्वत-शास्त्री-परिषद सं. एकदृष्टि	ब्र. प्रदीप शास्त्री पीयूष, जबलपुर	6
4.	दिव्य ध्वनि	प.पू. उच्चारणाचार्य विनम्रसागर जी	8
5.	जीवकाण्ड एक परिचय के गवाक्ष में	मुनि विज्ञसागर जी	17
6.	भव्य मार्गणा में पंच परावर्तन	मुनि विनतसागर जजी	28
7.	लेश्या मार्गणा	मुनि विनंदसागर जी	68
8.	उपशम सम्यक्त्व व उसकी योग्यता	श्रमणी आर्यिका विमलश्री	79
9.	ज्ञान मार्गणा	श्रमणी आर्यिका विनेहश्री	99
10.	संयम मार्गणा	श्रमणी आर्यिका विपुलश्री	113
11.	योग मार्गणा	श्रमणी आर्यिका विश्रेयश्री	122
12.	गति-अगति	श्रमणी आर्यिका विमुदश्री	129
13.	कषाय मार्गणा	बा.ब्र. श्रिया (प्राची) दीदी	139
14.	गुणस्थानों में पंचभाव	पं. महेशचन्द्र शास्त्री, आगरा	152
15.	जैन दर्शन में उपयोग	डॉ. विमलकुमार जैन, जयपुर	156
16.	काय मार्गणा	पं. सुदर्शन जैन, पिंडरई	160
17.	गुणस्थान-आत्म विकास दिग्दर्शक	प्रो. नलिन के. शास्त्री	163
18.	गुणस्थान विवेचना	इंजी. दिनेश जैन, भिलाई	170
19.	नरक गति मार्गणा	चीफ ई. सुमतप्रकाश जैन	178
20.	पर्याप्ति	पं. सुखमालचन्द जैन	185
21.	वेद मार्गणा	पं. दामोदर प्रसाद जैन	187
22.	प्ररूपणाओं का अर्न्तभाव	पं. कोमलप्रसाद जैन	190
23.	गुणस्थान		194

णाण पयासओ णाणं णरस्स सारो

संसार में मति व श्रुतज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण ज्ञान को पाना असंभव सा प्रतीत होता है लेकिन ज्ञानवृद्धि का प्रयास करना पूर्णत: संभव है। कई शास्त्रों को पढ़कर उसका सार समझना बहुत ही कठिन कार्य है लेकिन विद्वत गोष्ठी द्वारा कई शास्त्रों के सार चंद घंटों में अनेक विद्वानों के द्वारा प्रेषित हो जाते हैं आचार्य-साधु भगवंतों के सन्निकट विद्वानों द्वारा विशेष ग्रंथों का अध्ययन कर जो सार रखा जाता है उस पर सभी साधुजन विशेष मंथन करते हैं और नये-नये चिंतन प्रकट होते हैं।

वर्तमान युग में ज्ञान के विकास में और श्रुत ज्ञान के प्रकाश में विद्वत गोष्ठी का विशेष महत्व है इस आयोजन के द्वारा विद्वानों के व साधुसंतों के वैचारिक मतभेद समाप्त हो जाते हैं सभी में एकमत की स्थापना हो जाती है जिससे सामाजिक-व्यावहारिक विकृतियाँ उत्पन्न नहीं हो पाती हैं।

आजकल सिद्धांत ग्रंथों का अध्ययन करने-कराने वाले साधुजन व विद्वतजन बहुत ही अल्प हैं इन ग्रंथों का पठन-पाठन सभी जगह इस ध्येय को लेकर यह सिद्धांत ग्रंथ कर्मकाण्ड जी की गोष्ठी फिरोजाबाद, ग्वालियर, भिण्ड, अलवर, आगरा आदि स्थानों पर की गई ये गोष्ठियाँ श्रमण मुनि विज्ञसागर जी के निर्देशन में बा.ब्र. प्रदीप पियूष के द्वारा सम्पन्न की गई जिसमें 50-60 विद्वानों ने व संघस्थ सभी श्रमण मुनियों ने व श्रमणी आर्यिकाओं ने अपने अध्ययन वि चिंतनों को रखा और अपने-अपने ज्ञान के क्षयोपशम की यथायोग्य वृद्धि की।

मेरा उन सभी साधु-साध्वियों को, विद्वानों को, ब्र. भैया व दीदीयों को ज्ञानवृद्धि हेतु बहुत-बहुत आशीर्वाद देते हुए परम पूज्य गुरुदेव के चरणों में त्रिभक्तिपूर्वक नमन करता हूँ जिनके परमकृपा व आशीर्वाद से यह गोष्ठी सम्पन्न हो सकी।

– आचार्य विनम्रसागर

प्राक्कथन

–श्रमण मुनि विज्ञसागर

जैन वाङ्मय अगाध समुद्र जिसका पार पाना बड़ा मुश्किल है। धन्य है वे ऋषिगण धन्य है वे आचार्य जिन्होंने अपनी प्रज्ञा से, प्रखर बुद्धि से उस जिनेन्द्र देव की पावन देशना को भव्य जीवों तक पहुँचाया। वे भव्य जीव इस भयाभय कलिकाल में जिस वाणी रूपी अमृत का पानकर विषमदाह को दग्धकर शांति का अनुभव करते हुए अनंत सुख स्वरुपी आत्मतत्त्व का अनुभव करते है।

श्रुतज्ञान– श्रुतज्ञान को दो विभागों में विभक्त किया है–1. द्रव्य श्रुतज्ञान, 2. भाव श्रुतज्ञान। जो अक्षरात्मक ज्ञान है वह द्रव्य श्रुतज्ञान है तथा जो अनुभवात्मक ज्ञान है जिसे बाह्य में प्रकट नहीं किया जा सकता है, वह भाव श्रुतज्ञान है। भगवन् जिनेन्द्र प्रभु की देशना, उनकी वाणी में जो द्रव्यश्रुत प्रकट हुआ वह अनंत अर्थ को लिए हुए था जिसका अनंतवां भाग गणधर ने समझा (झेला), जितना गणधर ने समझा उसके असंख्यातवें भाग की द्रव्यश्रुत स्वरूप रचना की गई, उस द्रव्य श्रुत रचना का संख्यातवां भाग हमारे अर्वाचीन आचार्यो ने समझा, उसका भी संख्यातवां भाग लिपिबद्ध कर पाये और उसका भी संख्यातवां भाग आज हमें प्राप्त हो रहा है। ऐसे आगाद्य श्रुतसागर का प्रमाण भावात्मक तो अनंत है किन्तु द्रव्यश्रुत संख्यात अक्षर प्रमाण है क्योंकि प्रकृति में उन अक्षरों का प्रमाण ही संख्यात है ऐसा एक कम अट्टी प्रमाण (18446744073709551615) अक्षरों से उस श्रुत ज्ञान का प्ररूपण किया जाता है। यद्यपि इसे पर्यायश्रुत ज्ञान से लेकर अंगपूर्व तक 20 भेदों में विभक्त किया है, वह इस प्रकार हैं–

पर्याय, पर्याय समास, अक्षर, अक्षर समास, पद, पद समास, संघात, संघात समास, प्रतिपत्तिक, प्रतिपत्तिक समास, अनुयोग, अनुयोग समास, प्राभृत प्राभृत, प्राभृत प्राभृत समास, प्राभृत, प्राभृत समास, वस्तु, वस्तु समास, पूर्व, पूर्व समास इस प्रकार श्रुतज्ञान के 20 भेद किये हैं।

श्रुतज्ञान को यद्यपि किन्हीं प्राचीन आचार्यों ने चार अनुयोगों में बांटा है– 1. प्रथमानुयोग, 2. करणानुयोग, 3. चरणानुयोग, 4. द्रव्यानुयोग।

मूल में प्रथमानुयोग का नाम बारहवें दृष्टिवाद अंग के पाँच भेदों में से एक भेद है। बारहवें दृष्टिवाद अंग के पाँच भेद निम्न है– 1. परिकर्म, 2. सूत्र, 3. प्रथमानुयोग, 4. पूर्वगत, 5. चूलिका।

यहाँ प्रथमानुयोग के अन्तर्गत 63 शलाका पुरुषों का चरित्र उनके वंश आदि का वर्णन तथा महापुरुषों के चरित्र का वर्णन पाया जाता है। इस प्रथमानुयोग में 5000 पद होते है। (एक पद में 16348307888 अक्षर होते है) किन्तु शेष तीनों अनुयोगों का उल्लेख नहीं किया है अथवा यह नहीं जाना जा सकता कि कितने पद अथवा कितने अंग अथवा पूर्व कौन से अनुयोग में है। इन चार अनुयोगों का व्याख्यान आचार्य पूज्यपाद स्वामी की रचना समाधि भक्ति की एक पंक्ति से ज्ञात होता है। जिसमें कहा है–

प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः।

अर्थात् प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग को नमस्कार होवे। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने चारों अनुयोगों में विभक्त विषय वस्तु का उल्लेख करते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है-

प्रथमानुयोग मर्थाख्यानं, चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधि समाधि निधानं, बोधति बोधः समीचीनः।।43।।

अर्थात् वह सम्यग्ज्ञान जिसमें धर्म, अर्थ आदि पुरुषार्थों के कथन है, उन शास्त्रों को, चारित्रों को, पुराणों को भी प्रथमानुयोग जानता है, वह पुण्य का कारण है, बोधि समाधि की खान है।

लोकालोक विभक्ते र्युग परिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामति, रवैति करणानुयोगं च।।44।।

अर्थात् जो लोक-अलोक के विभाग को, युग परिवर्तन को और चारों गतियों को दर्पण के समान जानता है वह करणानुयोग कहलाता है।

गृहमेध्यनगाराणां, चारित्रोत्पत्ति वृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोग समयं, सम्यग्ज्ञानं विजानाति।।45।।

अर्थात् जिन शास्त्रों में मुनियों के त्याग गृहस्थों के चारित्र की उत्पत्ति, रक्षण, पालन और वृद्धि का कथन किया जाता है, उसे चरणानुयोग कहते है। यह भी सम्यग्ज्ञान का विषय है।

जीवाजीव सुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्ध मोक्षौ च।
द्रव्यानुयोग दीपः श्रुत विद्या लोक मातनुते।।46।।

अर्थात् जो जीव-अजीव तत्त्व का, पुण्य-पाप का, बन्ध-मोक्ष का निरूपण करता है वह द्रव्यानुयोग दीपक है।

इस प्रकार चारों अनुयोगों की विषय-वस्तु को कहा गया है, इनमें से करणानुयोग की जो विषयवस्तु है वह थोड़ी कठिन प्रतीत होती है क्योंकि गणित सूत्रों के माध्यम से अथवा यू कहे कि इसका विषय इतना सूक्ष्म है कि जन सामान्य की समझ से परे है किन्तु इसे समझना अति आवश्यक है।

करणानुयोग जाने बिना जीव का शुद्ध-अशुद्ध स्वरूप जानना मुश्किल ही नहीं असंभव भी है और स्वरूप को जाने बिना भेद विज्ञान नहीं हो सकता, बिना भेद विज्ञान के सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता, बिना सम्यग्दर्शन के आत्म कल्याण हो ही नहीं सकता,अतः इसे समझना ही पड़ेगा।

लेकिन वर्तमान काल में लोग स्वाध्याय से विमुख होते जा रहे है, कोई लोग स्वाध्याय प्रेमी दिखाई भी देते है तो वे मात्र द्रव्यानुयोग को पकड़कर बैठ जाते है। यद्यपि द्रव्यानुयोग पढ़ना चाहिए किन्तु अन्य तीन अनुयोग भी महत्त्वपूर्ण है, बिना करणानुयोग के द्रव्यानुयोग कार्यकारी नहीं हो सकता। कहा भी है- यदि

कोई जीव धर्म से चलायमान है तो उसे प्रथमानुयोग पढ़ना चाहिए। यदि परिणामों में विकलता है, कषायों में उद्रेक हो तो उसे करणानुयोग पढ़ना चाहिए तथा यदि चारित्र में शिथिलता को दूर करना हो तो चरणानुयोग पढ़ना चाहिए और स्वपर भेद विज्ञान करने के लिए द्रव्यानुयोग पढ़ना चाहिए। ये चारों ही अनुयोग मोक्षमार्ग में उपयोगी है अत: इनको क्रम से पढ़ना चाहिए। इनका पढ़ने का भी क्रम इस प्रकार है- प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नम:। अर्थात् पहले प्रथमानुयोग फिर करणानुयोग पश्चात् चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग पढ़ना चाहिए। यह क्रम भी हमारे अर्वाचीन ऋषियों ने बड़े सोच-समझकर के रखा है क्योंकि अनादिकाल से संसार में फँसा जीव जब मोक्ष मार्ग की ओर कदम बढ़ाता है तो उसका भी क्रम यही है। जैसे प्रथमानुयोग को पढ़कर संसार से भयभीत होता है, धर्म के फल को व पाप के फल को समझता है पश्चात् करणानुयोग पढ़कर कारण को समझता है, लोक-अलोक के विभाग को जानता है, कर्मों के विपाक को जानता है पश्चात् गणित सूत्रों व सिद्धान्तों से निर्णय करता है, श्रद्धान करता है, और यही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, इसके पश्चात् चरणानुयोग पढ़कर अपनी शक्ति के अनुसार मुनि अथवा श्रावक के व्रत ग्रहण करता है, इसके बाद द्रव्यानुयोग के बल से शुद्धात्म तत्त्व का अनुभव कर कर्मों की निर्जरा करता है।

करणानुयोग का अध्ययन करने से असंख्यात कर्मों की निर्जरा होती है, जितनी एकाग्रता करणानुयोग में बनती है उतनी अन्य अनुयोग में नहीं बनती। अत: करणानुयोग कर्म शत्रु को नाश करने के लिए ब्रह्मास्त्र है। करणानुयोग का अध्ययन सर्वश्रेष्ठ अध्ययन है। जिसके माध्यम से हमारा क्षयोपशम तो बढ़ता ही है साथ ही जो अशुभ कर्म सत्ता में पड़े है वे भी शुभ प्रकृति में संक्रमण कर जाते है और जो संक्रमित नहीं हो पाते है उनकी अनुभाग शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाती है। परन्तु आज हम देख रहे है कि लोग करणानुयोग से डरते है, इससे दूर भागते है। गोम्मटसार जीवकाण्ड जैसा ग्रन्थ जिसमें जीव के सम्पूर्ण चरित्र को, उनके क्रिया-कलाप को, उनके भावों की परिणति को दर्पणवत् दिखलाता है। जिस व्यक्ति ने जीवकाण्ड का खूब अच्छी तरह अध्ययन कर लिया है साथ ही कर्मकाण्ड व लब्धिसार पढ़ लिया है और समझा है तो नियम से मान लीजिए उसकी दुर्गति नहीं हो सकती है। ऐसा जीव कोई भव्य पुरुष ही होगा जो तत्त्व-कुतत्त्व को जानने वाला है अथवा यू कहे कि अगर सम्यक्त्व व संयम में किसी जीव का नम्बर आता है तो सर्वप्रथम उसी का आयेगा।

आज समाज में सिद्धान्त ग्रंथों के स्वाध्याय के प्रति जो अरुचि बनी हुई है वह कैसे दूर हो इसी भावना को लेकर समय-समय पर संगोष्ठियों का आयोजन किया जाता है।

परम उपकारी पूज्य आचार्य 108 श्री विरागसागर जी गुरुदेव के आशीर्वाद एवं परम पूज्य उच्चारणाचार्य 108 श्री विनम्रसागर जी गुरुदेव के पावन सानिध्य में गोम्मटसार, कर्मकाण्ड के ऊपर लगभग तीन बार (आगरा 2015 में लगभग 50 विद्वानों की उपस्थिति में, फिरोजाबाद में 2016 में लगभग 65 से 70 विद्वानों की उपस्थिति में तथा भिण्ड में लगभग 60 विद्वानों की उपस्थिति में) गोष्ठी हो चुकी है। ब्र. प्रदीप भैया के संयोजन व हमारे स्वयं के निर्देशन में भव्य गोष्ठियों का अयोजन हुआ। गोम्मटसार कर्मकाण्ड ग्रन्थ आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने चामुण्ड राय के अनुरोध पर षट्खण्डागम व कषाय पाहुड जैसे महान

सिद्धान्त ग्रंथों के आधार पर लिखा है जो कर्म प्रकृतियों में होने वाले बन्ध, उदय, सत्त्व का व दशकरण, बन्ध, उदय व सत्त्व स्थान तथा भावों का नौ महाअधिकारों के माध्यम से ज्ञान कराने में एक महान साधन है, यह करणानुयोग का अद्वितीय ग्रंथ है।

इस ग्रन्थ पर होने वाली गोष्ठियों में महाराजों ने, माताजियों ने, त्यागीव्रती तथा विद्वानों ने अपने आलेखों का वाचन किया। उन आलेखों का संग्रह जितना हमें प्राप्त हो सका है उनका प्रकाशन इस पुस्तक के माध्यम से प्रस्तुत है। इस पुस्तक में भिण्ड नगर में हुई कर्मकाण्ड पर गोष्ठी तथा अलवर में हुई जीवकाण्ड पर गोष्ठी में लगभग 50-60 विद्वान उपस्थित थे जिसे सम्पूर्ण समाज के द्वारा विशेष ख्याती प्राप्त हुई। दोनों ही ग्रन्थों के रचनाकार आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ही है। इन दोनों की गोष्ठियों में संग्रहीत आलेखों का प्रस्तुतीकरण यहाँ किया जा रहा है। इसका उद्देश्य विद्वानों में, त्यागी व्रतियों में, महाव्रतियों में सिद्धान्त ग्रन्थों के अध्ययन के प्रति रूझान बढ़ाना है। अच्छे लेख प्रस्तुत करके सिद्धान्त ग्रन्थों में कथित सिद्धान्त का सरल-सहज भाषा में प्रस्तुतिकरण हो, इस पुस्तक को पढ़कर जन सामान्य में सिद्धान्त पढ़ने की उत्कण्ठा जाग्रत हो, उनका चिंतन, मनन, ध्यान, अध्ययन के माध्यम से कर्म प्रकृतियों का क्षय हो, यही उद्देश्य लेकर प्रस्तुत कृति आपके कर कमलों में प्रस्तुत है।

*****

अ.भा.विद्वत-शास्त्री-परिषद संस्थान एक दृष्टि

-ब्र. प्रदीप शास्त्री पीयूष
जबलपुर

जिनवाणी के प्रचार-प्रवार में पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी का जो योगदान जैन समाज पर है। वह योगदान अविस्मरणीय है। पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी ने जैन समाज को अनेक विद्वान दिये हैं। पं. दयाचन्द्र जी, पं. फूलचन्द्र जी,पं. कैलाशचन्द्र जी, पं. जगनमोहनलाल जी, साहित्याचार्य डॉ. पं. पन्नालाल जी बसन्त सागर इत्यादि अनेक विद्वान है जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता है।

सम्प्रति आगमनिष्ठ एवं आगम सम्प्रेषित विद्वानों का अभाव प्रायलुप्त सा होता जा रहा है। कोई भी ठोस सिद्धांत, न्याय, व्याकरण का विद्वान बनना नहीं चाहता। केवल अशुद्ध मंगलाष्टक का उच्चारण कर वह विधानाचार्य एवं प्रतिष्ठाचार्य बनना चाहता है। सम्प्रति एक भी विधानाचार्य एवं प्रतिष्ठाचार्य विद्वान ऐसा नहीं है जो व्याकरण, संस्कृत उच्चारण सिद्धांत की चर्चा विधान आदि के मध्य कर सकें।

भारत वर्ष में अनेक पुरानी और नई विद्वानों की संस्थाएँ है, जिनके सदस्य संख्या लगभग पंच शतक से अधिक होगी। परन्तु मुझे दुःख और पीड़ा इस बात की है कि सम्प्रति पंचशत् विद्वान् भी मुझे नहीं मिलेंगे जो मोक्ष शास्त्र के सूत्रों का अर्थ बिना हिन्दी देखे समझा सकें।

उच्चारणाचार्य श्री 108 विनम्रसागर जी महामुनिराज के प्रथम शिष्य सिद्धान्तज्ञ, सहज-सरल साधक, विद्वानों के प्रति वात्सल्यभाव हृदय में धारण करने वाले।

मुनि श्री 108 विज्ञसागर जी महाराज के अन्तःकरण में एक पीड़ा उत्पन्न हुई। सन् 2013 का वर्षायोग राजस्थान प्रांत के बांसवाड़ा में चल रहा था। मेरे पास श्रावक द्वारा समाचार आया कि मुनि श्री विज्ञसागर जी महाराज ने याद किया है। मुनि श्री के आदेश को पाकर मैं बांसवाड़ा (राजस्थान) गया। आचार्य श्री के एवं संघ के दर्शन लाभ का पुण्य अर्जन किया। आचार्य श्री के सान्निध्य में एक मीटिंग समायोजित हुई। जिसमें आचार्यश्री की एवं संघ की पीड़ा थी लुप्त होती विद्वत् समाज को कैसे जागृत किया जाये।

मीटिंग ने जन्म दिया एक संस्थान को, जो लुप्त होती विद्वान समाज को वर्णी जी तरह पुनः स्थापित कर सके। संस्थान के नाम की संयोजना उच्चारणाचार्य श्री 108 विनम्रसागर की महाराज एवं मुनि श्री 108 विज्ञासागर जी महाराज ने की। विद्वानों को जन्म देने वाली संस्थान को नाम मिला-अ.भा. जैन विद्वत शास्त्रि परिषद संस्थान।

संयोजक की प्रथम सफलता मैं किन शब्दों में व्यक्त करूँ, पं. खेमचन्द्र जी शास्त्री सागर जैसे विद्वान् पंचाशत् ठोस विद्वान् उपस्थित हुये तथा आचार्य श्री विनम्रसागर जी महाराज ने बा.ब्र. साधना दीदी आदि पांच बहिनों को प्रथम आर्यिका दीक्षा प्रदान की।

संस्थान द्वारा चार माह पश्चात् द्वितीय संगोष्ठी समयसार ग्रंथराज पर होगी यह घोषणा दीक्षा महोत्सव के मंच से आचार्य श्री द्वारा घोषित की गई।

संस्थान द्वारा आचार्य श्री के सानिध्य में एक वर्ष में दो संगोष्ठी कराने का संकल्प लिया गया। एवं अन्य संघों के मध्य भी संगोष्ठी समायोजित करने का प्रण लिया गया।

संस्थान ने संकल्प लिया कि संत और पंथ के व्यामोह से रहित हमें जिनवाणी का प्रचार-प्रसार करना ही आचार्य श्री 108 विनम्रसागर जी महाराज के सानिध्य में सम्मेद शिखर जी में तीन संगोष्ठी एवं आगरा, फिरोजाबाद, भिण्ड, ग्वालियर, अलवर इत्यादि स्थानों पर सम्पन्न हुई।

आचार्य श्री वर्धमानसागर जी महाराज ससंघ एवं स्वस्ति श्री चारुकीर्ति भट्टारक स्वामी जी के नेतृत्व में चौबीस ठाना, जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, जैसे महान् सिद्धान्त ग्रंथों पर श्रुत पंचमी महोत्सव के प्रसंग पर संगोष्ठी समायोजित हुई।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के शिष्य मुनि श्री 108 समतासागर जी महाराज ससंघ के सान्निध्य में सूरत में संगोष्ठी का भव्य अयोजन हुआ।

राष्ट्रसंत मुनि श्री 108 विहर्षसागर जी महाराज के सानिध्य में सरलाबाग-दयालबाग आगरा में संस्थान द्वारा संगोष्ठी आयोजित हुई। नोएडा पचास सेक्टर में एवं मुम्बई बोरीवली तीनमूर्ति में भी संगोष्ठी समायोजित हुई।

अ.भा. जैन विद्वत-शास्त्रि-परिषद-संस्थान द्वारा अल्प समय में ही अनेक संगोष्ठी समायोजित हुई हैं। परिषद् संस्थान द्वारा अनेक मूर्द्धन्य विद्वानों को पुरस्कृत कर सम्मानित किया जाता है।

विद्वानों के आलेखों संगोष्ठी में आमंत्रित विद्वानों के आलेख का प्रकाशन हो रहा है। प्रकाशन का मूल उद्देश्य अभिन्न नूतन विद्वान एवं पुरातन विद्वानों में जिनवाणी के प्रचार-प्रसार हेतु भावना उत्पन्न हो।

अ.भा. जैन विद्वत-शास्त्रि-परिषद् संस्थान द्वारा प्रकाशन हो रहा है।

संस्थान के सम्प्रति श्रद्धावनत् विद्वान मुख्य संयोजक पं. कोमलप्रसाद शास्त्री कोटा, अध्यक्ष-चीफ इंजी. पं. सुमतप्रकाश जैन जयपुर, महामंत्री पं. महेशचन्द्र शास्त्री आगरा, कोषाध्यक्ष पं. संजीव जैन अरिहन्त कोटा।

चरण सेवक

ब्र. प्रदीप शास्त्री पीयूष, जबलपुर

निर्देशक-अ.भा. जैन विद्वत् शास्त्रि परिषद संस्थान (रजि.)

दिव्य ध्वनि

-प.पू. उच्चारणाचार्य विनम्रसागर जी

जैन वाङ्मय अगाध है इसका कथन व व्याख्यान गणधर देव भी पूर्ण रूप से करने में समर्थ नहीं होते हैं। सामान्य छद्मस्थ जीवों में वह क्षमता कहाँ? यहाँ मात्र एक विषय जीवकाण्ड पर जिनवाणी पुत्र समस्त विद्‌तगण ने अपने-अपने विचारों को अल्प समय में सारभूत बातों को व्यक्त करने का प्रयास किया है। समय अल्प है विषय विशद् है।

प्रस्तुत ग्रंथ जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड, धवल जी व महाधवल जी की एक कुंजी है। कुंजी अर्थात् मास्टर की (Master Key) वह है जो शॉर्ट में विषय को दर्शाए। यह पूर्व समय में चलती थी अब उसके स्थान पर मास्टर माइण्ड आने लगे हैं और यह गोष्ठी।

धवल जी, महाधवल जी बहुत बड़े ग्रंथ हैं विषय विस्तार भी अधिक है सामान्य व्यक्ति को श्रावक को समझना सहज न होने के कारण इनको सरल व शॉर्ट कर आचार्य भगवन्तों ने हम अल्पज्ञानियों पर उपकार करते हुए जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड की रचना की। हम भले ही वस्तु का विस्तार न समझ पायें लेकिन विशाल ग्रंथों को पढ़ने पर वस्तु का विस्तार समझ में आता है।

लोग भले ही कहें कि चीटियाँ अपने अंडे ले जाती हैं चींटी व मक्खी के अंडे होते हैं लेकिन आगम कहता है कि नपुंसक जीवों के अंडे नहीं होते आचार्य उमास्वामी जी ने तत्त्वार्थ सूत्र के द्वितीय अध्याय में गर्भ जन्म का वर्णन करते हुए सूत्र दिया **जरायुजाण्डज पोतानां गर्भः** अर्थात् जरायुज अण्डज व पोतज गर्भ जन्म के भेद हैं। जिनकी अंडों से उत्पत्ति नहीं वे अंडे क्यों देंगे? लेकिन अभी मुनि श्री अपने विचार व्यक्त कर रहे थे तब उसमें अपना भी चिंतन आया जो लोग बड़े ग्रंथों का अध्ययन नहीं करते ऊँची बातों का ध्यान नहीं करते उनके लिए तो अध्ययन हीन हैं उनके लिए वैज्ञानिक भी भगवान हैं चाहे वह जगदीशचन्द्र बसु हों अथवा रॉबिंसन कोई भी हों उनको इन्हीं की परिभाषाएँ पढ़नी पड़ेंगी क्योंकि इन्होंने ऊँची बातों को पढ़ा ही नहीं जो अध्ययन हीन हैं उनके लिए तो वैज्ञानिक ही भगवान है जो अध्ययनशील हैं ज्ञानी हैं उनके लिए वीतरागी भगवान हैं ये आज के वैज्ञानिक नहीं वो तो वैज्ञानिकों को नकार देते हैं।

Men great by fumanly deed not birth. कहते हैं **मनुष्य जन्म से नहीं कर्म से महान होता है** महात्मा गाँधी ने कहा है पर महात्मा गाँधी ने भगवान महावीर के संदेश को ग्रहण करते हुए कहा है जो अध्ययन हीन हैं वे इसे महात्मा गाँधी का सिद्धान्त का कथन मानते है जो अध्ययनशील होते हैं वे भगवान महावीर का संदेश मानते हैं। अध्ययनशीलों को वैज्ञानिकों की बातें उनकी रिसर्च आश्चर्य जनक नहीं लगती चाहे वो कम्प्यूटर हो, नेट हो, मोबाइल हो, यूट्यूब हो, फेसबुक हो आदि। जितने भी वर्तमान पूर्वाचार्यों ने ग्रंथ रूप में लिपिबद्ध कर अपूर्व उपकार किया उन्हीं ग्रंथों के सूत्रों के माध्यम से आज के वैज्ञानिक उनका अध्ययन करके उन पर रिसर्च करके नये-नये आविष्कार करने में सफल होते हैं।

उन्हीं ग्रंथों में से एक जीवकाण्ड है उसका विस्तार से अध्ययन करके इन सरस्वती पुत्रों ने उसके छोटे-छोटे विषयों को चुनकर उन पर प्रकाश डालने का प्रयास कर गागर में सागर भरने का सफल प्रयास किया है। जिसमें पंडित सुमतिप्रकाश जी ने अधोलोक में स्थित नरकों की विवेचना की है वहाँ कितने नरक हैं, उनमें कितने पटल हैं चित्रा पृथ्वी के नीचे खर भाग-पंक भाग-अव्वहुल भाग आदि को बतलाया साथ ही नरकों में 84 लाख बिल किस प्रकार होते हैं पश्चात् उन्होंने मध्यलोक पर भी प्रकाश डाला। जब मध्यलोक की लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई का विवेचन हेतु जब इसका मानचित्र देखते हैं तब लगता है कि हम इस जम्बूद्वीप के कितने छोटे से भाग में स्थित है। लोक कितना विशाल है उस लोक में मध्यलोक व अधोलोक भी कितना विशाल है बड़े-बड़े नरक हैं और उन नरकों में असंख्यात जीव कैसी अवस्था में होंगे जहाँ न सूर्य उदित होता है और न ही चन्द्रमा की चाँदनी उजाले नाम की वस्तु ही नहीं मात्र चारों ओर घनघोर अंधकार ही अंधकार व्याप्त है। कभी-कभी तो ऐसा विचार आता है कि हम किसी काल कोठरी में अंधेरे में डाल दिए जायें जहाँ हमें कुछ भी दिखाई न दे, ना तो कुछ खाने के लिए मिले और न ही पीने के लिए एक बूँद जल भी मिलें, हम भूख के मारे रोयें, चीखें, चिल्लायें और दुःखी हों अंधेरे में पड़े हों न जाने कैसा महसूस होगा? अभी तक तो एक भी दिन ऐसा नहीं आया कि हम अँधेरे में पड़े हों और हमें कुछ भी दिखाई न दे परन्तु पूर्व जन्मों में न जाने कितने बार उन नरकों के चक्कर लगायें होंगे। ऐसी उन विशेषताओं के साथ पं. सुमतिप्रकाश जी ने विषय पर प्रकाश डाला।

पश्चात् पं. कोमलप्रसाद जी ने गुणजीवा पज्जत्ती जीवकाण्ड ग्रन्थ की द्वितीय गाथा के माध्यम से मार्गणाओं का विवेचन करके बीस प्ररूपणाओं का विशद् वर्णन कर अपने ज्ञान व विद्वत्ता का परिचय दिया। यद्यपि विद्वतगण विषय की विशेष खोज करके लाते हैं परन्तु समयाभाव के कारण कितना विवेचन करने का समय मिलता है विद्वत्ता तो वही है जो कम समय में विषय समझाकर करके गागर में सागर भरने का प्रयास कर अपनी योग्यता का परिचय देते हैं।

अभी पंच परावर्तन की बात चल रही थी। अब परावर्तन की नहीं परिवर्तन करने की आवश्यकता है। यदि परिवर्तन नहीं किया गया तो परावर्तन की संतति सतत् प्रवाहित होती रहेगी। परिवर्तन किया नहीं इसलिए परावर्तन होता रहा। आज यदि हमने परिवर्तन कर लिया है तो परावर्तन खत्म होगा ही क्यों इतनी गाथाओं को क्यों पढ़ें मात्र एक गाथा पढ़ो जिससे परिवर्तन हो जाये कभी ऐसे विचार भी सुनते-सुनते आने लगते हैं।

हमारे पं. सुखमाल जी ने पर्याप्तियों के बारे बतलाया है। पर्याप्ति क्या है? शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं उन्होंने यह बात रखी कि शक्ति की पूर्णता अब उसे जिसमें लगायें, भाषा में लगायें, मन में लगायें जिस किसी में भी लगायें लगाइए परिभाषा एक ही है शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं। परिभाषा भले ही छोटी है लेकिन उसका विवेचन अच्छा किया। किस जीव में कहाँ कितनी पर्याप्ति होती हैं अपर्याप्त में कितनी होती हैं एकेन्द्रिय आदि जीवों की पर्याप्तियाँ दर्शायी हैं और अपनी अध्ययनशीलता का परिचय दिया है।

पण्डित खेमचन्द्र जी ने उच्चारण की बात कही। यह तो अपनी-अपनी रुचि है जिसकी जिस विषय पर रूचि टिक जाए वह उसी विषय पर अपनी सम्पूर्ण एकाग्रता को लगा देता है प्राणपन से उस विषय का अध्ययन करता है और उसको आत्मसात् कर लेता है। जरूरत है विषय पर प्राणपन से लगने की यदि प्रण नहीं कर पाये तो प्राण यूँ ही बिखर जाते हैं और एक वस्तु अथवा विषय पर प्राण केन्द्रिय हो जाते हैं तो उस वस्तु अथवा विषय पर अपना एकाधिकार हो जाता है वह वस्तु अपनी हो जाती है। हम भगवान को भी अपना बना सकते हैं उनके समस्त गुणों को अपना बना सकते हैं उनके ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति सभी को अपना बना सकते हैं। बस हमारा प्रण होना चाहिए हमारा प्रण प्राण को जीवित कर देता है। इसीलिए बार-बार प्रण करने को सौगंध लेने को कहा जाता है। कि आप प्रण कर लें जिससे वह वस्तु हासिल हो जाएगी।

उच्चारण की बात आयी तो उच्चारण तो सभी करते हैं सभी श्रमण व श्रावकगण उच्चारण का प्रयोग किया करते हैं। वर्तमान में उच्चारण पर विशेष-विशेष अध्ययन हो रहा है। कुछ समय पूर्व उच्चारण पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था लेकिन सम्प्रति टीचरों को, स्पीकरों को यहाँ तक कि फिल्मादि संचार के स्थानों संसाधनों में उच्चारण पर अधिक महत्व दिया जाताहै। आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व एक उच्चारणाचार्य हुए थे बीच में नहीं हुये। सोचा विचार किया कि क्या आवश्यकता है उच्चारण पर विशेष ध्यान देने की बस समझ में आना चाहिए ऐसा नहीं है हमने संस्कृत अच्छे अध्ययनशील लोगों को भी शुद्ध उच्चारण करते नहीं देखा और कई लोग इस पर ध्यान नहीं देते हैं। आपको जानकारी हो तो मुम्बई में फिल्म सिटी में प्रवेश करना चाहता है तो सबसे पहले उसका आवाज टेस्ट होता है। संगीतकार की आवाज और शब्दों के शुद्ध उच्चारण पर विशेष ध्यान दिया जाता है जिनके शब्द उच्चारण बढ़िया होता है उन्हें बढ़िया एनाउंसर बनाते हैं। उनकी योग्यता अलग प्रदर्शित की जाती है और जिन्हें शब्दों का ज्ञान नहीं है शुद्ध उच्चारण नहीं होता उन्हें राइटर (लेखक) बनाया जाता है। उनसे कहा जाता है बस लिखो, बोलो मत क्योंकि तुम्हें सही बोलना नहीं आता। मुझे याद आता है एक व्यक्ति हकलाता था उसे ट्रेन एनाउंसर बना दिया अब उसे कहना था कि दो मिनिट में ट्रेन प्लेटफार्म पर आने वाली है जब तक वह बोलता उतने में तो ट्रेन स्टेशन पर आ चुकी थी अब विचार कीजिए क्या वह एनाउन्सर बनने के काबिल था? शब्द की शुद्धि एक विशेषता है। यह तो एक ज्ञानाचार का प्रथम अंग शब्दाचार है यदि शब्द शुद्ध नहीं तो अर्थ कैसे निकाल पायेंगे शब्द अर्थ नहीं तो भाव कैसे बन पायेगा। शब्द शुद्धि अल्फावेट सिद्धि यह तो अपनी-अपनी खोज है। हमारे पंडित खेमचन्द्र जी ने बात अपने अच्छे विचार रखे हम तो यह भावना भाते हैं कि सभी लोग शुद्ध बोलना सीख जाएँ तो कितना अच्छा रहेगा और सभी को शुद्ध उच्चारण का प्रयास भी करना चाहिए। आज हम प्रयास करेंगे कल अवश्य ही पास होंगे।

इसी शृंखला में श्रमणी आर्यिका विमलश्री ने सम्यग्दर्शन पर प्रकाश डालने का सफल प्रयास करते हुए कहा कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति हेतु क्या योग्यता होनी चहिए कि वह प्राणी गर्भज हो, संज्ञी पंचेन्द्रिय हो, कर्म भूमिज हो, साकारोपयोगी हो।

बहुत सुन्दर व्याख्या की कि अध:करण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण कहाँ-कहाँ जीव करता है ऐसे स्थान हैं जहाँ जीव तीनों करण करता हैं वे स्थान कहाँ-कहाँ हैं?

वहीं आर्यिका विनेहश्री माताजी ने ज्ञान मार्गणा पर चर्चा की। उन्होंने कहा ज्ञान स्वभाव भी है ज्ञान गुण भी है। जब आत्मा किसी वस्तु के जानने में लगता है तो ज्ञान गुण होता है और जब अपने स्वभाव में लीन होती है अपने स्वभाव को जानने पहुँचती है तब ज्ञान स्वभावी कहा जाता है। ज्ञान का आनंद ही कुछ और है। मुनि अवस्था में पढ़ा उसका आनंद अलग है और अब आचार्य अवस्था में अध्ययन करतेहैं तो अलग ही अनुभव होता है जो पहले समझ नहीं आता था अब समय ही नहीं लगता कैसा भी क्लिष्टि विषय हो तुरंत समझ में आता है। मुझे ऐसा लगता है कि जितने भी विद्वान हैं मेरा सबसे कहना है कि आप आचार्य बनकर अध्ययन करें तो बहुत आनंद आएगा। अभी वह रस नहीं आएगा आज उसी की विशेषता समझाते हैं तो सारे महाराजों को समझ में आती है आनंद आता है सभी सुनते हैं और आनंदित होते हैं। बढ़िया-बढ़िया चिंतन निकल आते हैं और सही बात निकल करके आती है तो सभी लोग आनंदित होते हैं।

हम यही कहना चाहते हैं कि सभी विद्वत्गण अपने-अपने विचारों को व्यक्त करते हैं अपने-अपने क्षयोपशम के द्वारा मंथन चिंतन और मनन के द्वारा प्रस्तुतिकरण करते हैं सभी लोग उसे सुनकर समझने का प्रयास करते हैं और कहीं कोई शंका उत्पन्न होती है तो उसका समाधान मिल जाता है तो मन प्रसन्न हो जाता है। मेरा यही कहना है कि इस जीवकाण्ड की गोष्ठी में विद्वानों ने अपने सारभूत विषयोंको प्रस्तुत किया उनका यह पुरुषार्थ श्लाघ्नीय है उन सभी को खूब-खूब आशीर्वाद है अपनी प्रज्ञा को और प्रखर करें और ज्ञानके चरमोत्कर्ष को प्राप्त करें व जीवन को मंगलमय बनाएँ।

जिनेन्द्र की वाणी जो आचार्यों द्वारा लिपिबद्ध ग्रंथ हम स्वयं पढने बैठते हैं तो उतना समझ में नहीं आता लेकिन जब गुरु के सामने हों तो वही वाणी जल्दी समझ में आ जाती है। इसलिए पंडित जी ने मोह की बात करते हुए यही कहा था तो हमारा कहना है कि मोह पैदा हुआ ही क्यों इस बात को जानने से ही सार निकलेगा राग द्वेष की बातों को करने से कोई सार नहीं निकलेगा। मेरा मोह कम कैसे हो इस विचार से ही सार निकलेगा इसीलिए मोह पर विचार किया गया।

बा.ब्र. विनोद जी ने वनस्पति के बारे बतलाया, अग्नि और वनस्पति दो स्थावर तो हमें प्रत्यक्ष नजर आते हैं और निर्णय हो जाता है कि इसमें जीवन पाया जाता लेकिन वायुकायिक, पृथ्वीकायिक और जलकायिक को हमें श्रद्धान से मानना पड़ता है। इनका स्पष्टीकरण करना दुरुह हो जाता है। प्रश्न यह है कि अग्नि तो हमें सामने दिखाई देती है और उदाहरण भी दे दिया कि ऑक्सीजन नहीं मिली तो अग्नि समाप्त हो गयी लेकिन वायु में तो ऑक्सीजन स्वयं है अथवा वायु ही ऑक्सीजन है। यह बात जानने की है कि वायु में ऑक्सीजन है ऑक्सीजन ही वायु है और ऑक्सीजन ही वायु है तो ऑक्सीजन किससे जीवन्तता को प्राप्त करती है। अग्नि को जीवन्त बनाने में तो ऑक्सीजन हैल्पर है पर उसे भी तो कुछ चाहिए। जब मन में ये बात आयी तब चिंतन किया तो हमारे अंदर जो क्षुधा वेदना होती है उसका कारण है हमारे शरीर में स्थित बादर

निगोदिया जीव हैं जब उनको असाता वेदनीय सताता है तो वे हमारे शरीर में वेदना पैदा करते हैं और हम उस वेदना को समाप्त करने के लिए हम उस शरीर में भोजन डालते हैं उन्हें भोजन मिल जाता है वे अपने भोजन को खाने में लग जाते हैं और हमारी वेदना कुछ समय के लिए शमन हो जाती है तर्क दिया कि जब हम गुटखा खाते है तो उस गुटखा के वायरस दाँतों में लग जाते हैं मसूड़ों में लग जाते हैं और वे उन मसूड़ों को काटते हैं और जब गुटखा मुँह में डालते हैं उन्हें भोजन मिल जाता है वो अपने भोजन में मस्त हो जाते हैं तो हमारा दर्द कम हो जाता है जब यह तर्क दिया तो किसी ने शंका की कि इतना बताइये जब आपके शरीर में बादर निगोदिया जीव हैं और उनकी पीड़ा देने पर हमें भूख लगती तो उनके पेट में कौन से कीड़े हैं यह तर्क दिया बात तो सही हैं कहने का मतलब कि अगर वायु में ऑक्सीजन है और वायु ऑक्सीजन से जीती है यह तो बात जमती है और ऑक्सीजन को ही वायु कहेंगे तो फिर ऑक्सीजन किससे जीती है? अब ऑक्सीजन ऑक्सीजन से जीती नहीं है तो ऑक्सीजन किससे जीती है इससे वायुकायिक,पृथ्वीकायिक और जलकायिक इन तीनों का स्पष्टीकरण देना मुश्किल होता है। हमारे पूर्वावस्था के पिताश्री मुनि श्री विश्वकीर्तिसागर जी ने विवेचन किया तो कहा कि जिसको हम देख सकते है उसका स्पष्टीकरण हमें दिखाई देता है उसे तो तर्क से समझें और जिनका स्पष्टीकरण हमें दिखाई नहीं देता है उनको श्रद्धान से स्वीकार करना चाहिए और फिर होता यह है कि एक को स्वीकार करने से सभी की स्वीकृति बन जाती है अर्थात् जिनका हम स्पष्टीकरण न दे सकें उन पर श्रद्धान करना चाहिए क्योंकि मेरा क्षयोपशम इतना विशाल नहीं है कि हम उनका स्पष्टीकरण कर सकें। जितना दे सकते हैं उतना देना चाहिए। यह उन्होंने अच्छी बात बताई और यह भी बताया कि यदि हम जीवों को नहीं जानेंगे तो हमें कैसे पता चलेगा कि हम यहाँ पैर रखें या नहीं जब तक ये जानकारी नहीं होगी कि इस फर्श चटाई या कारपेट के नीचे कोई चींटी भी घूम सकती है और हम उस पर पैर रखकर निकल रहे थे चीटीं पर भले ही पैर नहीं रखा पर फर्श तो उसके ऊपर था और पैर रखा वह मर गई यही कारण है कि साधुजन चटाई पर फर्श पर नहीं चलते हैं उनकी सकारात्मक सोच है कि उन्हें चटाई के नीचे और ऊपर के जीव दिखाई देते हैं यहाँ तक कि वे हिलते हुए पत्थर व पाटे पर भी पैर नहीं रखते यदि चौके में पाटा हिलता हुआ हो तो उस पर नहीं बैठते कि हम बैठे पाटा हिला और यदि उसके नीचे कोई चींटी घूम रही हो तो वो मर जाएगी इसलिए उस हिलते पाटे पर नहीं बैठते है हिलते हुए पत्थर पर पाँव नहीं रखते जमा हुआ हो वो तो उसमें हिंसा का विकल्प नहीं होता। जब तक हम जीव राशि को नहीं जानेंगे तो कैसे उनकी रक्षा का भाव दया का भाव कहाँ से आयेगा कैसे अहिंसा का पालन होगा? इसलिए जानना आवश्यक है जब तक जीवकाण्ड का अध्ययन नहीं करेंगे तो कहाँ-कहाँ किस-किस अवस्था में जीव राशि होती है और कहा भी है बिन जाने तैं दोष गुणन को कैसे तजिए गहिए। जब जीवराशि समझ में आती है तभी जीव दया उत्पन्न होती है। यह बात बताई गई।

आर्यिका विमुदश्री माताजी ने गति आगति का विवेचन किया और उन्होंने बताया कि जीव किस गति से किस गति में आगमन व गमन करते हैं। मनुष्य तिर्यंच गति वाले जीव चारों गतियों में आ सकते हैं और चारों में ही गमन कर सकते हैं। देव व नरक दो गति से मनुष्य व तिर्यंच दो ही गति में जा सकते हैं क्योंकि देव

मरकर देव व नरक गति नहीं जाता वैसे ही नारकी मरकर नरक व देवगति में नहीं जाता ये दोनों दो गति से ही आते हैं और उन्हीं दो में जाते हैं। इसका विशद विवेचन विमुद्श्री माताजी ने किया हमने तो शॉर्ट में बताया है।

वहीं श्रमण मुनि विनंदसागर जी ने लेश्या के बारे विवेचन किया उन्होंने इसे साइंटिफिक तरीके से समझाया। उन्होंने शरीर के तेज और आभामंडल में अंतर समझाया। शरीर का तेज इलेक्ट्रिक बॉडी है और आभामण्डल को इलेक्ट्रॉनिक डायनामिक फील्ड जिसे ओरा भी कहते हैं यह इन दोनों में अंतर है। डायनामिक फील्ड हमारे चारों ओर होता है और तेज हमारे शरीर में (उत्पन्न) प्रकट होता है। हम देखते हैं हमारे दाँत, आँख, नाखून, केश पर साइनिंग दिखाई देती है वही तेज अर्थात् इलेक्ट्रिक बॉडी है। हमारे चारों ओर डायनामिक फील्ड है जिसे ओरा कहते हैं उसे लेश्या कहते हैं। लेश्या हमारे अंदर के कषाय परिणाम व योगों से मिलकर बनती है। लेश्या और तैजस शरीर अलग-अलग बात है। तैजस शरीर कार्मिक बॉडी में भी नहीं होता उन्होंने यह भी बताया कि पॉजिटिव थिंकिंग और निगेटिव थिंकिंग क्या है? विचार कीजिए कि आखिर पॉजिटव थिंकिंग है क्या जो हम चाहते हैं पसंद करते हैं वैसा होना और हम प्रसन्न चित्त होते हैं क्या यही है पॉजिटव थिंक? नहीं अभी तक हम पॉजिटिव का अर्थ ही नहीं समझ पाये। पॉजिटिव का मतलब है जो हमें वीतरागता की ओर ले जाये ऐसे विचार ऐसी थिंक पॉजिटिव थिंक कहलाते हैं और जो वीतरागता से गिराये वे सारे विचार निगेटिव थिंक कहलाते हैं खाने, पीने, सोने के, परिग्रह के, क्रोध मान माया लोभादि कषायों के सभी विचार निगेटिव थिंकिंग हैं। आज की स्थिति बन गई है लोगों की कि हमारे मन की हो गई तो पॉजिटिव और मन की नहीं तो निगेटिव। वाह! क्या सुंदर परिभाषा बनायी है आपने। पॉजिटिव पॉजिटिव बोलते तो बहुत हैं पर समझ नहीं पाते कि पॉजिटिव है क्या? पं. सुमतप्रकाश जी ने कहा कि जिससे अर्थ की सिद्धि हो वह पॉजिटिव और कार्य सिद्ध न हो वह निगेटिव इस कथन पर विचार किया जाना चाहिए और बदलाव यह होना चाहिए तुमको सारी दुनियाँ प्रेम करे,गुणों से परिपूर्ण कराये वह पॉजिटिव थिंक है और यदि एक भी व्यक्ति प्यार न करे, गुणों से पीछे ढकेले वह निगेटिव थिंकिंग है। पॉजिटिव सारे गुणों को प्राप्त करा देती है 10 मित्र थे 1000 हो गये सभी मित्र बन गये यही पॉजिटिविटी है। क्योंकि जैसे ही पॉजिटिव में आओगे समता में आ जाओगे स्वत: ही। अपने आप ही ज्ञान पैदा हो जायेगा, स्वयं ही सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाएगा, चारित्र जीवन में उतर आएगा, चारित्र आते ही ध्यान का भाव पैदा हो जाएगा कभी किसी से लड़ने का भाव पैदा नहीं होगा क्षमा जीवन में आत्मसात् हो जाएगी विनम्रता से भर जायेगा वही पॉजिटिविटी है और जो स्वभाव से गिराये वह निगेटिविटी है। लेश्या के बारे में भी बताये कि लेश्या क्यों पैदा होती है किसकी बनती है क्यों बनती है। जब कोई बाह्य पदार्थ हमारी निर्मल आत्मा में प्रवेश करता तो विकृति पैदा होती है जिसे कषाय कहते हैं कोई बाहरी गंदगी पानी में प्रवेश करती है तो पानी विकृत हो जाता है इसे ही कषाय कहते हैं। कषाय लेश्या की उत्पादक है और योग ने इस कषाय को बाहर फैला दिया जो ओरा बन गई। पहले ओरा नहीं बन रहा था महाराज ने उदाहरण दिया कि टंकी में गैस बन गई। टंकी में गैस तो बन गई लेकिन ऊपर की टोंटी तो बंद है तो तुम्हें नहीं मालूम इसमें कौनसी गैस है। नाइट्रोजन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन कौनसी है

और जैसे ही टोंटी खोली तो पता चला कि इसमें कौनसी गैस है वैसे ही ओरा से यह पता चलता है कि तुम्हारे अंदर कौनसा विचार चल रहा है। इसलिए आचार्य भगवन्तों ने डेफीनेशन बनायी थी लिम्पति इति लेश्या लेश्या छह प्रकार की होती है जितने भी परिणाम होते हैं वे इन छह रूप में ही समाहित हो जाते हैं। इसलिए लेश्याएँ छह से ज्यादा नहीं हुई। और हमारे श्रमण मुनि विज्ञसागर जी ने अपनी बात रखी जिसमें कहा **अजाणमाणो गुरु णियोगा** अजाणमाणो अगर शिष्य अज्ञानी है जानता नहीं है और गुरु के मुख से कुछ स्खलित हो गया कभी-कभी कोई शब्द में हम स्खलित हो जाते हैं तो वे कहते हैं कि गुरुदेव आपने पहले तो यह बताया था हमें स्वयं याद नहीं रहता हमें सोचना पड़ता है कि हमने कब बताया तो हमें भी सोचना पड़ता है और कभी कोई शब्द स्खलित हो जाते हैं और स्खलित हुए शब्दों को यदि हमने धोखे से सही मान लिया तो आचार्य भगवन कहते हैं कि यदि मान लिया तो अपने गुरु पर श्रद्धान किया है।

एक छोटा सा उदाहरण है कि हमारे संघ में कितने ऐलक हैं? अभी तो दो हैं ऐसे ही एक प्रश्न पूछ लिया कि आचार्य विरागसागर जी के संघ में कितने ऐलक हैं? उस समय हम सहित तीन ऐलक थे एक ऐलक विशदसागर जी तो वर्तमान में आचार्य हैं। एक ऐलक विज्ञानसागर जो अभी ऐलक ही हैं रात्रि का समय लगभग 9.30 बज रहे थे बाहर प्रश्न मंच चल रहा था,प्रश्न आया कि संघ में कितने ऐलक हैं एक व्यक्ति मेरे पास आया मेरे मुँह से निकल गया कि दो हैं चिट पर लिख दिया । पर एक व्यक्ति ने उत्तर दिया कि तीन ऐलक हैं नाम गिना दिए पर उसका उत्तर गलत कर दिया उसने कहा हो तो तीन रहे पर महाराज ने लिखकर भेजा कि दो हैं तो उत्तर दो ही मान्य होंगे इसे कहते हैं **अजाणमाणो गुरु णियोगा** वहाँ तो अजाणमाणो था लेकिन उसे ज्ञान तो था उसने बताया था कि तीन हैं वो तो हम स्खलित हुए थे। लेकिन उसने मेरी बात का श्रद्धान किया और स्वीकार किया था। हमने कहा इसे ही श्रद्धान कहते हैं। कोई कुछ भी कहे मेरे गुरु ने कहा अब हम कुछ नहीं सुनना चाहते। बस इसे ही कहते हैं अजाणमाणो तब तो वह जानता नहीं था लेकिन फिर बता दिया कि तीन नाम हैं अब तो मान लो और यदि अब नहीं मानता तो अब वह गलत है। यही बात हमारे विज्ञसागर जी यहाँ समझा रहे थे और बता रहे थे कि हमें सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो सकता है हमें चिंतन मनन करना चाहिए। और इस प्रकार की गोष्ठियों को सुनना चाहिए क्योंकि इतने सारे चेप्टर विवेचन हमारे सामने एक दो घंटे में ही खुल जाते हैं जिनको पढ़ने में हमें महीनों लग जाते हैं और मेरा मानना है ऐसी वाचना हमें अवश्य सुनना चाहिए जिन्हें पढ़ने में हमें महीनों लग जाते हैं और जरूरी नहीं कि समझ में आ ही जायेगा इसलिए ऐसी जीवकाण्ड की विवेचना अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यान आदि कषायों को समझा रहे थे बिल्कुल सही बात है यदि शास्त्रों की बातों को सुनने में मन नहीं लग रहा है तो समझना कि अनंतानुबंधी का उदय चल रहा है।

जीव के अंदर कौन-कौन से सॉफ्टवेयर होते हैं उनकी खोज कराई और जब अंदर की सारी खोज हो जाती है और सारा ज्ञान हो जाता है तब एक उपलब्धि होती है सारे विकल्प समाप्त हो जाते हैं जब तक किसी वस्तु का पूर्ण ज्ञान नहीं होता तब तक व्यक्ति के अंदर विकल्प होता है चाहे वह ज्ञान रूप हो या अज्ञान रूप चाहे जानने रूप हो या न जानने रूप विकल्प दोनों प्रकार के होते हैं। यदि नहीं जाना है तब भी विकल्प है और आधा जाना है तब भी विकल्प है।

आत्मा के स्वभाव को नहीं जाना आत्म स्वरूप को नहीं जाना। द्रव्य गुण पर्याय से नहीं जाना तो आप कभी भी आँख बंद करके बैठेंगे आत्मा नहीं दिखेगी आप लाख प्रयास करें दिखेगी ही नहीं। मात्र आँख बंद करने से आत्मा नहीं दिखती ज्ञान चक्षु खोलने से आत्मा दिखती है अभी पंडित श्री खेमचन्द्र जी बता रहे थे कि मोह से आच्छादित ज्ञान स्वभाव को प्राप्त नहीं करता। ये सवाल उठता है कि मोह होता ही क्यों है? क्या आवश्यकता है मोह करने की? जो मोह किया और फिर आत्मा के स्वभाव में ज्ञान के स्वभाव में मोह तो था ही नहीं फिर यह कहाँ से आया? कौन लाया? इस पर विचार किया जाये। यह मोह जायेगा कैसे? इसे लाने वाले पर विचार करें तो कहते हैं अज्ञान मोह को लाया लेकिन अब जाएगा कैसे? प्रदीप भैया अब जाएगा कैसे? बोले अज्ञान जाये तो मोह भी चला जाएगा, क्या ऐसी बात है? बोले नहीं। यदि ज्ञान से मोह जाता नहीं है तो अज्ञान से आता कैसे है? और जो अज्ञान से आता है तो ज्ञान से खत्म भी होना चाहिए।

कोमलचंद जी जिन्दगी भर से शास्त्र का अवलोकन किया ज्ञान तो किया मोह कितने इंच कम हुआ? ज्ञान से मोह जाता है यह बात जमी नहीं। तो फिर मोह जाएगा किससे जब हम तिजारा में थे वहाँ एक पंडित जी थे रमेशचन्द्र जी जो वहाँ तीनों समय स्वाध्याय करते थे वो बोले महाराज मुझे लगभग 25 वर्ष हो गये है स्वाध्याय करते हुए प्रवचन करते हुए लेकिन मेरा मोह कम न होकर और बढ़ गया है इससे अच्छा था कि हम अज्ञानी ही रहते। अज्ञान से मोह बढ़ा था और ज्ञान से भी बढ़ ही रहा है। समयसार की बात चल रही थी उन्होंने शंका की कि गुरुदेव मोह को कैसे कम किया जाए? शंका तो बढ़िया थी तो हमने कहा माना कि अध्ययन से शास्त्रों को पढ़ने से ज्ञान होता है। शास्त्रों में ज्ञान ही की बातें तो होती हैं पर हम आपसे यह नहीं कहेंगे कि शास्त्रों को पढ़िए। तो फिर क्या करें जिससे मोह कम हो अब तो कोई दूसरा कार्य करना होगा वह दूसरा कार्य है साधु की संगति। साधु की संगति से मोह कम होता है। उन्होंने पूछा कैसे होता है तो हमने कहा कि फिरोजाबाद जब हमारा चातुर्मास हुआ दो-तीन ब्रह्मचारी जो गृहस्थ में रहा करते थे साथ लग गये और ग्वालियर में आकर महाराज बन गये। बताइए मोह कम हुआ या नहीं? मोह जब भी कम होगा साधुओं की संगति से ही होगा। साधु संगति से ज्ञान भी हुआ और मोह भी कम हुआ। मोह कम होते ही त्याग भी होता है। तो मेरा यह कहना है कि शास्त्रों के अध्ययन से भी मोह कम होता है यदि हम उन्हें निमित्त बनायें तब लेकिन साधु संगति मोह कम करने मे तीव्र सहायक है। गुरु के पास रहोगे जल्दी बदल जाओगे मोह का त्याग होगा वरना मोह का त्याग करना मुश्किल है। हम टीकमगढ़ थे बहुत सारे विद्वान पंडित थे टीकमगढ़ ही क्या कई जगह विद्वान मिलते हैं और जितने अधिक शास्त्रों के जानकार जितने ऊँचे पंडित उनकी अधिक अपेक्षाएँ तब लगता है कि ज्ञान बड़ा या मोह? पंडित जी ने मोह के बारे में विस्तृत विवेचन किया और मुझे लगता है कि खेमचन्द्र जी पंडित जी का सिर्फ मोह रह गया है। राग-द्वेष तो विदा हो गये। कैसे पता करे कि राग द्वेष व मोह में क्या अंतर है। तो यूँ समझना होगा कि हमारी उम्र यदि 60 वर्ष की है तो 20 वर्ष के बीच में राग रहता है इससे ऊपर उठते हैं राग-द्वेष रहता है जैसे ही 50 से ऊपर पहुँचते हैं तब केवल मोह रह जाता है अब राग द्वेष नहीं है। अब घर में पत्नि हो या न हो फर्क नहीं पड़ता तब घर में क्यों क्या कर रहे हैं तो मोह ही है जो घर

में रोके हुए है। तब आचार्य भगवन्तों ने मोह नाश करने को कहा है। राग द्वेष की बात तो बाद की है जब कर्म बंध होगा अभी तो मोह की बात कीजिये जैसे-कोई शराबी अपने स्वभाव को भूल जाता है, अपने मकान को भूल जाता है, मनुष्य अपने परिवार को भूल जाता है, अपनी पर्यायों को भूल जाता है। दूसरों की पर्यायों को देखकर याद आता है ये मोह के लक्षण हैं इसीलिए इन लक्षणों से बचना है।

तब मेरा सभी से यही कहना है कि साधुओं के पास आकर बैठें और शास्त्रों का अध्ययन भी गुरुमुख से करेंगे तो मोह शीघ्र ही समाप्त होगा। इस प्रकार के विद्वत् समूह के बीच जो विषयों का खुलासा होता है उसी से ज्ञान में वृद्धि और मोह का ह्रास होता है सभी को मेरा आशीर्वाद है कि आपके ज्ञान में निरंतर वृद्धि हो और मोह का क्षय हो।

बोलिए महावीर भगवान की जय।

जीवकाण्ड एक परिचय के गवाक्ष में

–मुनि विज्ञसागर

संघस्थ–प.पू. उच्चारणाचार्य 108 श्री विनम्रसागर जी महामुनिराज

ग्रंथराज जीवकाण्ड एक ऐसा ग्रंथ है जो जीवों के लिए दर्पण जैसा कार्य करता है। अर्थात् जिस प्रकार दर्पण इंसान का चेहरा दिखा देता है। जिस प्रकार का चेहरा होगा दर्पण में वैसा ही दिखाई देगा। ठीक वैसे ही जीवकाण्ड के माध्यम से हमारे भावों की, परिणामों की खोज हमारे समक्ष आ जाती है। हम अपनी खोज बड़ी अच्छी तरह से कर सकते हैं कि आखिर हम कौन हैं, हमारा कहाँ निवास है, हमारा क्या स्वरूप है, ये जो अवस्थाएँ बन रही हैं वे आखिर क्यों बन रही हैं, यद्यपि निश्चय नय की दृष्टि से हमारा शुद्ध स्वरूप है किन्तु अशुद्ध नय से हम रागी द्वेषी मोही कर्मों के अधीन हो रहे हैं। जिसके कारण जीव में गुणस्थान, मार्गणा, प्राण पर्याप्ति आदि होते हैं। निश्चय से जीव ज्ञातादृष्टा है न गुणस्थान हैं, न मार्गणा हैं, न प्राण हैं, न पर्याप्ति हैं ये सभी तो कर्माधीन है।

जीवकाण्ड की रचना काल– गोम्मटसार की रचना लगभग 9वीं से 11वीं शताब्दी के बीच की है। इसमें जो विषयवस्तु है उसका कथन करते हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड की रचना आचार्य श्री नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने षट्खण्डागम के आधार से की है।

षट्खण्डागम – अंग प्रवृष्टि के बारहवें अंग दृष्टिवाद के चतुर्थ पूर्वगत का द्वितीय भेद अग्रायणीय पूर्व के पंचम वस्तु (च्यमनलब्धि) के चतुर्थ अधिकार की छ: खण्डों के माध्यम से रचना की है। चतुर्थ अधिकार में चौबीस अनुयोगद्वार हैं। उन्हीं अनुयोगों के आधार पर आचार्य पुष्पदंत और भूतबली ने षट्खण्डागम ग्रंथ की रचना की। षट्खण्डागम के नाम – जीवस्थान, क्षुद्रबंध, बंधस्वामित्व, वेदनाखण्ड, वर्गणा खण्ड, महाबन्ध। इस प्रकार छ: खण्ड हैं। कहा जाता है एक बार नेमिचन्द्राचार्य षट्खण्डागम का अध्ययन कर रहे थे। उस समय चामुण्डराय जो कि उनका अनन्य भक्त था दर्शनार्थ आया तो आचार्य श्री ने ग्रंथ का स्वाध्याय बन्द कर दिया। चामुण्डराय के पूछे जाने पर आचार्य श्री ने उत्तर दिया कि यह ग्रंथ श्रावकों की समझ से बाहर है। इसे श्रावक नहीं पढ़ सकते। पुन: चामुण्डराय ने निवेदन किया भगवन् हमारे लिए कौन सा ग्रंथ है जिसको पढ़कर हमें सिद्धांत का ज्ञान हो सके तो उन्होंने गोम्मटसार नामक ग्रंथ की रचना की जो दो भागों में विभक्त है। पहला गोम्मटसार जीवकाण्ड। दूसरा गोम्मटसार कर्मकाण्ड। गोम्मट– यह नाम गोम्मट राजा (चामुण्डराय के नाम पर रखा है। गोम्मट देव यद्यपि बाहुबलि को कहा जाता है और ग्रंथकर्त्ता उनके भक्त थे। इसलिए भी उनसा नाम गोम्मटसार रखा गया। इस ग्रंथ का अर्थ सूचक दूसरा नाम पंचसंग्रह भी है, जो यह बतलाता है कि पाँच विषयों को प्रतिपादन करने वाले सिद्धांत शास्त्रों के विस्तृत विषय को संक्षेप में सार रूप संग्रह किया गया है।

यहाँ आचार्य श्री अपने विषय में कुछ कहते हैं–

जह चक्केणय चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण
तइमइं चक्केण मया छक्खंडं सहियं सम्मं।''

जिस प्रकार चक्रवर्ती अपने चक्र के द्वारा छः खण्डों को साधता है उसी प्रकार मैंने बुद्धि रूप चक्र के द्वारा सिद्धांत रुपी छः खण्डों को साधा है।

इस ग्रंथ में जीवस्थान, क्षुद्रबंध, बंध स्वामित्व, वेदना खण्ड और वर्गणा खण्ड इन पाँच महान् सिद्धान्त शास्त्रों को सार रूप से संकलन किया है। इसलिए इसका नाम पंच संग्रह भी है। इस ग्रंथ में आत्मा की अशुद्ध अवस्था का वर्णन किया है। फिर शुद्ध आत्मस्वरूप पर भी प्रकाश डाला है। प्ररूपणाओं के माध्यम से इस जीव के गुणस्थान, मार्गणा, प्राण, पर्याप्तियों के माध्यम से अशुद्ध अवस्था तथा गुणस्थानातीत मार्गणातीत सिद्ध अवस्था का भी वर्णन है, किन्तु प्रधानता अशुद्ध अवस्था से सहित जीव की है। गुणस्थानों के माध्यम से हम अपनी पहचान कर सकते हैं कि वास्तव में हमारा कौनसा परिणाम है क्योंकि मोह और योग से होने वाली आत्मा की परिणति को गुणस्थान कहते हैं। कहा भी है –

जेहिं दु लक्खिज्जंते उदया दिसु संभवेहि भावेहिं।
जीवा ते गुण सण्णा णिद्दिदटठा सव्व दर सीहि।।8।।

यह गाथा धवला टीका में सूत्र नं. 8 पृ. 104 पर भी उद्धृत है।

अर्थ – दर्शन मोहनीय आदि कर्मों के उदय, उपशम क्षय क्षयोपशम आदि अवस्था के होने पर जिन परिणामों से युक्त जो जीव हैं उन जीवों को जिनेन्द्र देव ने उसी गुणस्थान वाला कहा है और उन परिणामों को गुणस्थान कहा है।

परिणामों के माध्यम से गुणस्थानों का आकलन –

मिथ्यात्व कर्म के उदय में जो मिथ्या श्रद्धान हो रहा है वह मिथ्यात्व गुणस्थान है। मिथ्यात्व के उदय में धर्म सुहाता नहीं है तत्त्व रुचता नहीं है। तत्त्व चर्चा होने पर वहाँ से उठकर भाग जायेगा, कहा भी है –

मिच्छतं वेदंतो, जीवो विवरीय दंसणो होदि ।
णय धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहाँ जरिदो।।17।। गो.सा.जी.का.

यह गाथा मूलाराधना गा. नं. 41 पृ. 14 तथा षट्खण्डागम में भी कही।

अर्थ – मिथ्यात्व के वेदन करते समय अर्थात् उदय होने पर विपरीत श्रद्धा वाला हो जाता है। उसे धर्म नहीं रुचता। जिस प्रकार ज्वर से पीड़ित जीव को मीठा रस भी रुचिकर नहीं होता। उसी प्रकार मिथ्यात्व रुपी मलेरिया में धर्म की बात कड़वी लगती है।

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइटठं पवयणं ण सद्दहदि
सद्दहदि असब्भवं उवइटठं वा अणुवइट्ठं ।।8।।

मिथ्यादृष्टि जीव उपदिष्ट हितकारी वचनों पर श्रद्धा नहीं करता। जबकि इनके विपरीत वचनों पर श्रद्धा कर लेता है। चाहे वे उपदिष्ट हो या अनुपदिष्ट हो – गा. 18 **यही भाव ल.सा.गा. 109 में है।**

जहाँ इस प्रकार के परिणाम होते हों भले ही बाह्य क्रिया सम्यक्त्व जैसी दिखाई देती है किन्तु वह मिथ्या दृष्टि ही है। इसी प्रकार जो जीव सम्यक्त्व रूप शिखर से गिर चुका है मिथ्यात्व रूपी भूमि को स्पर्श नहीं हुआ है वह सासादन गुणस्थान है तथा दही गुड़ जैसे मिलेजुले परिणाम मिश्र गुणस्थान में होते हैं। द्वितीय गुणस्थान वाला नियम से मिथ्यात्व को प्राप्त होता है। तृतीय गुण. वाला संयम को प्राप्त नहीं होता अथवा देश संयम को भी प्राप्त नहीं होता।

दर्शन मोहनीय की सात प्रकृतियों के क्षय, उपशम, क्षयोपशम से जो तत्त्व श्रद्धान होता है वह सम्यक्त्व कहलाता है। संयम न होने के कारण असंयत कहलाता है और ऐसा जो भाव है वह अविरत या असंयत गुणस्थान कहा जाता है।

कहा भी है –

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि
सद्दहदि असब्भावं अजाण माणो गुरु णियोगा।। 27।।
सुत्ता दो तं संम्मं दर सिज्जंतं जदा ण सद्दहदि ।
सो चेव हवइ मिच्छादिट्ठी जीवो तदोपहुदी ।।28।। (जी.का. 27,28 नं. गा.)

अर्थ – सम्यग्दृष्टि देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धांन करता है अथवा गुरु के वचनों पर श्रद्धान करता है। कदाचित् गुरु स्खलित हो जाये और कोई विपरीत अर्थ बता दें तो वह उसका भी श्रद्धांन कर लेता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि है।

जब उसे गणधर आदि कथित सूत्रों के आश्रय से आचार्यादि के द्वारा भले प्रकार से समझाये जाने पर भी वह अपनी हठ नहीं छोड़ता है अर्थात् समीचीन श्रद्धांन नहीं करता है तो वह उसी काल से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

कभी-कभी हम कहते हैं हमें सम्पूर्ण शास्त्र पर श्रद्धांन है पर बस एक बात हमें अच्छी नहीं लगी उस पर हमारा श्रद्धांन नहीं है तो भी वह सम्यग्दृष्टि नहीं है मिथ्यादृष्टि ही है। कहा भी है – (मूलाराधना)

पद मक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्त णिदिट्ठं ।
शेषं रोचंतो विहु मिच्छा दिट्ठी मुणे यव्वो ।।39।।

सम्पूर्ण शास्त्र पर श्रद्धान करने पर यदि उस शास्त्र के एक पद अथवा एक अक्षर पर भी जो श्रद्धान नहीं करता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं मिथ्यादृष्टि ही है। इसलिए सूत्रों के विषय में आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते हैं यह सूत्र वीर भगवान के श्रीमुख से निकला है। अत: सूत्र पर संदेह नहीं करना चाहिए। शास्त्रों में हमारे अर्वाचीन आचार्यों ने जो वीतरागी हैं, निर्ग्रंथ निंदा स्तुति से रहित हैं उनके द्वारा कही हुई बात गलत नहीं हो

सकती। हो सकता है उसे पूर्णरूपेण परिपालन करने की हमारे अन्दर शक्ति नहीं है तो कम से कम श्रद्धा तो करें। उसे गलत तो नहीं कहें। आज लोग कई प्रकार के तर्क देते हैं। लेकिन तर्क वही है जो आगम सम्मत है। आगम से विरोध आता है तो वह तर्क नहीं कुतर्क है। यह मिथ्यादृष्टि है। यह आइना हमें आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने दिया है। ग्रंथ के रूप में हम अपना चेहरा (भावों का) देखें कि हम किस अवस्था में हैं। चतुर्थ गुणस्थान तक दर्शन मोहनीय यानी श्रद्धान की अपेक्षा गुणस्थान का कथन होता है। इससे आगे (क्रिया) चारित्र की अपेक्षा कथन है। जितनी विशुद्धि बढ़ती जाती है गुणस्थान बढ़ता जाता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव में देशविरत का परिणाम बनता है। वही पंचम गुणस्थान कहलाता है। प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव में सकलसंयम का भाव बनता है। प्रमाद सहित है तो प्रमत्त, संज्वलन कषाय का जितना जितना मंद उदय होता जाता है अप्रमत्त, अपूर्वकरण आदि गुणस्थान होते जाते हैं। सूक्ष्म कषाय के सद्भाव में सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान होता है। कषाय के अभाव में यथाख्यात चारित्र (ग्यारहवाँ बारहवाँ) गुणस्थान होता है। ज्ञानावरणादि के अभाव में सयोगी तथा योग के अभाव में अयोगी व सम्पूर्ण कर्मों से रहित गुणस्थानातीत। आप देख सकते हैं कि हम कौन से गुणस्थान में हैं। इस प्रकार गुणस्थानों के पश्चात् गति मार्गणा में चारों गतियों का विवेचन किया है उन गतियों में कितने गुणस्थान, कितने वेद, कितने प्राण आदि होते है इसका कथन किया है। पर्याप्तियाँ कितनी होती हैं, शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं तथा अपूर्णता को अपर्याप्ति ये छः होती है इनका सुन्दर ढंग से विवेचन पर्याप्ति अधिकार में किया है। प्राण 10 होते हैं जिनका संयोग पाकर जीव जीता है और वियोग होने पर मर जाता है ऐसा व्यवहार किया जाता है उन्हें प्राण कहते हैं। जीव समास का कथन बड़े ही अच्छे ढंग से किया गया है। उसके भेद प्रभेद कितने व कौन-कौन से होते हैं संक्षेप से यहाँ चार्ट प्रस्तुत है विशेष के लिए मूल ग्रंथ देखें।

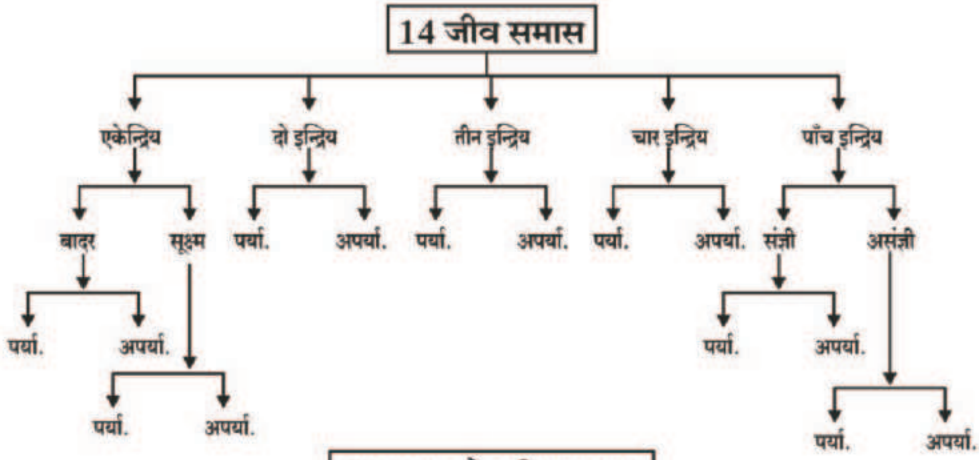

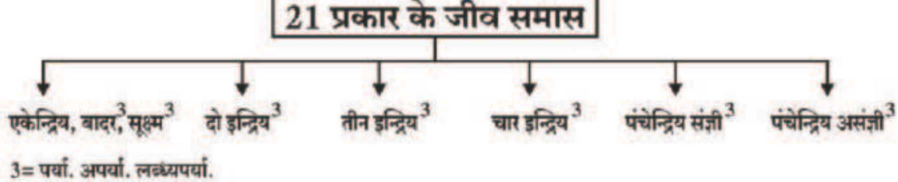

19 प्रकार के जीव समास

एकेन्द्रिय (14)

पृथ्वी कायिक = बादर व सूक्ष्म (2)
जल " " (2)
अग्नि " " (2)
वायु " " (2)

साधारण 2 इस प्रकार 10

प्रत्येक सप्रतिष्ठित – 1
प्रत्येक अप्रतिष्ठित – 1
नित्य निगोद – 1
इतर निगोद – 1
14

विकलेन्द्रिय (3)
- दो इन्द्रिय
- तीन इन्द्रिय
- चार इन्द्रिय

सकलेन्द्रिय (2)
- संज्ञी
- असंज्ञी

57 प्रकार के जीव समास

19 जीव समास के =

पर्याप्त	अपर्याप्त	लब्ध्यपर्याप्त
19	19	19 = 57

98 के प्रकार के जीव समास

एकेन्द्रिय (42)
- पृथ्वी – सूक्ष्म व बादर
- जल – "
- अग्नि – "
- वायु – "
- साधारण वनस्पति के
  - नित्य निगोद – "
  - इतर निगोद – "

(6x2=12)

प्रत्येक वनस्पति
- प्रतिष्ठित "
- अप्रतिष्ठित "

] 2

(12+2=14)

इनके (प.,नि.अ.,ल.अ. भेद से
14x3 = 42

विकलेन्द्रिय (9)
- दो इन्द्रिय
- तीन इन्द्रिय
- चार इन्द्रिय

इनके (प.,नि.अ. व लब्ध्यपर्या.)
3x3=9

सकलेन्द्रिय (47)
- तिर्यंच
  - कर्मभूमि (30)
  - भोगभूमि (4)
  - 34
- मनुष्य
  - कर्मभूमि (5)
  - भोगभूमि (2)
  - कुभोग भूमि (2)
  - 9
- देव – 2 (प.,नि. अ.)
- नारकी–2 (प., नि.अ.)

(34+9+4=47)

42+9+47=98

योग

पुग्गल विवाइ देहोदयेण, मण वयण काय जुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागम कारणं जोगो।।216।। (जीवकाण्ड)

यहाँ महत्त्वपूर्ण विषय योग है जिनका हम कथन करते हैं। पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्म के उदय से मन वचन-काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में **कारण शक्ति है उसको योग** कहते हैं।

वाङ् मन: काय वर्गणा निमित्त: आत्मप्रदेश परिस्पंदो योगो भवति! (ध.पु.1 पृ. 299)

वचन वर्गणा मनोवर्गणा और काय वर्गणा के निमित्त से आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होता है, वह योग कहलाता है।

कर्म जनित आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन ही आस्रव का कारण है। योग में यह अर्थ विवक्षित है।

इस प्रकार ये तीन लक्षण योग के कहे। इनमें से दो लक्षण कार्य में कारण का उपचार करके कहा है। आचार्य श्री वीरसेन स्वामी कहते हैं मन, वचन, काय के प्रति जो आत्मा का व्यापार होता है वह योग कहलाता है। (ध.पु. 12 पृ. 37)

मन, वचन, काय संबंधी क्रिया की उत्पत्ति में जो जीव का उपयोग होता है वह योग है। और वही कर्मबन्ध का कारण है। और वह थोड़े से आत्म प्रदेशों में नहीं होता सम्पूर्ण आत्म प्रदेशों में होता है। क्योंकि आत्मा के थोड़े से आत्म प्रदेशों में कर्म का आस्रव माना जाये तो आत्मा के प्रदेश खण्ड खण्ड मानना पड़ेंगे। किन्तु आत्मा के प्रदेश तो अखण्ड हैं। इसलिए जो आत्मा में अचल प्रदेश है उनमें भी कर्म का बन्ध होता है।

योग के द्वारा नियम से आत्म प्रदेशों में परिस्पन्दन होता है ऐसा एकांत नियम नहीं है किन्तु आत्म प्रदेशों में परिस्पन्दन योग से ही होता है। माना हमारी अँगुली में स्पंदन हुआ तो ऐसा नहीं कि मात्र एक अँगुली के प्रदेश में ही कर्म का बन्ध होगा अपितु सम्पूर्ण आत्म प्रदेशों में कर्म का बन्ध होगा।

गाथा के प्रथम भाग में योग को पुद्गल विपाकी कहा है-

पुग्गल विवाई देहोदयेण, कर्म जनितस्य।

इन शब्दों द्वारा योग की उत्पत्ति कर्मोदय के कारण कही गई है अत: योग औदयिक भाव है।

ध.पु. 9 पृ. 316 में कहा है-

जोग मग्गणा वि ओदइया, णाम कम्मस्स उदीरणोदय जणिदत्ता दो।

योग मार्गणा भी औदयिक भाव है क्योंकि यह नाम कर्म के उदीरणा व उदय से प्राप्त होती है।

धवला पुस्तक 10 में भी कहा है योग की उत्पत्ति तत्प्रायोग्य अघाति कर्मोदय से होती है। इसलिए यहाँ औदयिक भाव स्थान है। लेकिन कितने ही आचार्यों ने योग को क्षायोपशमिक भाव कहा है। वह वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से योग की वृद्धि होने की अपेक्षा से कहा है।

शरीर णाम कम्मोदय जणिद जोगो ध.पु. 7 पृ. 105- योग शरीर नाम कर्म जनित है।

धवला पुस्तक 5 पृ. 225 पर भी कहा है-

योग एक औदयिक भाव है क्योंकि शरीर नाम कर्म का विनाश होने पर योग का विनाश होता है।

राजवार्तिक में अकलंक देव ने भी योग को औदयिक भाव कहा है।

योग के संबंध के अभाव में क्षायिक भाव प्रकट होता है। अयोग केवली के समस्त योग नष्ट हो गये हैं इसलिए उनके आत्म प्रदेश स्थिर हैं। उनके प्रदेशों में संकोच विस्तार नहीं होता है।

षट्खण्डागम क्षुद्रबंध के स्वामित्व अनुयोगद्वार सूत्र 33 में योग को क्षायोपशम भाव बतलाया है।

श्री वीरसेन स्वामी ने टीका में बतलाया है कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार वीर्य में वृद्धि होती है और उस वीर्य वृद्धि से आत्म प्रदेशों के परिस्पंदन में वृद्धि होती है इसलिए योग को क्षयोपशम भाव कहा है। इसमें सूत्र से कोई विरोध नहीं आता क्योंकि योग क्षयोपशम भाव है। ऐसा कोई एकान्त से नियम नहीं है क्योंकि तेरहवे गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव नहीं है। किन्तु शरीर नाम कर्मोदय योग का कारण है और उससे पूर्व के सभी गुणस्थानों में क्षायोपशमिक और औदयिक दोनों भाव पाये जाते हैं। क्षयोपशम भाव ज्ञानावरण व वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होता है। जिससे वीर्य में वृद्धि होती है और वीर्य वृद्धि से आत्म प्रदेशों में परिस्पंदन होता है। इसलिए योग उपचार से क्षयोपशम भाव भी है इस कथन में यह स्पष्ट किया गया है कि आचार्य भूतबली ने योग को विशिष्ट रूप से क्षयोपशम भाव माना है ताकि मूढ़मती एकांत से योग को क्षयोपशम भाव न मान ले। ध.प. 7 पृ. 71

जो विद्वान योग को औदयिक भाव नहीं मानते उन्हें सयोग केवली के योग को क्षायिक भाव मानना पड़ेगा।

आचार्य वीरसेन स्वामी ने तो योग को औदयिक भाव कहा है किन्तु बारहवें गुणस्थान तक उपचार से क्षयोपशम भाव है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि योग ही आस्रव है जैसा कि कहा हैं कायवाङ्मन: कर्मयोग:।।1।।

स आस्रव:।।2।।

यहाँ कार्य में कारण का उपचार करके योग को आस्रव कह दिया है। अर्थात् शरीर वचन और मन रूप क्रिया योग है। और वह योग आस्रव का कारण होने से आस्रव है।

शरीर, वचन और मन रूप क्रिया अर्थात् आत्म प्रदेशों का परिस्पंदन होना योग है और वह कर्म आस्रव का कारण है।

कर्मजनित चैतन्य परिस्पंदन ही आस्रव का कारण है। (ध.पु. 1 पृ. 316)

परिस्पंदन रूप पर्याय: संक्रिया। (प.का.गा. 98 टीका)

परिस्पंदन रूप जो पर्याय है वह क्रिया है।

किन्तु सिद्धों के कर्मों का अभाव होने से निष्क्रियपना होता है। जिस प्रकार आत्मा में अमूर्तत्व शक्ति है उसी प्रकार निष्क्रियत्व अयोग शक्ति है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि योग कथंचित औदयिक भाव है कथंचित क्षायोपशमिक भाव है कथंचित् पारिणामिक भाव है। और वास्तव में जीव की कर्म ग्रहण की शक्ति है वही योग है योग के मूलत: तीन भेद हैं किंतु उनके भी भेद प्रभेद किये जायें तो पंद्रह हो जाते हैं चार मनोयोग, सत्य, असत्य, उभय अनुभय अर्थात् जब हमारे द्वारा सही सही सोचा जाता है उसके माध्यम से आत्मा में जो परिस्पंदन होता है वह सत्य मनोयोग है, इसके विपरीत असत्य मनोयोग है जो दोनों प्रकार से मिश्रित है वह उभय मनोयोग है, न सत्य है न असत्य है अनुभय मनोयोग इसी प्रकार चार भेद वचन योग में जानना चाहिए। सात काय योग औदारिकद्विक, वैक्रियिकद्विक, आहारकद्विक, कार्मण इनमें शेष योग सुगम हैं तथा आगे भी कथन किया जाना है यहाँ आहारक काययोग पर प्रकाश डालते हैं।

आहारक काय योग

आहारस्सुदयेण य पमत्त विरदस्स होदि आहारं।
असंजम परिहरणट्ठं संदेह विणासणट्ठं च।।235।। जीवकाण्ड

आहार सुदयेण य पमत्त विरदस्स होदि आहारं आहारक शरीर नाम कर्म के उदय से यह आहारक शरीर प्रमत्त विरत मुनि महाराज के ही होता है।

यह क्यों होता है।

असंजम परिहरणं संदेह विणासणट्ठंच – असंयम का परिहरण करने के लिए।

और संदेह के विनाश के लिए।

आहारक शरीर सप्त धातु से रहित संहनन से रहित समचतुस्र एक हस्थ प्रमाण चन्द्र कांतमणि के समान धवल वर्ण वाला यह उत्तमांग यानि मस्तक से उत्पन्न होता है।

यह मस्तक में बाल के आठवें भाग के बराबर छिद्र से उत्पन्न होता है।

और भी कहते हैं–

अव्वाघादी अंतोमुहुत्त काल टिठदी जहण्णिदरे।
पज्जत्ती संपुण्णो मरणं पि कदाचि संभवइ ।।238।। जीवकाण्ड

अव्याघाती अन्तर्मुहूर्त काल स्थिति वाला पर्याप्ति पूर्ण होने पर मरण भी संभव है। आहारक शरीर जब तक पूर्णता को प्राप्त नहीं होता तब तक अपर्याप्तक कहलाता है। गा.नं. 238।।

जब यह शरीर पूर्ण हो जाता है तब केवली, श्रुत केवली के पाद मूल में जाता है। यह आकाश प्रदेश की

पंक्ति रूप से गमन करता है। क्षण मात्र में लाखों योजन गमन करने की सामर्थ्य रखने वाला मूल शरीर से संबंध न छोड़ते हुए आत्मा के प्रदेश लाखों योजन लंबे और अँगुल के संख्यातवें भाग मोटे आत्मप्रदेशों के समूह को आहारक शरीर कहते हैं। और इसके माध्यम से जो आत्म परिस्पंदन होता है वह आहारक काय योग कहलाता है। इसका काल जघन्य से एक समय उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त तक होता है।

आहारक काय योग का जघन्य समय व उत्कृष्ट समय – आहारक मिश्र काय योग का जघन्य व उत्कृष्ट दोनों काल अंतर्मुहूर्त है क्योंकि आहारक मिश्र में मरण नहीं होता। आहारक काययोग का जघन्य काल एक समय उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त होता है।

जघन्य एक समय – योग परावर्तन आहारक मिश्र काय योग के बाद आहारक काय योगी हुआ एक समय रहा और मनोयोगी हो गया अथवा वचन योगी हो गया मूल शरीर में प्रवेश होने से पहले पुन: आहारक काय योग हो गया, अत: जिस काल में आहारक शरीर मूल शरीर से बाहर होता है उस काल में मनोयोग व वचन योग भी होता है। मनोयोग या वचन योग के पश्चात् एक समय के लिए आहारक काय योगी हुआ और मरण को प्राप्त हो गया तो भी एक समय प्राप्त हुआ। ध.पु. 7 154 सू. 106

आहारक शरीर को वापस लौटने में लगने वाला काल – आहारक शरीर को वापस लौटने में अंतर्मुहूर्त काल लगता है। एक समय में नहीं। इन सभी बातों के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि आहारक शरीर और आहारक काय योग दोनों भिन्न–भिन्न हैं। आहारक शरीर है पर आहारक काय योग हो अथवा न हो ऐसा भी संभव है क्योंकि योग का स्वरूप अलग है शरीर का स्वरूप अलग है।

इस प्रकार से आहारक काययोग का संक्षेप में कथन किया विस्तार से जानने के लिए आगम देखें।

आहारक काययोगी जीवों की संख्या = 54

आहारक मिश्र = 27

यदि मन वचन काय की युगपत प्रवृत्ति देखी जा सकती है परन्तु इससे मन वचन काय की प्रवृत्ति के लिए युगपत् प्रयत्न सिद्ध नहीं होता पूर्व प्रयोग से प्रयत्न के बिना भी यदि मन की प्रवृत्ति होती तो है किन्तु वह यहाँ योग नहीं है।

मन वचन योग का जघन्य व उत्कृष्ट काल– मन व वचन योग का जघन्य काल एक समय उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त है।

शंका–जघन्य काल एक समय कैसे?

समाधान–जघन्य काल एक समय - व्याघात से जब कोई जीव मनोयोगी या वचन योगी था उसी समय शरीर में कोई ऐसा धक्का लगा उससे मनोयोग व वचन योगी काय योग में चला जाता है।

मरण में – कोई जीव मनोयोग में अथवा वचन योग में था। एक समय रहा और मरण हो गया। इस प्रकार एक समय प्राप्त होता है।

औदारिक काय योग का जघन्य काल अंतर्मुहूर्त उत्कृष्ट काल 22 हजार वर्ष है जो सरल है।

वैक्रियिक काय योग – इसी प्रकार वैक्रियिक काय योग का जघन्यकाल एक समय उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। एक समय में एक ही योग होता है। क्योंकि एक साथ तीनों अथवा दो योग नहीं होते।

शंका – फिर ऐसा क्यों प्रतीत होता है कि तीनों योग एक साथ होते हैं।

समाधान – भले ही महसूस होता रहे किन्तु आत्मा की प्रवृत्ति एक समय में एक ही योग की प्रवृत्ति होती है।

इस प्रकार योग का कथन किया यद्यपि यहाँ थोड़ा सा क्रम का उलंघन हुआ है क्योंकि पहले गुणस्थान फिर जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक आदि इस प्रकार मार्गणाएँ है किन्तु यहाँ संक्षेप से कहने के कारण क्रम का ध्यान न रखकर मुख्य बिंदुओं पर ही विवेचन किया है।

यहाँ काय मार्गणा के माध्यम से हम जानते हैं कि हम कौनसी काय में है उसे त्यागकर अकाय भी हो सकते हैं।

अत: काय मार्गणा से निगोद से लेकर अकाय तक के जीव का विवेचन किया हैं जिन्हें हर व्यक्ति को जानना आवश्यक ही नहीं अति आवश्यक है इसी प्रकार वेद मार्गणा, कषाय मार्गणा के माध्यम से हम अपनी पहचान कर सकते कि कौन सी कषाय से कौन सी आयु का बन्ध होता है कौन से कर्म की स्थिति अनुभाग कम अधिक पड़ता है जो सुख दुख में कारण है इसका पता हम लगा सकते हैं। कौनसा ज्ञान किस प्रकार होता है उसका लक्षण क्या है कौन से गुणस्थान में कौनसा ज्ञान होता है ये सारी बातें ज्ञान मार्गणा से जान सकते हैं। संयम के प्रकार, संयम के गुणस्थान आदि कौन से संयम में हमारी क्या भाव दशा होना चाहिए कैसा व्यक्तित्व कैसा व्यवहार होना चाहिए ये संयम मार्गणा हमें दिखलाती है। दर्शन मार्गणा के माध्यम से दर्शन का कथन किया है चार प्रकार का दर्शन होता है यहाँ दर्शन से तात्पर्य सम्यग्दर्शन से नहीं है, यहाँ दर्शन का तात्पर्य देखना है, सम्यक्त्व वाले दर्शन का तात्पर्य श्रद्धान है, यहाँ दर्शन चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल दर्शन के भेद से चार प्रकार है। **लेश्या मार्गणा** अत्यंत महत्वपूर्ण विषय है जिसके माध्यम से दूध का दूध पानी का पानी हो जाता है। अगर आपको लेश्या घटित करना आती है तो व्यक्ति के व्यवहार को देखकर ये पता चल जाता है कि वह कौन सी गति का बन्ध करने वाला है, इसका कौन सा गुणस्थान हो सकता है। इस प्रकार लेश्या के माध्यम से हम भावों का पता लगा लेते हैं। लेश्या के लक्षण यहाँ संक्षेप से दिये जाते है लेश्याओं के नाम इस प्रकार है कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल ये लेश्याऐं दो प्रकार की होती हैं द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या, द्रव्य लेश्या बध्यमान शरीर से संबंधित है किंतु भाव लेश्या अन्तरंग परिणाम से संबंध रखती हैं। लेश्या किसे कहते हैं? कषायों से अनुरंजित आत्मा की परिणति को लेश्या कहते हैं। ऐसे परिणाम वाले व्यक्ति किस प्रकार का व्यवहार करने वाले होते है वह बतलाते हैं।

कृष्ण लेश्या – (गाथा 509) तीव्र क्रोधी, वैर को न छोड़ने वाला, गाली देने रुप स्वभाव युक्त, दया धर्म से रहित, दुष्ट और वश में नहीं आने वाला।

नील लेश्या – (गाथा 510 व 511) कार्य करने में मन्द, बुद्धिविहीन, विवेक से रहित, विषय लोलुपता, मायाचारी, आलसी, निद्रा व धोखा देने में अधिक चतुर अभिमानी, अभेद्य अर्थात् भेद को नहीं बताने वाला, धन-धान्य में तीव्र लालसा वाला।

कापोत लेश्या – (गाथा 512-514) रूष्ट होना, निन्दा करना, अन्य को बहुत प्रकार से दोष लगाना, प्रचुर शोक व भय से संयुक्त होना, ईर्ष्या करना, पर का तिरस्कार, हानि-लाभ को नहीं जानता, युद्ध में मरण की प्रार्थना करना, अपनी प्रशंसा व स्तुति करने वालों से संतुष्ट होना व उन्हें पारितोषित देना, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विवेक हीन इन लक्षणों वाला होता है।

पीत लेश्या – तेजो लेश्या वाला जीव कर्तव्य-अकर्तव्य तथा सेव्य-असेव्य का जानकार समस्त जीवों को समान समझने वाला, दया-दान से लवलीन और सरल परिणामी । (गाथा 515)

पद्म लेश्या – पद्मलेश्या में परिणत जीव त्यागी, भद्र सोचवाला, ऋजुकर्मा, भारी अपराध को भी क्षमा करने वाला तथ साधु पूजा व गुरु पुजा में तत्पर रहता है। (गा. 516)

शुक्ल लेश्या – शुक्ल लेश्या के होने पर जीव न पक्षपात करता है और न निदान करता है, यह सब जीवों में समान रहकर रागद्वेष व स्नेह से रहित होता है। (गा. 517)

इस प्रकार लेश्या के आधार से हम पता कर सकते है कि आखिर हमारे अन्दर किस प्रकार के परिणाम है उन परिणाम के आधार से हम धर्मात्मा हैं या अधर्मात्मा हैं इस बात का पता भली प्रकार लगाया जा सकता है। हम सम्यग्दृष्टि हैं अथवा मिथ्यादृष्टि हैं, हम व्रती हैं अथवा अव्रती है भेषधारण करके भी हम उस रूप परिणाम वाले है या नहीं अव्रती मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि तक छहों लेश्या वाला हो सकता है। देश से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक तीन शुभ लेश्याऐं ही होती है अपूर्वकरण से सयोगी तक एक शुक्ल लेश्या होती है तथा अयोगी जिन लेश्या रहित होते हैं। मोटे तौर पर लेश्याओं के माध्यम से पता कर सकते हैं, वर्तमान समय में यदि इस प्रकार के परिणाम हैं तो हमें किस आयु का बन्ध होगा ये हम अच्छी तरह से जान सकते हैं। अत: इस ग्रंथ के माध्यम से भव्यत्व, सम्यक्त्व आदि के बारे में जान सकते हैं, सम्यक्त्व के प्रकार प्राप्ति के कारण, कौन सा जीव कौन सा सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है कौन सा नहीं आदि के माध्यम से सम्यक्त्व रुप परिणाम कैसे होते हैं तथा मिथ्यात्व रुप परिणाम कैसे होते हैं? यह सब हम जीव काण्ड के माध्यम से जान कर हेयोपादेय जानकर कल्याण कर सकते हैं। आगे संज्ञी मार्गणा में कौन सा जीव संज्ञी है कौन सा असंज्ञी हैं मन किसे कहते हैं, मन किसे प्राप्त होता है, मन का कार्य क्या हैं आदि। आहारक अनाहारक जीव कौन से होते हैं उपयोग आदि के माध्यम से यह ग्रंथ हर व्यक्ति के लिए कल्याणकारी है आज वर्तमान में तीर्थंकर केवली नहीं है लेकिन उनकी वाणी आज भी जीवों को जीने का रहस्य बता रही है, सुगति दुर्गति का रहस्य बता रही है स्वर्ग मोक्ष के मार्ग का उद्घाटन कर रही है। अत: हमें अपने परिणामों को जानना है अपने भावों की परछाई देखना है तो जीवकाण्ड ग्रंथ के अन्तर्गत देखें और जाने तथा अपने परिणामों को विशुद्ध करें।

यही मंगल भावना...

भव्य–अभव्य मार्गणा

–मुनि विनतसागर
संघस्थ– उच्चारणाचार्य 108 श्री विनम्रसागर जी महामनुराज

मंगलाचरण

सिद्धं सुद्धं पणमिय जिणिंद वर णेमिचंद मकलंकं।
गुण रयण भूसणुदयं जीवस्स परूवणं वोच्छं।

अर्थ– जो सिद्ध, शुद्ध एवं अकलंक है एवं जो सदा गुणरुपी रत्न के आभूषणों से विभूषित रहते हैं ऐसे श्री जिनेन्द्रवर नेमिचन्द्र स्वामी को नमस्कार करके जीव के प्ररूपणा को कहूँगा।

परम आराध्य सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान करके एवं पंच परमेष्ठी के चरणों में कोटिश: नमन करता हू एवं परम राजहंस आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती महामुनिराज व परम पूज्य सूरिगच्छाचार्य गुरुदेव के चरणों में परोक्ष नमन करता हूँ।

साक्षात् गणधर पीठ पर विराजमान परम श्रद्धेय शब्द शिल्पी उच्चारणाचार्य श्रमणाचार्य श्री 108 विनम्रसागर जी गुरुदेव के युगल चरणों में शत–शत नमन करता हुआ, प्रार्थना करता हूँ।

हे गुरुवर! मुझे साहस व आशीष प्रदान करे क्योंकि आपके चरणों की छत्र–छाया में रहकर जो विषय सीखा व समझा– उसको बोलने व समझाने में सफल हो सकूँ तथा सभा में विराजित मनीषीगण एवं सभी साधर्मी बन्धुओं व प्यारी–2 भव्यात्माओं जैसा कि आप सब को विदित है इस प्रांगण में अखिल भारतीय जैन विद्वत शास्त्री परिषद संस्थान (द्वारा) संगोष्ठी जिसका विषय है ग्रन्थराज गोम्म्टसार जीवकाण्ड इस ग्रन्थराज में 20 प्ररूपणा (बीस अधिकार) पूर्वाचार्यों ने कहे हैं उन 20 प्ररूपणाओं में भव्य व अभव्य प्ररूपणा भी एक अपना स्थान रखती है व संसार परिभ्रमण व (पंच परावर्तन) का भी कथन मिलता है इन दोनों विषयों पर चर्चा करेंगे।

इस आलेख में मुझ अल्पज्ञ के द्वारा कोई त्रुटियां हो जायें व विषयानुकूल न हो तो पूज्य गुरुदेव व सभी साधर्मी बन्धु मुझे दिशा बोध देकर मार्ग दर्शन करे–

भव्य – मार्गणा

भविया सिद्धी जेसिं जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा
तव्विवरीयाऽभव्वा संसारादो ण सिज्झंति।।557।।

भव्य– जिन जीवों की अनंत चतुष्टयरूप सिद्धि होने वाली हो अथवा जो उसकी प्राप्ति के योग्य हो उनको भव्य सिद्धिक कहते हैं।

अभव्य– जिनमें इन दोनों में से कोई भी लक्षण घटित न हो उन जीवों को अभव्य सिद्धिक कहते हैं–जैसे बंध्या स्त्री से कभी भी पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता।

भवितुं योग्या भव्या– जिनमें अनंत चतुष्टय को प्राप्त करने कि योग्यता हो वे भव्य हैं।

भव्य जीव के भेद है–

1. निकट भव्य व आसन्न भव्य– ऐसे भव्य जीव जो कि संख्यात (वर्ष) काल में मोक्ष (चले) जायेंगे।

2. भव्य– कुछ जीव ऐसे भी हैं जो असंख्यात वर्षों में मोक्ष (चले) जायेंगे।

3. दूरभव्य– जो अनन्तकाल में मोक्ष जायेंगे– वे दूर भव्य है

नोट– इसमें मुक्ति प्राप्त करने कि योग्यता तो है पर काल पाकर होगी।

* जैसे बंध्यापने के दोष से रहित स्त्री

* योग्य सामग्री होने पर पुत्र उत्पन्न होगा।

4. दूरान्दुर भव्य – जो मोक्ष जाने की योग्यता तो रखते है पर निमित्त न मिलने से ये कभी भी मोक्ष नहीं जा सकते। (उनको भी भव्य सिद्धक कहते हैं)

* ये जीव भव्य होते हुए भी सदा संसार में ही रहते हैं।

जैसे– विधवा सती (स्त्री) पुत्र उत्पत्ति की योग्यता होने पर भी कभी पुत्र उत्पन्न नहीं कर सकती है।

योग्यता तो है परन्तु उनकी (योग्यता की) अभिव्यक्ति कभी नहीं हो सकती– जिस प्रकार अहमिन्द्र देवों में नरकादि तीनों लोकों के गमन करने की शक्ति हैं परन्तु उस शक्ति की अभिव्यक्ति कभी नहीं होती हैं।

* जैसे कई सुवर्ण सहित पाषाण ऐसे भी होते हैं उनको कभी भी मैल के नाश करने की सामग्री नहीं मिलती।

* भव्य जीव की कुछ और विशेषताएं

अनादि शान्त – जो जीव मोक्ष जा चुके हैं, जिनका भव्यत्व समाप्त हो चुका है–ऐसा जीव अनादि शान्त है।

सादि शान्त– सम्यक्त्व हो जाने पर अन्य ही भव्य भाव उत्पन्न हो जाता है क्योंकि मिथ्यादृष्टि के जो भवितव्यता पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से अनादि अनंत है किन्तु सम्यक्त्व हो जाने पर अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्तन संसार रह जाता है इस प्रकार सादि शान्त भी सिद्ध होता है।

जिज्ञासा – भव्य व अभव्य से रहित कौन से जीव है?

ण य जे भव्वा भव्वा मुक्ति सुहातीदणंत संसारा।
ते जीवा णायव्वा णेव य भव्वा अभव्वा य।।559।।(जीवकाण्ड)

समाधान – जो जीव कुछ भी नवीन ज्ञानादिक अवस्था को प्राप्त होने वाले नहीं इसलिये भव्य भी नहीं है और अनंत चतुष्टय रूप हुये है इसलिये अभव्य भी नहीं है।

* ऐसे मुक्ति सुख के भोक्ता अनंत संसार से रहित हुऐ वे जीव भव्य भी नहीं है। अभव्य भी नहीं है।

जीवत्व पारिणामिक भाव के धारक हैं ऐसे जानो

अथवा

जिनका पंचपरावर्तन रुप संसार व अनंत संसार छूट गया है और इसलिये जो मुक्ति सुख के भोक्ता है उन जीवों को न तो भव्य समझना चाहिये और न अभव्य समझना चाहिये।

* क्योंकि अब उनको कोई नवीन अवस्था प्राप्त करना शेष नहीं रहा है इसलिये वे भव्य भी नहीं है-

* और अनंत चतुष्टय को प्राप्त हो चुके है इसलिये अभव्य भी नहीं है।

जिज्ञासा– भव्य व अभव्य में संख्या कि अपेक्षा कुछ भेद है।

समाधान– अवरो जुत्ताणंतो अभव्वरासिस्स होदि परिमाणं।

तेण विहीणो सव्वो संसारी भव्वरासिस्स।।560।।(गोम्मटसार जीवकाण्ड)

अर्थ – अभव्य राशि का प्रमाण–जघन्य युक्तानन्त प्रमाण है– और सम्पूर्ण संसारी जीव राशि में अभव्य राशि का प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही भव्य राशि का प्रमाण है।

* भव्य राशि बहुत अधिक है और अभव्य राशि से–अनंतगुणी है।

पंच-परावर्तन का स्वरूप

जैसा कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है-

संसारो पंचविहो, दव्वे खेत्ते तहेव काले य।
भव भमणो य चउत्थो पंचमओ भाव संसारो।।66।।

भावार्थ - परिभ्रमण का नाम संसार है, और वह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव की अपेक्षा से पाँच प्रकार का होता है।

एक्कं चयदि सरीरं अण्णं गिण्हेदि णवणवं जीवो।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिण्हदि मुंचदि बहुवारं ।।32।।
एवं जं संसरणं णाणादेहेसु होदि जीवस्स।
सो संसारो भण्णदि मिच्छकसाएहिं जुतस्स।।33।।

जीव एक शरीर को छोड़ता है और दूसरे नये शरीर को ग्रहण करता है। पश्चात् उसे भी छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण करता है। इस प्रकार अनेक बार शरीर को ग्रहण करता है और अनेक बार उसे छोड़ता है। मिथ्यात्व-कषाय वगैरह से युक्त जीव इस प्रकार अनेक शरीरों में जो संसरण (परिभ्रमण) होता है उसे संसार कहते हैं।

* बार-बार जन्म लेने और मरने को संसार कहते हैं अर्थात्

जन्म और मरण के चक्र में पड़कर जीव का भ्रमण करना ही संसार है।

(1) अपने शुद्ध स्वरूप से भली भाँति खिसक जाना (हट जाना) ही संसार है।

(2) एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होना भी संसार है।

(3) जन्म-मरण-प्रारम्भ करके बार-बार पूर्ण करने को परिभ्रमण, परिवर्तन या संसार कहते हैं।

* परावर्तन, परिवर्तन, परिभ्रमण, संसार, संसरण ये सब एकार्थवाची शब्द हैं।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है-

बंधदि मुंचदि जीवों पडिसमयं कम्मपुग्गला विविह।
णोकम्म पुग्गला विय मिच्छत्त कसाय संजत्तो।।67।।

अर्थ - यह जीव इस लोक में भरे हुए अनेक प्रकार के पुद्गल जो ज्ञानावरणादि कर्म रूप तथा औदारिक शरीर आदि नोकर्म रूप हैं उनको प्रति समय-समय पर मिथ्यात्व-कषाय सहित होता हुआ बाँधता व छोड़ता है।

* मिथ्यात्व और कषाय से युक्त संसारी जीव प्रति समय अनेक प्रकार के कर्म पुद्गलों को और नोकर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है और छोड़ता है।

पंचास्तिकाय में आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं–

अत्ता कुणदि सभावं तत्थ गदा पोग्गल मभावेहि।
गच्छंति कम्म भावं अण्णण्णोगाह भवगाढा।।65।।

अर्थ – आत्मा मोह राग–द्वेष रूप अपने भावों को करता है तब वहाँ रहने वाले पुद्गल अपने भावों से जीव में विशिष्ट प्रकार से अन्योन्य अवगाह रूप में प्रविष्ट हुए कर्म भाव को प्राप्त होते हैं।

आत्मा जिस क्षेत्र में जिस काल में अशुद्ध भाव रूप परिणमित होता है उसी क्षेत्रमें स्थित कार्माण वर्गणा रूप पुद्गल स्कंध उसी काल में स्वयं अपने भावों से ही जीव के प्रदेशों में विशेष प्रकार से परस्पर अवगाह रूप से प्रविष्ट हुए कर्मपने को प्राप्त करते हैं।

नोट – वास्तव में कर्म ही इस जीव को औदारिक भावों से संसार परिभ्रमण कराने में निमित्त है। इसलिए परिभ्रमण नाम संसार का है – अनुप्रेक्षाओं में तीसरी भावना संसार भावना है।

पंचस्तिकाय में कहा है–

ओगाढ़ णिचदो पोग्गल काएहिं सव्वदो लोगों।
सुहमेहिं बादरेहिं य रांतारांतेहि विविधेहि।।64।।

अर्थ – लोक सर्वत: विविध प्रकार के अनंतानंत सूक्ष्म तथा बादर पुद्गल स्कन्धों द्वारा विशिष्ट रीति से अवगाहित होकर गाढ़ भरा हुआ है।

* कहने का अभिप्राय (तात्पर्य) यह है कि कर्म योग्य पुद्गल (कार्माण–वर्गणा रूप पुद्गल स्कन्ध) अंजन के बारीक चूर्ण से भरी हुई डिब्बी के न्याय से समस्त लोक में व्याप्त है।

* इसलिए जहाँ आत्मा है वहाँ बिना लाए ही कर्म योग्य पुद्गल स्थित है।

प्रवचनसार में कहा गया है।

ओगाढ णिचिदो पुग्गल कायेहिं सव्वदो लोगों।
सुहु मेहिं बादरेहिं य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं।।168।।

अर्थ – यह लोक सर्वत्र सूक्ष्म तथा बादर और कर्मत्व के अयोग्य तथा योग्य पुद्गल स्कन्धों के द्वारा अवगाहित होकर अत्यन्त गाढ भरा है।

* इस लोक में सर्वत्र जीव हैं और कर्म बंध के योग्य पुद्गल वर्गणा भी सर्वत्र हैं, जीव के जैसे परिणाम होते हैं उसी प्रकार के कर्म बंध जाते है। ऐसा नहीं कि आत्मा किसी बाहर के स्थान से कर्म योग्य पुद्गल लाकर बंध करता है।

कर्म बंध के हेतु किस–किस प्रकार से हैं।

(1) एक परम्परा के अनुसार कषाय और योग ये दो ही बंध के हेतु हैं।

(2) दूसरी परम्परा मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योग ये चार बंध के हेतु हैं।

(3) तीसरी परम्परा उक्त चार हेतुओं में प्रमाद को बढ़ाकर पाँच बंध हेतुओं का वर्णन है।

* इस तरह संख्या और उसके कारण नामों में भेद रहने पर भी तात्त्विक दृष्टि से इन परम्पराओं में कोई भेद नहीं है।

* प्रमाद एक तरह का असंयम ही तो है, अतः यह अविरत या कषाय के अन्तर्गत ही है।

* इसी दृष्टि से कर्म प्रकृति आदि ग्रन्थों में सिर्फ चार बंध के हेतु कहे जाते हैं।

* यदि बारीकी से देखा जाये तो इनमें से कषाय योग प्रधान है।

* मिथ्यात्व और असंयम ये दोनों कषाय के स्वरूप से अलग नहीं पड़ते हैं।

* किन्ही का मत है इनमें मिथ्यात्व और कषाय प्रधान है क्योंकि

मोहनीय कर्म के भेद हैं, सब कर्मों में मोहनीय कर्म ही प्रधान है, और बलवान है, उसके अभाव में शेष सभी कर्म केवल निस्तेज ही नहीं हो जाते किन्तु संसार परिभ्रमण का चक्र ही रुक जाता है।

इसलिए आचार्यों ने मिथ्यात्व और कषाय को ही ग्रहण किया है।

आत्मा में श्रद्धा नाम का गुण है जो कि वह स्व को भी जानता है व पर को भी जानता है।

(लेकिन यह कथन मिथ्यात्व को लेकर किया है।)

श्रद्धा गुण – जो मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यादर्शन रूप होता है जिसका निमित्त कारण दर्शन मोहनीय का उदय है।

* इसके होने पर वस्तु का यथार्थ दर्शन अर्थात् श्रद्धान तो होता ही नहीं। यदि होता भी है तो अयथार्थ होता है। इसके दो भेद हैं।

(1) **नैसर्गिक** – मिथ्यादर्शन जो बिना उपदेश के केवल दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से होता है। इसका चारों गतियों के जीवों में होना संभव है।

(2) **परोपदेश** – जो बाह्य में उपदेश के निमित्त से होता है। यह अधिकतर मनुष्य जाति (गति) में संभव है। वर्तमान में जितने मिथ्या ग्रन्थ प्रचलित हैं ये सब ही इसके परिणाम हैं।

द्रव्यपरिवर्तन के उक्त चार भेदों का इस गाथा में निरूपण किया है –

अगहिदमिस्सं गहिदं मिस्समगहिदं तहेव गहिदं च।
मिस्सं गहिद मगहिदं, गहिदं मिस्सं अगहिदं च।।

अर्थ – पहला – अगृहीत, मिश्र, गृहीत, **दूसरा** – मिश्र, अगृहीत, गृहीत, **तीसरा** – मिश्र, गृहीत, अगृहीत, **चौथा** – गृहीत, मिश्र, अगृहीत

* इस तरह चार प्रकार से पुद्गलों का ग्रहण हो जाने पर जब परिवर्तन के प्रारम्भ के समय में जिनका

ग्रहण किया था उन्हीं पुद्‌गलों का और उसी रूप में ग्रहण होता है तब कर्म द्रव्य परिवर्तन पूरा होता है। नोकर्म-द्रव्य परिवर्तन और कर्म द्रव्य परिवर्तन दोनों के समूह को ही द्रव्य परिवर्तन कहते हैं। और इसमें जितना काल लगता है वही द्रव्य परिवर्तन का काल है। इसका विशेष स्वरूप से आगे कथन करेंगे -

* **द्रव्य परिवर्तन** - जीव का विकारी अवस्था में पुद्‌गलों के साथ जो संबंध होता है उसे द्रव्य परिवर्तन कहते हैं।

इसका दूसरा नाम पुद्‌गल परावर्तन भी है।

* अशुद्ध आत्मा स्वद्रव्य से भिन्न अगृहीत, मिश्र और ग्रहीत ऐसे पुद्‌गल द्रव्यों के ज्ञानावरण आदि कार्माण वर्गणाओं को तथा औदारिक आदि तीन शरीर एवं छह पर्याप्तियों के होने योग्य नोकर्म वर्गणाओं को इसी जीव ने अनंत बार ग्रहण करके छोड़ा है। यह द्रव्य परावर्तन है।

* नोकर्म पुद्‌गल परिवर्तन का पहले समय से लगाया यदि किसी भी जीव ने प्रथम बार समयप्रबद्ध में अगृहीत वर्गणाओं को ग्रहण करें। दूसरी बार अगृहीत ही वर्गणाओं को ग्रहण करे व तीसरी-चौथी-पँचमी आदि बार अगृहीत ही (परमाणुओं) वर्गणाओं को ग्रहण करे। इस प्रकार निरन्तर अनंत बार अगृहीत का ग्रहण हो जाने के पश्चात् एक कोठा पूर्ण होता है-

फिर मिश्र परमाणुओं (वर्गणाओं) को एक बार ग्रहण करता है।

इसी क्रम से ही फिर निरंतर अनंत बार अगृहीत का ही ग्रहण कर चुकने के बाद दूसरी बार मिश्र को ग्रहण करता है।

ऐसे ही अनंत बार अगृहीत को ग्रहण कर तीसरी बार मिश्र को ग्रहण करे। इस प्रकार क्रम चलते-चलते अनंत बार मिश्र वर्गणाओं का ग्रहण हो जाय तब दूसरा कोठा पूर्ण होता है। एक बार गृहीत वर्गणा को ग्रहण करता है।

* इसी क्रमानुसार अनंत बार अगृहीत वर्गणाओं को ग्रहण करें व अनंत बार मिश्र वर्गणाओं के ग्रहण कर चुकने के बाद तब दूसरी बार गृहीत वर्गणाओं को ग्रहण करेगा। इसी क्रमानुसार जब गृहीत वर्गणा में अनंत बार ग्रहण हो जाये तब प्रथम पाया पूर्ण होता है।

(2) यही अभिप्राय सूचित करने के लिए ही प्रथम पंक्ति में पहले तीन कोठों के समान दूसरे भी तीन कोठे दिये हैं अर्थात् इस क्रम से अनंत बार गृहीत का ग्रहण हो चुकने पर नोकर्म पुद्‌गल के चार भेदों में से प्रथम समाप्त होता है।

(2) इसके बाद दूसरे भेद का आरम्भ होता है -

किसी जीव ने यहाँ अनंतबार मिश्र वर्गणाओं को ग्रहण किया - तब एक बार अगृहीत वर्गणा को ग्रहण करता है फिर अनंत बार मिश्र वर्गणाओं का ग्रहण होने पर दूसरी बार अगृहीत वर्गणा को ग्रहण करेगा इस ही क्रम से अनंत बार अगृहीत का ग्रहण होकर तब एक बार गृहीत वर्गणा को ग्रहण करेगा। जिस क्रम से एक बार

गृहीत का ग्रहण किया उस ही क्रम से अनंत बार गृहीत वर्गणाओं का ग्रहण हो जाने पर नोकर्म पुद्गल परिवर्तन का दूसरा भेद समाप्त जानना।

(3) इसके बाद तीसरा भेद का आरम्भ होता है –

किसी भी जीव ने अनंत बार मिश्र वर्गणाओं को ग्रहण किया तब वह एक बार गृहीत वर्गणा को ग्रहण करता है इस क्रम से अनंत बार गृहीत वर्गणाओं का ग्रहण हो चुकने पर अनंत बार मिश्र का ग्रहण होता है तब वह एक बार अगृहीत वर्गणाओं को ग्रहण करता है इस क्रम से जब वह अनंत बार अगृहीत वर्गणाओं को ग्रहण कर लेगा तब नोकर्म पुद्गल परिवर्तन का तीसरा भेद समाप्त होता है।

(4) इसके बाद चौथा भेद का आरम्भ होता है –

इसमें प्रथम ही अनंतबार गृहीत वर्गणनाओं का ग्रहण करके एक बार मिश्र वर्गणा का ग्रहण होता है इस तरह फिर अनंतबार मिश्र वर्गणा का ग्रहण होकर पीछे अनंतबार गृहीत का ग्रहण करके तब एक बार अगृहीत वर्गणाओं का ग्रहण होता है, जिस तरह एक बार अगृहीत वर्गणाओं का ग्रहण किया उसी क्रम से अनंत बार अगृहीत वर्गणा का ग्रहण हो जाये – तब नोकर्म पुद्गल का चौथा भेद समाप्त होता है।

इस चतुर्थ भेद के समाप्त हो चुकने पर नोकर्म पुद्गल परिवर्तन के प्रारम्भ के प्रथम समय में वर्ण गन्ध आदि जिस भाव से युक्त जिस पुद्गल द्रव्य को ग्रहण किया था उस ही भाव से युक्त उस शुद्ध अगृहीत रूप पुद्गल द्रव्य को ग्रहण करता है।

* इसके समुदाय को नोकर्म द्रव्य परिवर्तन कहते हैं तथा इसमें जितना काल लगे उसको नोकर्म द्रव्य परिवर्तन का काल कहते हैं।

इसमें कुछ शर्तें वो इस प्रकार हैं – (1) वो परमाणु सेम टु सेम वो के वो हो वो दूसरे नहीं, (2) क्वांटिटी में भी उतने ही हो, (3) कमती बढ़ती नहीं हो क्वालिटी भी अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्ण के जितने अविभाग प्रतिच्छेद थे उतने के उतने ही अविभाग प्रतिच्छेद वाले नोकर्म परमाणु को जब जीव जितने समय बाद ग्रहण करता है, उतने काल को नोकर्म द्रव्य परावर्तन कहते हैं।

नोट – इसमें क्रम से (कर्म) वर्गणाओं को ग्रहण किया गया है – वही मान्य की जायेगी अक्रम से ग्रहण की गई वर्गणाएँ अमान्य हैं व गिनने में नहीं आयेगी।

जैसे – क्रम से पहले पाये में अग्रहीत वर्गणाओं को अनंत बार ग्रहण होने पर ही एक बार मिश्र वर्गणा को ग्रहण करेगा इस क्रम से मिश्र वर्गणा भीअनंत बार ग्रहण कर ले तब एक बार ग्रहीत वर्गणा को ग्रहण करेगा।

कर्म द्रव्य परावर्तन – इस तरह दूसरा कर्म पुद्गल परिवर्तन भी होता है। विशेषता इतनी ही है कि जिस तरह नोकर्म द्रव्य परिवर्तन में नोकर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है, उसी तरह इसमें कर्म पुद्गलों का ग्रहण होता है – ज्ञानावरणादि अष्टकर्म रूप होने योग्य पुद्गल वर्गणाओं को कर्म वर्गणा कहते हैं।

कर्मों के ग्रहण में त्रिभाग के समय, आयु सहित आठ कर्मों का समय प्रबद्ध ग्रहण हुआ करता है। त्रिभाग के अलावा अन्य काल में आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों के ही योग्य पुद्गल द्रव्य का समय प्रबद्ध में ग्रहण होता है।

किन्तु इस परिवर्तन के सम्बन्ध में आठों कर्मों के योग्य ही समय प्रबद्ध कर्म पुद्गल द्रव्य का ग्रहण करना चाहिए।

* दूसरी बात यह है कि जिस तरह नोकर्म द्रव्य परिवर्तन के वर्णन में गृहीत द्रव्य की निर्जरा दूसरे समय से होनी बताई गई है –

जैसे – नोकर्म वर्गणा की कोई भी आबाधा नहीं है क्योंकि किसी जीव ने प्रथम समय में नोकर्म वर्गणा को ग्रहण किया – द्वितीय समय में उदय में आकर – अकर्मक हो जाती है,

तृतीय समय में उसी वर्गणा को ग्रहण कर सकता है,

अतः वह गृहीत वर्गणा कहलाती है।

वैसा यहाँ नहीं है –

कर्म द्रव्य परिवर्तन में ग्रहीत समय प्रबद्ध रूप द्रव्य कर्म को निर्जरा का प्रारम्भ एक अन्तर्मुहूर्त काल के अनंतर होना कहना और समझना चाहिए क्योंकि कर्मों के ग्रहण के समय से लेकर, एक आवली काल तक उनकी निर्जरा न तो होती है और न हो सकती है।

* कर्म द्रव्य परावर्तन में जघन्य आबाधा अन्तर्मुहूर्त की हुआ करती है।

इन दो बातों को छोड़कर और परिवर्तन के क्रम में कुछ भी विशेषता नहीं है।

* जिस तरह के चार पाये नोकर्म द्रव्य परिवर्तन के होते हैं उसी ही तरह कर्मद्रव्य परिवर्तन में भी चार पाये होते हैं। कुछ शर्तें पूर्व में कहीं (नोकर्म) वो शर्तें द्रव्य कर्म में भी लगा लेना चाहिए नोकर्म पुद्गल परिवर्तन और कर्म पुद्गल परिवर्तन का काल समान है – द्रव्य कर्म परिवर्तन और नोकर्म द्रव्य परिवर्तन दोनों को मिलाकर द्रव्य परिवर्तन या द्रव्य संसार कहते हैं। इस द्रव्य परिवर्तन को पुद्गल परिवर्तन भी कहते हैं।

अर्द्धपुद्गल परावर्तन–एक द्रव्य पुद्गल परावर्तन/पुद्गल परावर्तन के काल के आधे काल को अर्द्धपुद्गल परावर्तन कहते हैं।

* **मुख्य बिन्दु –** अनंत पुद्गल द्रव्य ऐसे भी हैं जिसे जीव ने अभी तक नहीं भोगा है।

* अनंतानंत पुद्गल द्रव्य ऐसे भी हैं जिसे जीव कभी भोग नहीं सकता है।

* कुछ पुद्गल द्रव्य ऐसे भी हैं वो कभी कर्म रूप नहीं हो सकते हैं।

जिज्ञासा – समय प्रबद्ध किसे कहते हैं।

समाधान – समये प्रबध्यत इति समय प्रबद्ध – एक समय में जो बाँधा जाता है वह समय प्रबद्ध है।

* अर्थात् जो समय-समय में कर्म-नोकर्म रूप पुद्गल स्कन्धों का आत्मा के साथ सम्बन्ध किया जाता है वह समय प्रबद्ध है।

* एक समय में जितने कर्म परमाणु अथवा नोकर्म परमाणु बँधे उन सबको समय प्रबद्ध कहते हैं।

यह जीव सिद्धों के अनंतवें भाग तथा अभव्यों से अनंतगुणे कर्म परमाणु को एक समय में ग्रहण करता है तथा योग विशेष की अपेक्षा कम ज्यादा भी करता है परन्तु वे होते सिद्धो के अनंतवें भाग व अभव्यों से अनंत गुणे ही हैं1 गो.क.गा.5

जिज्ञासा – एक समय में जीव कितने कर्म व नोकर्म परमाणु को ग्रहण करता है?

समाधान – यह जीव एक समय में जघन्यपने से अभव्य राशि से अनंत गुणा तथा उत्कृष्टपने से सिद्ध राशि के अनंतवें भाग पुद्गल परमाणुओं का स्कन्ध रूप कर्म वर्गणाओं को तथा नोकर्म वर्गणाओं को ग्रहण करता है तथा इतने ही परमाणु प्रति समय छोड़ता है।

जिज्ञासा – सिद्ध राशि के अनंतवें भाग राशि को उत्कृष्ट कहा तथा अभव्य राशि से अनंत गुण राशि को जघन्य कहा सो कैसे?

समाधान – अभव्य राशि को अनंत से गुणा करने पर जो राशि आती है उससे भी अनन्त गुणी राशि, सिद्ध राशि का अनन्तवाँ भाग होता है। चूँकि सिद्ध राशि अक्षय अनन्त राशि है तथा अभव्य राशि सक्षय अनन्त राशि का भी छोटा भाग है। जो कि जघन्य युक्तानंत प्रमाण है, अत: सक्षय अनन्त राशि को अनन्त से गुणा करने पर जो भी राशि आती है, वह राशि अक्षय अनन्त सिद्ध राशि के अनन्तवें भाग से भी बहुत कम अनन्त भाग रूप आती है।

* सोई धवला 14/330 में निम्न प्रकार से वर्णन हुआ है –

सूत्र – 242 – व 243

(पण्डित द्यानतराय जी रचित-चर्चा शतक-57)

एक समै माहि एक समै परबद्ध बंधै, एक समै एक समै परबद्ध झरै है ।

वर्गणा जघन्य में अभव्यों सौ अनंतगुणी, उत्कृष्ट सिद्ध को अनंत भाग धरै है ।

अर्थ- एक समय में जितने कर्म परमाणु बंधे उतने ही एक समय के कर्म परमाणु झड़ जाते हैं जो जघन्य से अभव्यों से अनंतगुणे व उत्कृष्ट सिद्ध से अनंतवें भाग प्रमाण है।

जिज्ञासा – अक्षय अनन्त किसे कहते हैं? तथा क्या सक्षय अनन्त भी है?

समाधान – नवीन वृद्धि न होने पर भी खर्च करते-करते जिस राशि का अन्त नहीं आवे, उसको अक्षय अनन्त कहते हैं।

* अक्षय अनन्त में से सक्षय अनन्त राशि व्यय कर देने पर भी अक्षय अनन्त की संख्या बची रहती है।

वास्तव में व्यय के अनन्त काल तक भी होते रहने पर भी जो राशि क्षय को प्राप्त न हो उसे (अक्षय) अनंत कहते हैं।

इसको निश्चय अनन्त भी कहते हैं – इसके भी अक्षय अनन्त भेद हैं।

* अनन्त × अनन्त = (अक्षय) अनन्त है।

अनन्त – अनन्त = (अक्षय) अनन्त है।

अनन्त + अनन्त = (अक्षय) अनन्त है।

अनन्त ÷ अनन्त = (अक्षय) अनन्त है।

जो ऐसा कहा है सो अक्षय अनन्त राशि के लिए ही कहा है। **दूसरी राशि सक्षय अनन्त है।**

जिसको औपचारिक अनन्त या व्यवहारिक अनन्त भी कहते हैं। जिस राशि का नवीन वृद्धि न होने पर खर्च करते-करते अन्त आ जावे उसको सक्षय अनन्त राशि कहते हैं।

जिज्ञासा – जिस राशि का अन्त आ जाता है फिर उसको अनन्त क्यों कहा।

समाधान – वास्तव में सक्षय अनन्त राशि असंख्यात सीमा के अन्तर्गत ही है। चूँकि वह राशि अवधिज्ञान का विषय नहीं रही अब वह केवलज्ञान की सीमा में आ गई है। इसलिए उपचार से इसको अनन्त कहा, क्योंकि संख्यात, असंख्यात, अनन्त की सीमा का कारण ज्ञान है।

जावदियं पच्चक्खं जुगवं सुदओहि केवलाण वे।
तावदियं संखेज्जा संखमणंतं कमा जाणो।।52।। त्रिलोकसार

* जितने विषयों को श्रुतज्ञान युगपत् प्रत्यक्ष जानता है उसे संख्यात कहते हैं।

* जितने विषयों को अवधिज्ञान युगपत् प्रत्यक्ष जानता है, उसे असंख्यात कहते हैं तथा

*जितने विषयों को केवलज्ञान युगपत् प्रत्यक्ष जानता है उसे अनन्त कहते हैं।

इस परिभाषा के अनुसार – अर्धपुद्गल परिवर्तन भी अनन्त है क्योंकि वह अवधिज्ञान के विषय से बाहर है, किन्तु वह परमार्थ अनन्त नहीं है क्योंकि अर्धपुद्गल परिवर्तन काल व्यय होते-होते अन्त को प्राप्त हो जाता है अर्थात् समाप्त हो जाता है।

* आय के बिना व्यय होते रहने पर जिस राशि का अन्त न हो वह राशि अक्षय अनन्त कहलाती है।

अथवा

जहाँ तक श्रुतकेवली श्रुतज्ञान द्वारा जान सके वहाँ तक संख्यात की सीमा है। इसके ऊपर अर्थात् उत्कृष्ट संख्यात में एक जोड़ने पर जघन्य असंख्यात को श्रुतकेवली नहीं जान सकते, अतः उसे असंख्यात कह दिया, क्योंकि अब वह अवधिज्ञान का विषय हो गया, श्रुतज्ञान का विषय नहीं रहा। और जहाँ तक

सर्वावधिज्ञानी जान सके वहाँ तक असंख्यात है, यदि उत्कृष्ट असंख्यात में एक जोड़ दिया जावे तो इसको अर्थात् जघन्य अनन्त को सर्वावधिज्ञानी नहीं जान सकते हैं। अब उसको केवलज्ञानी जान सकते हैं, इसलिए उसको अनन्त कह दिया। वास्तव में तो वह असंख्यात ही है।

नोट – अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल यद्यपि अनन्त है तो भी वह सक्षय अनन्त की सीमा में ही आता है क्योंकि उसका अन्त आ जाता है, इसलिए हे भव्य! यदि पाँचों परावर्तन (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव) का काल, अक्षय अनन्त होता तो जीव एक बार भी पंच परावर्तन नहीं कर सकता। (धवल 3/267)

जिज्ञासा – गृहीत, अगृहीत और मिश्र समय प्रबद्ध किसे कहते हैं?

समाधान – पूर्व में ग्रहण किये हुये परमाणु जिस समय प्रबद्ध रूप स्कन्ध में हों उनको गृहीत समय प्रबद्ध कहते हैं और जिस समय प्रबद्ध में ऐसे परमाणु हों कि जिनको जीव ने पहले कभी ग्रहण नहीं किया, उसको अगृहीत समय प्रबद्ध कहते हैं और जिस समयप्रवृद्ध में गृहीत और अगृहीत दोनों प्रकार के परमाणु हों उसको मिश्र समय प्रबद्ध कहते हैं।

क्षेत्र-परावर्तन-2

सो को वि णत्थि देसो, लोयायासस्स णिरवसेसस्स।
जत्थ ण सव्वो जीवो, जादो मरिदो य बहुबारं।।(कार्तिकेयानुप्रेक्षा-68)

समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है जिसमें ये सब ही संसारी जीव अनेक बार उत्पन्न न हुए हों तथा मरे न हों।

निज शुद्धात्मा के जो सहज लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश हैं। उनसे भिन्न लोकरूप क्षेत्र के प्रदेश हैं, उनमें एक-एक प्रदेश को व्याप्त करके जिस प्रदेश में अनन्त बार यह जीव नहीं उत्पन्न हुआ हो, न मरा हो ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है – यह क्षेत्र संसार है।

* यह लोक जगत् श्रेणी का घन रूप है। सात राजू की जगत् श्रेणी है उसका घन 343 घन राजू होता है।
* इन 343 घनराजूओं में सभी जीव अनेक बार जन्म ले चुके हैं और मर चुके हैं। यह क्षेत्र परावर्तन है।
* जीव का विकारी अवस्था में आकाश क्षेत्र के साथ होने वाले सम्बन्ध को क्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

यह क्षेत्र परिवर्तन भी दो प्रकार का है – (1) स्वक्षेत्र परिवर्तन (2) परक्षेत्र परिवर्तन

स्वक्षेत्र परिवर्तन – एक जीव सर्व जघन्य अवगाहनाओं को जितने उसके प्रदेश हैं उतनी बार धारण करके पीछे क्रम से एक-एक प्रदेश अधिक-अधिक की अवगाहनाओं को धारण करते-करते महामत्स्य की उत्कृष्ट अवगाहनापर्यन्त अवगाहनाओं को जितने समय में धारण कर सके उतने काल समुदाय को एक स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

कोई सूक्ष्म निगोदिया जीव जघन्य अवगाहना (घनांगुल के असंख्यातवें भाग) के साथ उत्पन्न हुआ और मर गया पीछे एक एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते सर्वोत्कृष्ट महामत्स्य की अवगाहना को लेकर जन्मा और और मरा ये अवगाहना क्रम से ही प्राप्त करे अक्रम से नहीं यदि अक्रम से जन्मेगा वह गिना नहीं जायेगा। इस प्रकार स्वक्षेत्र परावर्तन पूर्ण होता है।

जिज्ञासा – सर्व जघन्य अवगाहना किस जीव की होती है?

समाधान – ऋजु गति से उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव की उत्पत्ति के तीसरे समय में शरीर की जघन्य अवगाहना होती है।

यह अन्य सर्व अवगाहनों के भेदों में से जघन्य है और इसका प्रमाण घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

जिज्ञासा – ऋजुगति से उत्पन्न होने वाले को ही जघन्य अवगाहना क्यों होती है?

समाधान – जब जीव परभव को गमन करे तब विदिशाओं में गमन करना वर्जित है, चार दिशा व अधो व उर्ध्व दिशा में गमन (करता है) होता है।

(1) ऋजुगति – जहाँ जीव सीधा गमन करे वह ऋजुगति है।

(2) पाणिमुक्ता गति – जिसमें जीव बीच में एक बार (मोड़े ले) व मुड़े-पाणिमुक्ता गति है।

(3) लांगला गति – जिसमें जीव दो बार (मोड़े ले) मुड़े वह लांगला गति है।

(4) गोमूत्रिका गति – जिसमें जीव तीन बार (मोड़े ले) मुड़े वह गोमूत्रिका गति है।

नोट – मुड़ने में जो विग्रह गति है, उसमें योगों की वृद्धि होती है और योगों की वृद्धि होने पर अवगाहना में भी वृद्धि हो जाने का प्रसंग आता है।

इसलिए ऋजुगति से उत्पन्न होने वाले की ही जघन्य अवगाहना होती है।

जिज्ञासा – उत्पन्न होने के तीसरे समय में ही सर्व जघन्य अवगाहना क्यों होती है?

समाधान – उत्पत्ति के प्रथम समय में निगोदिया जीव का शरीर आयत चतुष्क (शरीर लम्बा बहुत और चौड़ा कम) तथा दूसरे समय में सम चतुष्क (लम्बा चौड़ा समान) ऐसा चौकोर होता है तथा तीसरे समय में गोल हो जाने से जघन्य अवगाहना होती है, क्योंकि लम्बा चौकोर और सम चौकोर से गोल (0) क्षेत्रफल में कोण दूर होने के कारण जघन्य अवगाहना होती है।

जिज्ञासा – अवगाहना किसे कहते हैं?

समाधान – आकाश के जितने क्षेत्र को शरीर रोके उसका नाम अवगाहना है।

स्वक्षेत्र परावर्तन को और विशेषता से समझते हैं – कोई सूक्ष्म निगोदिया जीव जघन्य अवगाहना को

लेकर उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। फिर जघन्य अवगाहना के जितने प्रदेश हैं उतनी बार तो अर्थात् असंख्यात बार वह वही जघन्य अवगाहना को धारण करके जन्में। जघन्य अवगाहना के भी असंख्यात प्रदेश हैं। घनांगुल के असंख्यातवें भाग बार तक सूक्ष्म अवगाहना से ही जन्म लेने में असंख्यात जन्म हो जायेंगे।

* उनकी लौकिक गणित से गणना नहीं की जा सकती है। मध्य में अनेक अवगाहना से अनेक बार उत्पन्न होता है उनकी तो गिनती ही नहीं है, पीछे क्रम से एक-एक प्रदेश अधिक की अवगाहनाओं को धारण करते-करते महामत्स्य की उत्कृष्ट (एक हजार योजन प्रमाण) अवगाहना पर्यंत संख्यात घनांगुल प्रमाण; असंख्यात अवगाहनाओं के भेदों को जितने समय अर्थात् काल में, धारण कर सके उतने काल समुदाय को एक स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

बीच में जो क्रम रहित अवगाहना युक्त शरीर धारण करे सो गिनती में नहीं आयेगा। अर्थात् छोटी अवगाहना से लेकर बड़ी अवगाहना पर्यंत सब अवगाहनाओं को क्रम से धारण करने में जितना काल अर्थात् समय लगता है उसको स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

जिज्ञासा – सर्वोत्कृष्ट अवगाहना किस जीव की होती है?

समाधान – स्वयंभूरमण नामक समुद्र के मध्य में होने वाले महामत्स्य की उत्कृष्ट अवगाहना होती है। उसका प्रमाण कितना है उसका प्रमाण इस प्रकार है –

(1000) एक हजार योजन लम्बा, (500) पाँच सौ योजन चौड़ा तथा (250) दो सौ पचास योजन मोटा है।

* अन्यत्र पाये जाने वाले जीव में न होकर, स्वयंभूरमण समुद्र के मध्यवर्ती महामत्स्य में ही संभव है।

जिज्ञासा – महामत्स्य की अवगाहना कितनी घन योजन प्रमाण होती है?

समाधान – 1000x500x250 = 1250 00000, साढ़े बारह करोड़ घन योजन प्रमाण होती है।

अर्थात् – एक योजन लम्बा, एक योजन चौड़ा और एक योजन मोटा ऐसे साढ़े बारह करोड़ घन योजन अवगाहना होती है।

जिज्ञासा – योजन के आगम में कई प्रमाण हैं, यहाँ पर कौन सा योजन ग्रहण किया है?

समाधान – यहाँ योजन का प्रमाण चार कोस (व्यवहार कोस) को लेना क्योंकि शरीर की अवगाहना व्यवहार योजन से ली गई है।

जिज्ञासा – अवगाहना के (और) कितने भेद हैं?

समाधान – गोम्मटसार (जीव काण्ड) – अधिकार – 8 काय मार्गणा से और सविस्तार से समझ सकते हैं।

जिज्ञासा – व्यवहार योजन निकालने की क्या विधि है?

समाधान –

6 अंगुल (व्यवहारांगुल उत्सेधांगुल) = 1 पाद

2 पाद = 1 विलस्त

2 विलस्त = 1 हाथ

4 हाथ = 1 धनुष

2000 धनुष = 1 कोश

4 कोश = 1 योजन (व्यवहार योजन)

परक्षेत्र–परावर्तन

परक्षेत्र परावर्तन – कोई जघन्य अवगाहना का धारक सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोक के अष्ट–मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के अष्ट मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ, पीछे वही जीव उसी रूप से उसी स्थान में दूसरी–तीसरी बार भी उत्पन्न हुआ इसी तरह घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य अवगाहना के जितने प्रदेश हैं उतनी बार उसी स्थान पर क्रम से उत्पन्न हुआ और श्वांस के अठारहवें भाग–प्रमाण क्षुद्र भव को भोग–भोगकर मरण को प्राप्त हुआ।

पीछे एक–एक प्रदेश के अधिक क्रम से जितने काल में सम्पूर्ण लोक को अपना जन्मक्षेत्र बना ले उतने काल समुदाय को एक क्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

सर्वत्र जगत् क्षेत्रे देशों न ह्यात्ति जंतुनाऽक्षुण्णः ।
अवगाहनानि बहुशों बं भ्रमता क्षेत्र संसारे ।।

क्षेत्र संसार में भ्रमण करते हुए, जीव द्वारा जगत् श्रेणी का घन प्रमाण समस्त लोक में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ यह जीव क्रमशः उत्पन्न हुआ न हो।

नोट – क्रम रहित प्रदेशों में जन्म लेना गिनती में नहीं है। क्रम–2 से लोकाकाश के सम्पूर्ण प्रदेशों में जन्म तथा मरण में जितना काल लगे उतने काल समुदाय को एक परक्षेत्र परावर्तन कहते हैं।

भाव पाहुड में कहा गया है–

तेयाला तिण्णिसया रज्जूणं लोयखेत्त परिमाणं।
मुत्तूणट्ठपएसा जत्थ ण ढुरु ढुल्लिओ जीवो।।366।।

यह लोक 343 घनराजू प्रमाण क्षेत्र वाला है। इस समस्त लोक के बीच में गोस्तन के आकार यानी गाय के स्तनों के ढंग के 8 प्रदेश मध्य के बैठते हैं, यानी सर्व युगल दिशाओं से दो प्रदेश बीच में बैठते हैं जो इन प्रदेशों को छोड़कर कोई प्रदेश ऐसा नहीं रहा जिसमें यह जीव अनंत बार नहीं जन्मा, नहीं मरा उन 8 प्रदेशों पर बीच के 8 प्रदेश अवगाहकर उत्पन्न हुए हैं, तो परिवर्तन में अन्य–अन्य प्रदेशों की बात निखर जाती है।

तो यहाँ कहा गया है कि सर्व प्रदेशों में यह जीव अनंत बार जन्म और मरा। उसका कारण यह है कि भावलिङ्ग उत्पन्न न हो सका। भावलिंग में प्रधानता है इस स्थिति की कि जहाँ उपयोग में अधिकार सहज ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व में यह मैं हूँ यह प्रतीति रहे और इस स्थिति की दृढ़ता से अनुभव से समस्त बाह्य पदार्थों का ख्याल दूर हुआ, विकल्प दूर हुआ, ऐसी निर्विकल्प समाधि नहीं प्राप्त की इस जीव ने इस कारण से 343 घनराजू प्रमाण लोक में यह अनंत बार उन प्रदेशों पर जन्म-मरण करता रहा।

* इस जीव ने भावलिङ्ग नहीं पाया इससे अनंत शरीर धारण करता रहा और इस शरीर में बड़ी व्याधियों को सहता रहा।

* एक मनुष्य के शरीर में कितने घनांगुल प्रमाण क्षेत्र हैं?

उदाहरण – एक मनुष्य का शरीर साढ़े तीन हाथ का लीजिए

जैसा कि – आजकल होता है (स्वयं के ही हाथ से)

तो एक हाथ में 24 अंगुल होते हैं। $24 \times 3\frac{1}{2} = 84$ अंगुल हुए यह तो एक ओर की लम्बाई है, और शरीर की चौड़ाई माना कि वह 24 अंगुल है। $84 \times 24 = 2016$ अंगुल हुए और उसकी मोटाई का माप यानी नापी जाये तो माना कि 10 अंगुल भी रखा तो करीब हजारों अंगुल प्रमाण शरीर रहा और एक अंगुल में 96 रोग निकलेंगे – ऐसे करोड़ों रोगों से भरा हुआ यह शरीर है जिस शरीर को हम अनंतबार ढोते फिरे –

* यह जीव स्वभावत: विशुद्ध ज्ञान मात्र परमात्म तत्त्व है। पर अपने आपके स्वरूप को न जानने के कारण निमित्त नैमित्तिक भाववश ये उपद्रव बन गये हैं।

सारांश – इन उपद्रवों से मुक्त होना हो तो आप अपने क्षेत्र (आत्मस्वरूप) में लीन रहे व उसका परिज्ञान करे।

जिज्ञासा – लोक किसे कहते हैं तथा लोक का क्षेत्रफल कितना है?

समाधान – जगत् श्रेणी के घन को लोक कहते हैं, अर्थात् 343 घनराजू प्रमाण लोक का क्षेत्रफल है।

जिज्ञासा – घनराजू किसे कहते हैं?

समाधान – एक राजू लम्बा और एक राजू चौड़ा तथा एक राजू मोटा (ऊँचा) क्षेत्र को घनराजू कहते हैं।

जिज्ञासा – घनफल किसे कहते हैं?

समाधान – जिसमें क्षेत्र की लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई तीनों का प्रमाण सम्मिलित रहता है उसे घनफल कहते हैं।

जिज्ञासा – राजू का प्रमाण कितना है?

समाधान – राजू का प्रमाण कई प्रकार से समझा जा सकता है,

उसे कहते हैं–

(1) सामान्यपने से राजू में असंख्यात योजन होते हैं।

(2) विशेषपने से राजू के असंख्यातवें भाग में असंख्यात योजन होते हैं।

(3) असंख्यात योजन वाले असंख्यात द्वीप स्थित हैं और असंख्यात योजन वाले असंख्यात समुद्र स्थित हैं।

राजू को और समझायें -

आगम में व्यवहार पल्य के रोमों की संख्या में पैंतालीस अंक प्रमाण बताई है जो निम्न है

4134526303, 0820317, 7749512, 1920.000,10000000,0000000 है। इन 45 अंक प्रमाण रोमों को एक-एक कर बिखेरना अर्थात् विरलन करना

फिर प्रत्येक रोम पर असंख्यात करोड़ वर्ष के समयों की राशि धरना। फिर इन सब समयों को एकत्र करना।

अब यह एकत्रित की हुई राशि एक बहुत बड़ी राशि हुई अब इन्हीं समय राशियों में से कल्पना करो - प्रथम ही कोई देव पहले समय में एक लाख योजन चले, दूसरे समय में दो लाख योजन चले तीसरे में चार लाख योजन चले - इसी तरह समय-समय प्रति दूना-दूना चले।

ऐसी चाल चलते-चलते जब यह समयों की बड़ी राशि पूर्ण हो जाये तब राजू की एक मंजिल पूरी होती है।

ऐसी पच्चीस कोड़ाकोड़ी (25 0000000.0000000) मंजिल पूरी करे इससे दूना राजू का प्रमाण होता है।

संक्षेप से राजू का प्रमाण इस प्रकार है 25 कोडा कोडी उद्धार पल्यों में जितने समय है उतने समय तक कोई देव एक समय में एक लाख योजन चले द्वितीय समय में दो लाख तृतीय समय में चार लाख योजन इस प्रकार दूना दूना चलकर उपर्युक्त समयों में दूरी तय करें उतना आधा राजू होता है। इसे दूना करने पर राजू होता है।

जिज्ञासा - पच्चीस कोड़ाकोड़ी मंजिल का आधा राजू कहा सो उससे दूना पूरा राजू होता है तो पचास कोड़ाकोड़ी मंजिल का पूरा राजू क्यों नहीं कहा?

समाधान - नहीं कहा क्या क्योंकि प्रति समय दूना दूना चलता है 25 कोडा कोडी उद्धार पल्य के द्विचरम समय 1/4 राजू चला था चरम समय में 1/2 राजू चला अब 25 कोडा कोडी उद्धार पल्य+1 समय में ही एक राजू एक समय अधिक में ही हो जाता किन्तु 25 कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्यों के समय प्रमाण सर्वद्वीप समुद्र हैं। वे द्वीप समुद्र समस्त दिशागत आधे राजू में हैं इसलिए प्रथम आधे राजू का प्रमाण कहा।

* पूर्व-पश्चिम दिशागत सब असंख्यात द्वीप समुद्र का व्यास राजू का प्रमाण होता है। इस ही राजू से 343 (तीन सौ तैंतालीस) राजू का प्रमाण लोक का घनाकार है।

जिज्ञासा – जगत् श्रेणी किसे कहते हैं?

समाधान – सात राजू लम्बे एक प्रदेश चौड़े क्षेत्र को जगत् श्रेणी कहते हैं।

विशेषता से और समझें – इसकी उत्पत्ति इस तरह है कि अद्धापल्य के अर्द्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग प्रमाण राशि का विरलन (बिखेरना) कर प्रत्येक एक के ऊपर घनांगुल रखकर, समस्त घनांगुलों का परस्पर गुणा करने से जो राशि उत्पन्न हुई हो उसे जगत् श्रेणी कहते हैं।

* अद्धापल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण घनांगुलों को परस्पर गुणा करने से जगत् श्रेणी का प्रमाण आता है।

नोट – शास्त्रों में सेढी या श्रेणी शब्द आवे तो वहाँ उस शब्द का अर्थ जगत् श्रेणी लेना चाहिए।

* जगत् श्रेणी के वर्ग को जगत् प्रतर कहते हैं। 7 राजू × 7 राजू = 49 प्रतर राजू क्षेत्र अर्थात् जगत् श्रेणी × जगत् श्रेणी = जगत् प्रतर

* जगत् प्रतर को जगत् श्रेणी से गुणा करने पर 49 राजू×7= 343 घनराजू प्रमाण लोक प्राप्त होता है।

* लोक में असंख्यात तो जगत् प्रतर होते हैं। एक जगत् प्रतर के असंख्यातवें भाग में असंख्यात जगत् श्रेणियाँ होती हैं, जगत् श्रेणी के असंख्यातवें भाग में असंख्यात घनांगुल होते हैं, घनांगुल के असंख्यातवें भाग में असंख्यात प्रतरांगुल होते हैं। प्रतरांगुल के असंख्यातवें भाग में असंख्यात सूच्यांगुल होते हैं। सूच्यांगुल के असंख्यातवें भाग में असंख्यात कल्पकाल होते हैं। एक कल्पकाल में बीस कोड़ाकोड़ी सागर होते हैं। एक सागर में दस कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य होते हैं। पल्य के असंख्यातवें भाग में असंख्यात कोटि पूर्व वर्ष होते हैं। एक पूर्व में सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्ष होते हैं। एक वर्ष में 360 दिन होते हैं। एक दिन में 24 घण्टे, एक घण्टे में 60 मिनट, एक मिनट 60 सैकेण्ड, 1 सैकेण्ड में असंख्यात आवलियाँ, एक आवलि में जघन्य युक्तासंख्यात समय होते हैं।

अथवा एक सैकेण्ड में सौ करोड़ नैनो सैकेण्ड, एक नैनो सैकेण्ड में एक हजार पीको सैकेण्ड और एक पीको सैकेण्ड में असंख्यात समय होते हैं। इस प्रकार सबको आपस में गुणा करने पर जो संख्या आती है उतने प्रदेश एक लोकाकाश में होते हैं। इनके प्रत्येक प्रदेश पर यह जीव क्रम से अनंत बार जन्मा है (मरण भी किया)

* इस प्रकार लोकाकाश के प्रदेशों का प्रमाण बतलाया। किसी जीव को सम्पूर्ण प्रदेशों में जन्म-मरण होने में जितना काल लगे उतने काल समुदाय को परक्षेत्र परावर्तन कहते हैं।

* स्वक्षेत्र और परक्षेत्र परावर्तन के काल जोड़ को एक क्षेत्र परावर्तन काल समझना चाहिए।

काल–परावर्तन

स्व शुद्धात्मा के अनुभव रूप निर्विकल्प समाधि के काल को छोड़कर (प्राप्त न करके) दस कोड़कोड़ी सागर प्रमाण उत्सर्पिणी काल और दस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण अवसर्पिणी काल के एक-एक समय में, अनेक परावर्तन करके यह जीव अनंत बार जन्मा और मरा न हो – ऐसा कोई समय नहीं।

अब काल परिवर्तन का कथन करते हैं – कोई जीव उत्सर्पिणी के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ और आयु के समाप्त हो जाने पर मर गया पुनः वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु के समाप्त होने पर मर गया।

पुनः वही जीव तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार इसने क्रम से उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी प्रकार अवसर्पिणी भी। यह जन्म का नैरन्तर्य काल तथा इसी प्रकार मरण का भी नैरन्तर्य लेना चाहिए।

इस प्रकार यह सब मिलकर एक काल परिवर्तन है कहा भी है।

काल संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सब समयों में अनेक बार जन्मा और मरा।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा – गाथा – 69

उवसप्पिणि अवसप्पिणि पढ़ समयादि चरम समयंतं।
जीवो कमेण जम्मदि मरदि य सव्वेसु कालेसु।। (गाथा – 69)

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के पहले समय से लगाकर अन्त के समय तक यह जीव अनुक्रम से सब ही कालों में उत्पन्न होता है तथा मरता है।

* उत्सर्पिणी के दस कोड़ाकोड़ी सागर व अवसर्पिणी के भी दस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण, इस प्रकार बीस कोड़ाकोड़ी सागर के समयों को क्रमपूर्वक जन्म ले लेकर पूर्ण करे तथा इसी प्रकार क्रमपूर्वक मरण कर-करके पूर्ण करे अर्थात् पहले समय में मरे दूसरे समय में मरे – ऐसे कल्पकाल के समयों को पूर्ण करे।

* बीच-बीच में अन्य समयों में बिना अनुक्रम के जन्म व मरण पावे सो वह गिनती में नहीं है।

* ऐसा करने में जितना काल व्यतीत हो उतने काल समुदाय को एक काल परावर्तन कहते हैं।

इस तरह यह अनन्तकाल होता है इसमें जीव को असंख्यात कल्पकाल कम से कम लग जाते हैं, उत्कृष्ट से अनंतकाल भी लग सकते हैं या लग भी जाते हैं किन्तु यह बात काल्पनिक नहीं, सत्य है। अनादिकाल बहुत लम्बा है कहा भी है-

उवसप्पणि अवसप्पिणि समयावलि या सुणिंखसे सासु।।
जादो मरिदो य बहुसो हिडंतो काल संसारे।।

काल संसार में भ्रमण करता हुआ यह जीव, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में अनेक बार जन्मा और मरा।

जिज्ञासा – क्रम से जन्म लेने में एक समय के बाद दूसरे समय में कितनी उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी निकल जाती है।

समाधान – कम से कम असंख्यात, अधिक से अधिक अनंत उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी निकल जाती है। व निकल सकती है।

* कभी ऐसा भी तो हो सकता है कि असंख्यात उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी के बाद भी नम्बर नहीं आवे।

जिज्ञासा – किस प्रकार का समय लेकर चले ताकि यह काल पूर्ण कर सकें।

समाधान – वो ही समझने का प्रयास करते हैं–

एक कल्प काल में – 20 कोड़ा–कोड़ी सागर होते हैं।

एक सागर में – 10 कोड़ा–कोड़ी अद्धापल्य होते हैं।

पल्य के असंख्यातवें भाग में – असंख्यात कोटि पूर्व वर्ष होते हैं तो सम्पूर्ण पल्य में भी असंख्यात पूर्व होते है।

एक पूर्व कोटि में – (70560000000000000000 सात लाख पाँच हजार छह सौ कोड़ा कोड़ी अथवा सात हजार छप्पन शंख

एक वर्ष में – तीन सौ साठ दिन होते हैं। (360)

एक दिन में – 24 घण्टे होते हैं।

एक घण्टे में – 60 (साठ) मिनिट होते हैं।

एक सैकेण्ड में – संख्यात आवलियाँ होती हैं।

एक आवली में – जघन्य युक्तासंख्यात समय होते हैं।

इस प्रकार एक आवली में उक्त संख्या प्रमाण समय होते हैं तो बीस कोडा कोडी सागर में असंख्यातासंख्यात समय होते हैं उन समयों में क्रम से जन्म व मरण करे। जब वह बीस कोड़ा–कोड़ी सागर के सभी समयों को पूर्ण कर लेगा तब एक काल परावर्तन होता है।

जिज्ञासा – बीस कोड़ा–कोड़ी सागर किसे कहते हैं।

समाधान – एक करोड़ संख्या को एक करोड़ संख्या से गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त हो उसको एक कोड़ा–कोड़ी कहते है – वह संख्या निम्न प्रकार है– 10000000 × 10000000 = 10000000 0000000 = (सौ लाख करोड़) ।

* (सौ लाख करोड़ अथवा एक कोड़ा–कोड़ी) इस प्रकार

(1) एक करोड़ सागर को एक करोड़ से गुणा करने पर = एक कोड़ा–कोड़ी सागरों की संख्या आती है।

दस करोड़ सागरों को एक करोड़ से गुणा करने पर दस कोड़ा–कोड़ी सागर आता है – इसी प्रकार

बीस करोड़ सागर का एक करोड़ से गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त होती है उसको बीस कोड़ा–कोड़ी सागर कहते हैं।

जिज्ञासा – सागर किसे कहते हैं।

समाधान – दस कोड़ा–कोड़ी पल्यों का एक सागर होता है –

10.0000000 × 10000000 = इतने पल्यों का एक सागर

10^{14} = एक सागर होता है। यानि दस लिखकर आगे चौदह शून्य रखें।

अथवा

एक करोड़ पल्य एक जगह,एक करोड़ पल्य दूसरी जगह, एक करोड़ पल्य तीसरी जगह इस प्रकार एक-एक करोड़ पल्य दस करोड़ जगह रखकर फिर उनको इकट्ठा करने पर, एक सागर के पल्यों की संख्या (दस कोड़ा-कोड़ी) आती है।

जिज्ञासा – पल्य किसे कहते हैं?

समाधान– प्रथम तो यह समझना चाहिए कि पल्य व पल्योपम में कोई अंतर नहीं है यह तीन प्रकार के होते हैं – (1) व्यवहार पल्य (2) उद्धार पल्य (3) अद्धापल्य

*** व्यवहार पल्य** – एक योजन लम्बा, एक योजन चौड़ा व एक योजन गहरा एक गड्ढा खोदा जाये फिर उसमें 7 दिन के जन्में उत्तम भोग भूमि के मेढे के बाल को इतने बारीक किये जाये जिसका कि दूसरा भाग न हो सके उन बालों से वह गड्ढा भरा जाये – फिर (100) सौ वर्ष बाद एक-एक बाल निकाला जाये जितने समय में वह गड्ढा खाली हो जाये वह व्यवहार पल्य है। रोम की संख्या 45 अंकप्रमाण है उसमें सौ (45 × 100) वर्ष के समय समूह से गुणा करने पर व्यवहार पल्य के समयों का प्रमाण प्राप्त होता है।

व्यवहार पल्य × असंख्यात करोड़ वर्ष = उद्धार पल्य प्राप्त होता है।

*** जिज्ञासा** – सागर के माप में कौनसा पल्य है?

जिस पल्य का प्रयोग होगा वही सागर प्राप्त होगा जैसे व्यवहार पल्य = व्यवहार सागर, उद्धार पल्य = उद्धार सागर अद्धापल्य = अद्धासागर किन्तु यहाँ पर अद्धा सागर से प्रयोजन है।

जिज्ञासा – पल्य (अद्धापल्य) के वर्षों को अंकों अथवा शब्दों में किस प्रकार लिखे?

समाधान – पल्य के वर्षों को अंकों अथवा शब्दों में नहीं लिखा जा सकता क्योंकि पल्य में असंख्यात वर्ष होते हैं।

जिज्ञासा – पल्य और पल्योपम में से कौन सही है?

समाधान – दोनों ही सही है। एक ही बात है विशेषपने से देखा जाय तो शुद्ध शब्द पल्योपम है न कि पल्य क्योंकि पल्य गड्ढे को कहते हैं, पल्योपम के लिए पल्य की उपमा दी है। चूँकि उपमामान में पल्य आता है अत: पल्योपम सही है। तत्त्वार्थ सूत्र में पल्योपम शब्द ही प्रयोग किया है हिन्दी में पल्य भी चलता है।

जिज्ञासा – उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी किसे कहते हैं?

समाधान – उत्सर्पिणी काल में – मनुष्य, तिर्यञ्च, पक्षी आदि जीवों की क्रमशः आयु, शरीर की ऊँचाई, बल, भोगोपभोग, सुख सामग्री आदि की वृद्धि होती है।

अवसर्पिणी काल में – मनुष्य तिर्यंञ्चादि की हानि (घटना) होती है।

जैसे – जिस प्रकार चन्द्रमा की कलाएँ शुक्ल पक्ष में क्रम से बढ़ती है और कृष्णपक्ष में घटती है उसी प्रकार वैसे ही दशा इन दोनों कालों (उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी) की जानना चाहिए।

* जिस प्रकार शुक्ल पक्ष के बाद कृष्ण पक्ष, और कृष्ण पक्ष के बाद शुक्ल पक्ष आता है, उसी प्रकार उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी व अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी काल आता है।

* कल्पकाल का प्रारम्भ – उत्सर्पिणी से होता है और अवसर्पिणी के अन्त में अन्त होता है।

जैसा कि कहा गया है भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट् समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् – (तत्त्वार्थ सूत्र 3/27)

उत्सर्पिणी रूप अवसर्पिणी रूप छह कालों में भरत और ऐरावत क्षेत्रों के मनुष्य की आयु, काय, भोगोपभोग, सम्पदा, वीर्य, बुद्धि आदि का बढ़ना और घटना (वृद्धि–ह्रासौ) होता है।

जिज्ञासा – प्रलयकाल उत्सर्पिणी के अन्त में होता है कि अवसर्पिणी के अन्त में?

समाधान – कल्पकाल के अन्त में अर्थात् अवसर्पिणी के अन्त में होता है न कि उत्सर्पिणी के अन्त में

* प्रलय मात्र पाँच भरत, पाँच ऐरावत क्षेत्रों के आर्यखण्डों में ही होती है।

जिज्ञासा – यह तो समझ में आई कि प्रलय मात्र पाँच भरत पाँच ऐरावत के मात्र आर्यखण्डों में कल्पकाल के अन्त में ही होती है – लेकिन छठा काल 21 हजार वर्ष का है – सौ क्या इक्कीस हजार वर्ष बीतने पर होती है अथवा पहले?

समाधान – छठे काल में जब 49 दिन शेष रह जाते हैं तब अर्थात् जेठ बदी 12 (बारस) से प्रलय होनी शुरू हो जाती है और अषाढ़ सुदी पूर्णिमा तक होती है। इन दिनों में विषादि सात प्रकार की कुवृष्टि (अशुभ) वृष्टि होती है।

जिज्ञासा – कल्प का प्रारम्भ किस तिथि से होता है?

समाधान – श्रावण बदी एकम से 49 दिन तक अच्छी वर्षा होती है अर्थात् भादवा सुदी चतुर्थी तक अच्छी वर्षा होती है और तभी भादव सुदी पंचमी से दशलक्षण पर्व प्रारम्भ (शुरू) हो जाते हैं।

जिज्ञासा – काल परावर्तन में कल्पकाल के बीस (20) कोड़ाकोड़ी सागरोपम् काल के प्रत्येक समय में जन्मना और मरना बताया है – सो समय किसे कहते हैं? उसका भी तो बोध कराइये।

समाधान– काल की सबसे छोटी इकाई को समय कहते हैं।

* एक परमाणु को अत्यन्त मंद गति से आकाश के एक प्रदेश से अपने निकटवर्ती दूसरे आकाश प्रदेश में जाने में जितना काल लगता है उसे समय कहते हैं।

* यदि परमाणु तीव्र गति से गमन करे तो एक समय में चौदह राजू गमन कर सकता है।

उदाहरण – कोई व्यक्ति सोनागिर से शिखर जी 60 दिन (धीमी गति चाल से व पैदल चलने) में जाता है वही व्यक्ति विद्या के प्रभाव से शीघ्र गति के द्वारा 60 मिनिट में क्या 60 सैकेण्ड में पहुँच जायेगा।

अत: काल की सबसे छोटी मर्यादा समय बाँध दी गई।

* सम्पूर्ण द्रव्यों की पर्याय की जघन्य स्थिति एक क्षण मात्र होती है। इसी को समय कहते हैं।

सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से पर्याय का काल एक समय मात्र ही है (द्रव्यसंग्रह गाथा 22 की टीका)

ऐसे असंख्यात समयों की एक आवली होती है। अथवा

जघन्ययुक्तासंख्यात समय एक आवली में होते हैं।

जघन्य युक्तासंख्यात–जघन्य परितासंख्यात का विरलन देय करके आता है।

नोट – जघन्य युक्तासंख्यात समय में जितने समय है उन प्रत्येक समय में क्रमानुसार जन्म लें व जब तक बीस कोड़ा–कोड़ी सागर के सभी समयों को पूर्ण न कर ले इसी प्रकार जघन्य युक्तासंख्यात समय से लेकर बीस कोड़ा–कोड़ी सागर के समयों में क्रमानुसार मरण करें – तब कहीं जाकर एक काल परावर्तन होता है।

भव परावर्तन–4

अभेद रत्नत्रयात्मक समाधि के बल से, सिद्धगति में निजात्मा की उपलब्धि जिसका लक्षण है –

ऐसी सिद्ध पर्याय रूप जो उत्पाद उसे छोड़कर नरक, तिर्यंच और मनुष्य भव में तथा देव के भवों में निश्चय रत्नत्रय की भावना से रहित भोगाकांक्षा, निदानपूर्वक द्रव्य तपश्चरण रूप जिनदीक्षा के बल से नवग्रैवेयक तक, भवनाशक निज शुद्धात्म भावना से रहित वर्तते हुए भव उत्पीदक् मिथ्यात्व रागादि भावना सहित वर्तते हुए – इस जीव ने अनंत बार जन्म–मरण किया।

* अपने शुद्धात्मा की भावना ही भव का नाश करने वाली है तथा उस भावना से रहित होकर मिथ्यात्व, रागद्वेष आदि भाव करके मनुष्य तिर्यंच आदि के भव अनंत बार धारण किये।

इसलिए भव के अभाव के लिए निज शुद्धात्मा की भावना करना योग्य है।

णेरइयादि–गदीणं, अवर–ट्ठिदिदो वर–ट्ठिदी जाव।

सव्व ट्ठिदिसु वि जम्मदि जीवा गेवेज्ज–पज्जंतं।।कार्तिकेयानुप्रेक्षा/70

संसारी जीव नरकादि चार गतियों की जघन्य स्थिति से लगाकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यंत तक सब अवस्थाओं में ग्रैवेयक पर्यंत जन्म पाता है।

नरक गति – कोई जीव दस हजार वर्ष के जितने समय हैं उतनी बार जघन्य दस हजार वर्ष की आयु से प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ पीछे एक एक समय के अधिक क्रम से नरक संबंधी तैंतीस सागर की आयु को क्रम से पूर्ण करे।

जिज्ञासा – दस हजार वर्ष में कितने समय होते हैं?

समाधान – असंख्यात

घण्टे में असंख्यात समय होते हैं।

देवगति – कोई जीव दस हजार वर्ष के जितने समय है उतनी बार जघन्य दस हजार वर्ष की आयु से देवगति में उत्पन्न होकर पीछे-पीछे एक-एक समय के अधिक क्रम से इकतीस सागर की उत्कृष्ट आयु को पूर्ण करता है।

जिज्ञासा – देव गति संबंधी उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागर की है परन्तु यहाँ पर इकतीस सागर की क्यों ग्रहण की?

समाधान – क्योंकि मिथ्यादृष्टि देव की उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर तक ही होती है।

नोट – और इन परिवर्तनों का निरूपण मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से ही है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि संसार में अल्पसमय तक ही रहता है।

* देवगति के भव परावर्तन को पूरा करने में प्रत्येक आयु को धारण कर चुकता है, अर्थात् जैसे – दस हजार और एक समय की आयु प्राप्त की। इसी प्रकार दस हजार + दो समय की आयु प्राप्त की इसी प्रकार इकतीस सागर (आयु) पर्यन्त जितने भी भेद बनते हैं उन सब भेदों को प्राप्त किया। इस प्रकार नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति में भी लगाना।

तिर्यंच गति – फिर वहाँ (नरक) से निकलकर उसी तरह तिर्यंच गति की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त, उसके जितने समय हैं, उतनी बार जघन्य आयु का धारण होवे। बाद में एक-एक समय अधिक क्रम से तीन पल्य की उत्कृष्ट आयु पूर्ण करे।

नोट – बीच में घट-बढ़ लेकर जन्म पावे वह गिनती में नहीं तथा अन्य गतियों में गया वह भव भी गिनती में नहीं।

* इस प्रकार तीन पल्य की सभी स्थितियों (आयु) को पूर्ण करे तब एक तिर्यंच गति का भव परिवर्तन पूर्ण होता है।

नोट – तिर्यंच गति में श्वांस के अठारहवें भाग रूप असंख्यात बार क्षुद्र भवों को ग्रहण करता हुआ, क्रम से उत्तम भोग भूमि के तीन पल्यों की स्थिति को पूर्ण करे।

मनुष्य गति – तिर्यंच गति की ही तरह मनुष्य गति में भी अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु क्षुद्रभव से लेकर तीन पल्य की उत्कृष्ट आयु तक क्रमपूर्वक एक-एक समय बढ़ता हुआ पूर्ण करे। क्रम रहित भव गिनती में नहीं है।

जिज्ञासा – ग्रैवेयक के आगे अनुदिश और अनुत्तर विमानों को क्यों नहीं कहा?

समाधान – ग्रैवेयक के आगे अनुदिश और अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले एक दो भव लेकर मोक्ष चले जाते हैं। एवं वे सम्यक्त्व से च्युत भी नहीं होते हैं। (इसलिए इनको यहाँ नहीं लिया)

जिज्ञासा – नव ग्रैवेयक से ऊपर नव अनुदिश विजयादिक चार विमानों के देव दो भव लेकर मोक्ष चले जाते हैं इसका आगम प्रमाण क्या है?

समाधान – विजयादिषु द्विचरमा: 4-26 (तत्त्वार्थ सूत्र)

विजयादिक चार विमानों के देव द्विचरम होते हैं। मनुष्य के दो जन्म लेकर मोक्षगामी होते हैं।

जिज्ञासा – भव परावर्तन में भ्रमण करते हुए जीव ने क्या ऐसे भी पद हैं जिनको प्राप्त नहीं किया?

समाधान – प्रथम स्वर्ग का इन्द्र, उसकी शची इन्द्राणी, उसके ही लोकपाल दक्षिण दिशा के इन्द्र लोकान्तिक देव, सर्वार्थसिद्धि के देव ये सब स्वर्ग से च्युत होकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

* उनको इस जीव ने प्राप्त नहीं किया। क्योंकि ये सब एक भवावतारी होते हैं।

* ऐसा चर्चाशतक कवित्त – 88 के अंश में कहा गया है।

दवखेन्द्र सुधर्मरानी लोकपाल लौकांतिक।

सर्वार्थ सिद्धि मोख लहै नमोकार है।।

स्वर्गों के आठ युगल हैं उनमें बारह इन्द्र हैं। इन बारह इन्द्रों में छह उत्तर के हैं और छह दक्षिण के हैं। दक्षिण के छह इन्द्र सौधर्म स्वर्ग की इन्द्राणी, सौधर्म के चारों लोकपाल (सोम, यम, वरुण, कुबेर), लोकांतिक देव और सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग के सब अहमिन्द्र – ये मोक्ष को प्राप्त होते हैं। केवल एक ही भवधारण कर मुक्त हो जाते हैं। इसलिए इन सबको मेरा नमस्कार है, (त्रिलोकसागर, त्रिलोक प्रज्ञप्ति में भी ऐसा ही आया है)

* भव परावर्तन का वर्णन अन्य ग्रन्थों में भी आया है।

जैसे – राजवार्तिक में भव निमित्त संसार बत्तीस (32) प्रकार का बताया है

पृथ्वीकायिक = 4	पर्याप्त	अपर्याप्त	सूक्ष्म	बादर
जलकायिक = 4	पर्याप्त	अपर्याप्त	सूक्ष्म	बादर
तेजकायिक = 4	पर्याप्त	अपर्याप्त	सूक्ष्म	बादर
वायुकायिक = 4	पर्याप्त	अपर्याप्त	सूक्ष्म	बादर
प्रत्येक वनस्पति = 2				
निगोद साधारण = 4	पर्याप्त	अपर्याप्त	सूक्ष्म	बादर
दो इन्द्रिय = 2	पर्याप्त	अपर्याप्त	सूक्ष्म	बादर

तीन इन्द्रिय = 2	पर्याप्त	अपर्याप्त	सूक्ष्म	बादर
चतुरिन्द्रिय = 2	पर्याप्त	अपर्याप्त	सूक्ष्म	बादर
असैनी पंचेन्द्रिय = 2	पर्याप्त	अपर्याप्त	सूक्ष्म	बादर
सैनी पंचेन्द्रिय = 2	पर्याप्त	अपर्याप्त	सूक्ष्म	बादर

कुल 32 भेद हैं (जैन सिद्धांत कोष प्रथम संस्करण भाग- 4/146

नोट – जैसे जीव पृथ्वीकायिक का प्रथम भव प्राप्त कर मरा – फिर अप (जल) तेज, वायु, वनस्पति, बेइन्द्री, तेइन्द्री, चौइन्द्री असैनी-सैनी, पंचेन्द्री, देव, मनुष्य, तिर्यंच नारकी विषें उपजा – मरा सो भव गिनती में नहीं आवे।

* ऐसे भ्रमते-भ्रमते अनंतकाल में पृथ्वी का ही भव पुन: पावे तब दो भव होय। पीछे मरकर सो चार गति में भ्रमण कर अनंतकाल बाद पृथ्वी कायिक का ही भव पावे, तब तीन भव होते हैं।

इस प्रकार भ्रमण करते हुए एक भव का निमित्त अनंतकाल में मिले सो ऐसा (करि) असंख्यात भव पृथ्वी कायिक के करे

इसी प्रकार अनुक्रम लिए असंख्यात भव – अपकायिक के करे

– तेजकायिक के करे

– वायुकायिक करे

– प्रत्येक वनस्पति

इसी प्रकार – निगोद साधारण, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असैनी पंचेन्द्रिय, सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंच के भाव अनुक्रम से करे।

असंख्यात भव अनुक्रम करते-करते पुण्य भोगते देव होय –

पीछे मनुष्य, तिर्यंच, नारकी होय सो नहीं गिना जायेगा – जब पुण्य भोगते देव हुआ तब दूसरा भव होगा सो ऐसे करते देव के असंख्यात भव

* इसी प्रकार इसी क्रमानुसार मनुष्य के असंख्यात भव करे,

* इसी प्रकार इसी क्रमानुसार नारकी के असंख्यात भव करे,

ऐसे अनुक्रम लिए चार गति सम्बन्धी सर्व भव (धारण) करे सो इनको पूरा करने में जितना काल लगे सो भव परावर्तन है।

* भव परिवर्तन में प्रधानता आयु की रहती है। जैसे पुद्गल परावर्तन में पौद्गलिक पदार्थों की प्रधानता थी। क्षेत्र परावर्तन में प्रधानता आकाश के प्रदेशों की थी। तथा काल में काल समयों की थी। वैसे ही यहाँ पर भव में आयु की प्रधानता होती है।

* यह जीव मिच्छत संसिदेणदुबहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो मिथ्यात्व के आधीन होकर अनेक बार भ्रमण करता है।

हे भव्य बंधुओं!

इस प्रकार "भव परिवर्तन" संसार के स्वरूप को जानकर इस संसार संतति को जड़मूल से उखाड़ने का पुरुषार्थ कर ताकि आपका मोक्ष मार्ग प्रशस्त हो सके।

भाव–परावर्तन–5

सव्वे पयडिट्ठिओ अणुभाग पदेस संबंध ठाणाणि।
जीवो मिच्छत्तवसा, भमि दो पुण भाव संसारे।।29।।
पुत्त कलत्त णिमित्तं अत्थं, अज्जयदि पाव (पाप) बुद्धीए।
परिहरदि दयादाणं, सो जीवो भमदि संसारे।।30।।

भाव संसार में मिथ्यात्व के वशीभूत जीव ने सभी कर्मों के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध के सभी स्थानों में बार–बार भ्रमण किया है,जो जीव पुत्र और स्त्री के लिए पाप बुद्धि से धन कमाता है और दया और दान को छोड़ देता है वह जीव संसार में परिभ्रमण करता है। आचार्य भगवंत कहते हैं "**मिच्छत्तवसा जीवो**" मिथ्यात्व के वशीभूत होकर यह जीव **भमि दो पुण भाव संसारे** भाव संसार में परिभ्रमण कराता है।

* जीवन में जीव का सबसे बड़ा शत्रु मिथ्यात्व है क्योंकि वह जिन्दगी की दशा व दिशा दोनों को ही विपरीत कर देता है।

जैसे – व्यक्ति की जिस पर आस्था होती है वह उसी पर विश्वास व श्रद्धा कर बैठता है, जैसे व्यक्ति की विषय भोगों आदि वस्तु पर आस्था है तो वह विषय भोगियों पर विश्वास करेगा, यदि व्यक्ति को अपने स्वरूप पर आस्था है (व बोध है) तो वह अपने से गुणवान व श्रेष्ठ (पूज्य) पुरुषों पर श्रद्धान करेगा।

जिज्ञासा – श्रद्धा व विश्वास में क्या अन्तर है।

समाधान – श्रद्धा – व्यवहार से तो अपने से गुणों में श्रेष्ठ लोगों व प्रातः स्मरणीय परम आराध्य (देव–शास्त्र–गुरु) पर श्रद्धा की जाती है।

निश्चय – से तो अपनी आत्मा पर ही श्रद्धा की जाती है।

श्रद्धा छूट सकती है पर टूट नहीं सकती – जैसे मारीचि का जीव आदिनाथ भगवान के पादमूल में मुनि बना कर्मोदय के कारण भटक गया (संसार में) वही जीव शेर की पर्याय में आकर संभल व सतर्क हो गया – अभिप्राय यह है कि जब वह भटका तो सम्यक्त्व छूट गया था। जब वह शेर की पर्याय में सँभला तो सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया – इसलिए श्रद्धा छूट सकती है पर टूट नहीं सकती है।

विश्वास – हमेशा संसारी (विषयभोगी) लोगों पर किया जाता है, यह अधिकांश टूट भी जाता है वह छूट भी जाता है, विश्वास के कारण ही तो व्यक्ति संसार में भ्रमण कर रहा है।

सर्व प्रकृति स्थित्यनुभाग प्रदेश बंध योग्यानि ।
स्थान्यनु भूतानि भ्रमता भुवि भाव संसारे ।।

लोक में भाव संसार में भ्रमण करता जीव कर्मों की प्रकृति बंध, प्रदेश बंध, स्थिति बंध और अनुभाग बंध के योग्य जो योगनि के स्थान कषायों के स्थान और स्थिति के जितने प्रकार के स्थान हैं उन सबको मिथ्यात्वी जीव क्रमपूर्वक जितने समय में अनुभव (परिणमन) करता है उतने काल को एक भाव परावर्तन का काल कहते हैं।

भाव परावर्तन

* योग स्थान अनुभाग, बन्धाध्यवसायस्थान, कषायाध्यवसायस्थान

स्थिति स्थान इन चारों का परिवर्तन क्रमपूर्वक करके इस जीव ने अनंत बार भ्रमण किया परन्तु पूर्वोक्त समस्त प्रकृति बंध आदि की सत्ता के नाश के कारण रूप विशुद्ध ज्ञान दर्शन – स्वभाव रूप निज परमात्म के सम्यक् श्रद्धान ज्ञान अनुचरण रूप रत्नत्रय है उसे इस जीव ने प्राप्त नहीं किया इस कारण से भाव परावर्तन हो रहा है।

योगस्थान – प्रकृति और प्रदेशबन्ध के कारणभूत आत्मा के प्रदेश परिस्पन्द रूप योग के तारतम्य रूप जघन्य आदिक स्थानों को योगस्थान कहते हैं। (ये श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं)

अनुभाग बन्धाध्यवसायस्थान – जिन कषायों के तारतम्य रूप स्थानों से अनुभाग बंध होता है उनको अनुभाग बन्धायवसायस्थान कहते हैं।

(ये बंधस्थान असंख्यात लोक प्रमाण है)

कषाय बन्धाध्यवसाय स्थान – स्थिति बंध के कारणभूत कषाय के तारतम्य स्थानों को अथवा कषाय परिणामों को कषाय बन्धाध्यवसाय स्थान या स्थिति बंधाध्यवसायस्थान कहते हैं–ये असंख्यात लोक प्रमाण है।

स्थिति बंध – बंधरूप कर्म की जघन्यादिक स्थिति को स्थिति स्थान कहते हैं।

* भाव परावर्तन कैसे होता है?– इसको और विशेष तरीकों से समझने का प्रयास करते हैं।

1. योगस्थान, 2. अनुभागस्थान, 3. कषायस्थान, 4. स्थितिस्थान

जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण, असंख्यात लोक प्रमाण, असं. लो. प्रमाण कर्मस्थिति प्रमाण

* श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण योग स्थानों के हो जाने पर, एक अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थान होता है, और असंख्यात लोक प्रमाण अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थानों के हो जाने पर कषायाध्यवसाय स्थान होता है तथा असंख्यात लोक प्रमाण कषायाध्यवसाय स्थानों के हो जाने पर एक स्थिति स्थान होता है।

इस प्रकार क्रम से ज्ञानावरण आदि समस्त मूल प्रकृति व उत्तर प्रकृतियों के समस्त स्थानों के पूर्ण हो जाने पर एक भाव परिवर्तन होता है।

⁕ जघन्य योगस्थान से जघन्य अनुभाग बंधाध्यवसाय स्थान का बंध तथा जघन्य अनुभाग से जघन्य कषाय बन्धाध्यवसाय स्थान का बंध स्थान और (जघन्य कषाय स्थान से) जघन्य अन्तः कोड़ा-कोड़ी प्रमाण स्थिति को बाँधता है।

नोट – योग स्थान, अनुभाग स्थान, कषाय स्थान व स्थिति स्थान इन चारों का जघन्य बंध एक साथ चलता है।

परिणमदि सण्णि जीवो, विविह कसाएहि ठिदि-णिमित्तेहिं।

अणुभाग णिमित्तेहि य वट्टतो भाव संसारे।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा

अर्थ- सैनी जीव जघन्य आदि उत्कृष्ट स्थिति बंध के कारण तथा अनुभाग बंध के कारण अनेक प्रकार की कषायों से तथा "च" शब्द से श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण योग स्थानों से वर्तमान भाव संसार में परिणमन करता है।

अब इनका परिवर्तन किस तरह होता है – यह दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं-

जैसे – किसी पर्याप्त मिथ्यादृष्टि संज्ञी जीव के ज्ञानावरण कर्म की अन्तः कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण जघन्य स्थिति का बंध होता है। इस जीव के इससे कम स्थिति बंध नहीं होता। इसलिए यही यहाँ पर जघन्य स्थिति स्थान है।

इसके योग्य विवक्षित जीव के जघन्य ही अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थान जघन्य ही कषायाध्यवसाय स्थान, जघन्य ही योग स्थान होते हैं।

⁕ यहाँ से ही भाव परावर्तन का प्रारंभ होता है। उसको समझने का प्रयास करते हैं –

श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण (असंख्यातासंख्यात स्थान) योग स्थानों के एक-एक स्थान क्रमशः पलट कर पूर्ण हों। शेष तीनों (अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थान, कषायबन्धाध्यवसाय स्थान, स्थिति स्थान) ज्यों के त्यों जघन्य रूप ही रहें – इस प्रकार योग स्थानों के क्रम से पूर्ण हो जाने पर दूसरा अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थान होता है (जघन्य + 1)

⁕ इसके बाद फिर श्रेणी के असंख्यातवें भाग योग स्थान के क्रम से पूर्ण हो जाने पर, तीसरा अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थान में भी योग स्थान श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण जानना चाहिए।

इस प्रकार प्रत्येक अनुभाग स्थान, सब योग स्थानों को पूर्ण करता है।

नोट – बीच में अन्य योगस्थान रूप परिणमन करता है वह गिनती में नहीं है।

इस प्रकार पूर्व क्रमानुसार से असंख्यात लोक प्रमाण अनुभाग स्थानों के पूर्ण हो जाने पर दूसरा कषाय स्थान होता है।

इस कषाय स्थान के अनुभाग स्थान पर योग स्थान पूर्ववत् जानने चाहिए। इसी प्रकार जिस क्रम से दूसरा

कषाय स्थान हुआ उस ही क्रम से असंख्यात लोक प्रमाण कषाय स्थानों को पूर्ण हो जाने पर भी वही जघन्य स्थिति स्थान रहता है और जो क्रम जघन्य स्थिति स्थान में बताया वही क्रम एक-एक समय अधिक-अधिक द्वितीयादि स्थिति स्थानों में समझना चाहिए। तथा इसी क्रम से ज्ञानावरण की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक अर्थात् 30 (तीस) कोड़ा-कोड़ी सागर पर्यंत समस्त स्थिति स्थानों के पूर्ण हो जाने पर और ज्ञानावरण के स्थिति स्थानों की तरह क्रम से सम्पूर्ण अष्ट कर्मों की मूल व उत्तर प्रकृतियों के समस्त स्थानों के पूर्ण हो जाने पर एकभाव परावर्तन होता है, अर्थात् प्रत्येक कर्म की मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यंत प्रत्येक स्थिति के साथ पूर्वोक्त सब कषाय स्थानों, अनुभाग स्थानों और योग स्थानों को पहले की तरह लगा लेना चाहिए। इस तरह सब कर्मों की स्थितियों के भोगने को एकभाव परावर्तन कहते हैं। तथा

इस परावर्तन में जितना काल लगे, उसको एकभाव परावर्तन काल कहते हैं।

इस तरह के भाव परावर्तन भी इस जीव ने अनंत बार किये हैं परन्तु पूर्वोक्त सम्पूर्ण प्रकृति बंध आदि सद्भाव के नाश का कारण जो विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव का धारक निज परमात्म है। उसके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान और चारित्र रूप जो रत्नत्रय है उसी को इस जीव ने प्राप्त नहीं किया।

जिज्ञासा – असंख्यात लोक प्रमाण संख्या से क्या तात्पर्य है?

समाधान – 343 घनराजू जो लोक है उसके जितने प्रदेश हैं उनकी संख्या को एक लोक प्रमाण संख्या कहते हैं। एक लोक के प्रदेशों की संख्या, मध्यम असंख्यात है, ऐसे-ऐसे असंख्यात लोक प्रमाण प्रदेशों की जो संख्या आवे वह संख्या असंख्यात लोक प्रमाण कहलाती है।

जिज्ञासा – असंख्यात लोक प्रमाण संख्या किसे कहते हैं? इसको स्पष्टतया समझाइये तथा उनके कुछ उदाहरण भी दीजिये।

समाधान – उपमामान के आठ भेदों (पल्योपम, सागरोपम, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगत् श्रेणी, जगत् प्रतर और जगत्घन) में लोक अर्थात् लोकाकाश भी आता है।

* जैसे – दूध व केरोसीन का माप लीटर से

कपड़े का माप मीटर से

सड़क माप किलोमीटर

बुखार का माप थर्मामीटर से

आदि माप किये जाते हैं।

* उसी प्रकार जैन आगम में पदार्थों को नापने के लिए लोक भी काम में आता है।

* जो राशि एक लोक के प्रदेशों से संख्यात, असंख्यात व अनंत गुणी होती है, उसको लोक द्वारा नापा जाता है।

* एक लोक में जितने प्रदेश हो– असंख्यात लोक प्रमाण से आशय है, असंख्यात लोकों में जितने प्रदेश हो उतनी संख्या।

अथवा

लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक जीव को निक्षिप्त करके एक लोक हो गया। इस प्रकार मन से संकल्प करना चाहिए इस प्रकार पुन:-पुन: असंख्यात बार माप करने पर, असंख्यात लोक प्रमाण संख्या आती है।

* असंख्यात लोक प्रमाण विषय को और विशेषताओं से जानना हो तो प्रमाण के लिए षट्खंडागम की धवला टीका पुस्तक-7 महादंडक अधिकार के सूत्र नं. 57 से 70 देखें।

* त्रिलोकसार गाथा – 83 से 90 तक की संस्कृत टीका के अनुसार द्विरूप घनाघन धारा का प्रमाण है।

जिज्ञासा – जगत् श्रेणी के असंख्यातवें भाग से क्या तात्पर्य है?

समाधान – सात राजू लम्बी और एक प्रदेश चौड़ी ऊँची आकाश के प्रदेशों की पंक्ति को जगत् श्रेणी कहते हैं।

उसमें आकाश के जितने प्रदेश हैं (असंख्यातासंख्यात) उन प्रदेशों का असंख्यातवाँ भाग (असंख्यात) प्रदेश की जितनी संख्या है उतनी संख्या योग स्थानों की है। जगत् श्रेणी के असंख्यातवें भाग में भी असंख्यात घनांगुल प्रमाण प्रदेशों की संख्या आती है।

भाव परावर्तन का स्वरूप क्या है? इसकी भाव भासना को समझने का प्रयास करते हैं–

संसारी मिथ्यादृष्टियों में सबसे निकृष्ट परिणाम सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के हैं। क्योंकि वहाँ पर ज्ञान का उघाड़ मात्र अक्षर के अनंतवें भाग ही होता है। तथा दशा भी सबसे निकृष्ट है, क्योंकि श्वासोच्छवास में अठारह बार जन्म-मरण करता है। अवगाहना भी सबसे छोटी घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र है।

उत्कृष्ट दशा अन्तिम नव ग्रैवेयक में जाने वाले द्रव्य लिंगी मुनि की होती है। इनकी 31 सागर (इक्कत्तीस सागर) की उत्कृष्ट आयु होती है। इससे अधिक आयु देव गति में मिथ्यादृष्टि की नहीं होती है। शुक्ल लेश्या ही होती है कषाय भी विशेष मंद होती है।

नोट – 31 सागर तक अपने विमान से बाहर जाने का भाव नहीं आता इसलिए परिणाम भी उत्कृष्ट होते हैं।

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के निकृष्टतम परिणामों से लेकर द्रव्यलिंगी के उत्कृष्टतम शुभ भावों के बीच असंख्यातासंख्यात लोक प्रमाण भावों के भेद-प्रभेद हैं। उनमें जगत् श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान हैं। असंख्यातासंख्यात लोक प्रमाण स्थिति बंध के कारण परिणाम है। स्थिति बंध के कारण भूत परिणामों से असंख्यात लोक गुणे अनुभाग बंध के कारण भूत परिणामों की संख्या है तथा

आठों कर्म की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर तक असंख्यात लोक प्रमाण कर्म स्थिति स्थान है इन सबके अङ्क असंख्यातासंख्यात लोक प्रमाण बनते हैं।

अतः सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के निकृष्टतम परिणामों से लेकर क्रमशः वृद्धि करते-करते द्रव्यलिंगी के उत्कृष्ट मंद कषाय रूप परिणामों को जितने समय में जीव प्राप्त करे, उतने काल प्रमाण समय को एकभाव परावर्तन कहते हैं।

नोट – अक्रम से जो करेगा उनकी गिनती नहीं होगी। काल तो उनका भी भाव परावर्तन के काल में सम्मिलित किया जावेगा।

जिज्ञासा – एक क्रम के बाद दूसरा क्रम प्राप्त करने में कितना समय लग सकता है?

समाधान – एक क्रम के बाद जब अक्रम रूप से जघन्यपने संख्यात बार मध्यम से असंख्यात बार और उत्कृष्टपने से अनंत बार प्राप्त करेगा तब कहीं जाकर एक बार क्रम से प्राप्त करेगा।

* इससे ज्ञात होता है कि सभी क्रमों को प्राप्त करने में प्रत्येक क्रम के बीच में जब संख्यात, असंख्यात, अनंत बार अक्रम परिणाम प्राप्त करेगा तो भाव परावर्तन का काल कितना विशाल होगा?

* इसलिए तो एक भाव परावर्तन में अनन्त, भव परावर्तन पूरे हो जाते हैं। भव परावर्तन से अनन्त गुणेकाल परावर्तन हो जाते हैं। काल परावर्तन से अनन्त गुणे क्षेत्र परावर्तन हो जाते हैं और पुद्गल परावर्तन के क्षेत्र परावर्तन से भी अनन्त गुणे हो जावेंगे और एक पुद्गल परावर्तन के असंख्यातवें भाग में जब अनन्त सागर होते हैं तो –

एक भाव परावर्तन के सागरों का क्या कहना –

इस जीव ने अनादि से लेकर आज तक अनंतानंत भाव परावर्तन किये हैं। अन्य परावर्तनों की संख्याओं का तो कहना ही क्या?

इस जीव ने मिथ्यात्व के संसर्ग से सब प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध के स्थानों को प्राप्त कर भाव संसार में परिभ्रमण किया। इस प्रकार अनेक दुःखों की उत्पत्ति के कारण इन पाँच प्रकार के संसार में यह जीव मिथ्यारूपी दोष के कारण अनादिकाल तक भ्रमण करता रहता है।

* जब इस जीव को सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है, तब पंच परावर्तन समाप्त हो जाता है।

* सम्यग्दृष्टि जीव यदि सम्यक्त्व से च्युत होकर अधिक से अधिक संसार में भ्रमण करे तो वह अर्द्ध पुद्गल परावर्तन मात्र काल तक भ्रमण करता है – जो द्रव्य परिवर्तन के अन्तर्गत नोकर्म पुद्गल परावर्तन काल के समान है किन्तु यह भी अनंतकाल सदृश होने से अनन्त कहलाता है।

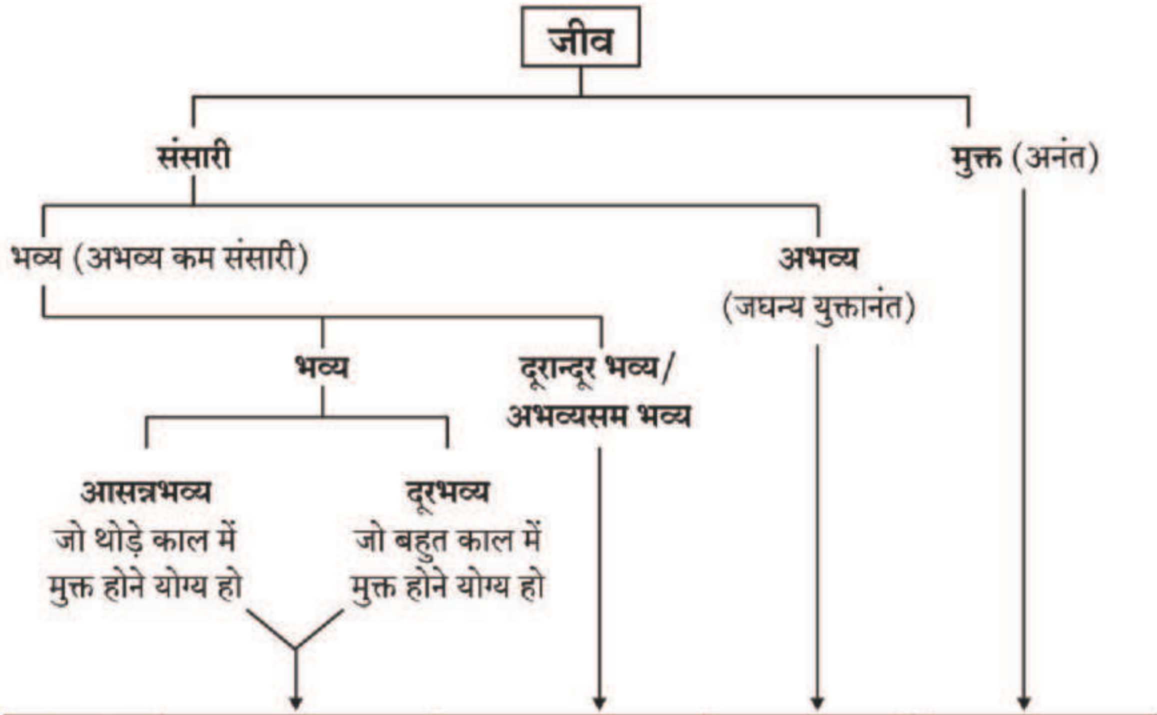

मुक्ति की– ※योग्यता	है	है	नहीं है	※ न भव्य न अभव्य ※ मुक्तिसुख के भोक्ता ※ अनंत संसार से रहित
※ प्राप्ति	काल पाकर होगी	कभी नहीं होगी	कभी नहीं होगी	
※ उदाहरण	※ बंध्यापने के दोष से रहित स्त्री ※ योग्य सामग्री होने पर पुत्र उत्पन्न होगा	(1) ※ विधवा सती स्त्री ※ पुत्र उत्पत्ति की योग्यता होने पर भी कभी भी पुत्र उत्पन्न नहीं होगा। (2) ※ कुछ कनकोपल (स्वर्ण–पाषाण) ※ कभी भी मैल नाश करने की सामग्री नहीं मिलती है।		

संसारी जीवों के पंच परिवर्तन (परावर्तन/परिभ्रमण/संसार)

- द्रव्य (पुद्गल)
  - नोकर्म
  - कर्म
- क्षेत्र
  - स्वक्षेत्र
  - परक्षेत्र
- काल
  - जन्म
  - मरण
- भव
  - नरक
  - तिर्यंच
  - मनुष्य
  - देव
- भाव

परिवर्तन	स्वरूप
नोकर्म	इसके प्रथम समय में जिन नोकर्म पुद्गलों को जिस रूप मे ग्रहण किया, अमुक क्रम बाद पुन: उन्हीं पुद्गलों को उसी रूप में ग्रहण करने में लगने वाला सम्पूर्ण काल
कर्म	❋ नोकर्म पुद्गल परिवर्तन की तरह ❋ परन्तु यहाँ नोकर्म पुद्गलों की जगह कर्म पुद्गलों को ग्रहण करना।
स्वक्षेत्र	सूक्ष्म निगोदिया की जघन्य अवगाहना से महामत्स्य की उत्कृष्ट अवगाहना तक क्रम-2 से एक-2 प्रदेश बढ़ाकर प्राप्त करने का सम्पूर्ण काल
परक्षेत्र	लोकाकाश के समस्त प्रदेशों पर क्रम-2 से उत्पन्न होने का एवं मरण करने का सम्पूर्ण काल
काल	उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी के समस्त समयों में क्रम-2 से जन्म लेने एवं मरने का सम्पूर्ण काल
भव	नरकादि चार गतियों की जघन्य से उत्कृष्ट आयु को क्रम-2 से एक-2 समय बढ़ाकर प्राप्तकर भोगने का सम्पूर्ण काल
भाव	ज्ञानावरणादि कर्मों की मिथ्यादृष्टि की जघन्य से लेकर उत्कृष्ट स्थिति व अनुभाग को बाँधने योग्य सर्व परिणामों को और सर्व योगस्थानों को क्रम-2 से प्राप्त करने का सम्पूर्ण काल
	नियम- ❋ विवक्षित परिवर्तन में जिस क्रम का उल्लेख हो वही गिनती में लिया जायेगा। ❋ अक्रम से परिवर्तन होता है परन्तु वह नहीं गिना जाता है। ❋ काल तो क्रम-अक्रम दोनो का गिना जाता है।

परिवर्तन का काल

द्रव्य	अनंत < गुणा	क्षेत्र	अनंत < गुणा	काल	अनंत < गुणा	भव	अनंत < गुणा	भाव
↓								↓
अनंत काल								अनंत काल
↓								↓
सबसे छोटा								सबसे बड़ा

एक भाव परिवर्तन में–	अनंत भव परिवर्तन,
	भव परिवर्तन से अनंत गुणे काल परिवर्तन,
	काल " " क्षेत्र परिवर्तन,
	काल " " द्रव्य परिवर्तन होते हैं।

विशेष विवरण

नोकर्म परिवर्तन का क्रम

* किसी जीव ने एक समय में जिस प्रकार के स्पर्शादि से युक्त नोकर्म परमाणुओं के समयप्रबद्ध का ग्रहण किया
* तत्पश्चात् द्रव्य परिवर्तन यंत्र में बताये गये अमुक क्रम में गृहीत, अगृहीत व मिश्र परमाणुओं के समयप्रबद्ध को ग्रहण कर
* पुन: पहले समय में ग्रहण किये वही परमाणु, वैसी ही स्पर्शादि शक्ति से युक्त नोकर्म परमाणुओं के समयप्रबद्ध का ग्रहण किया
* इन सबका समुदायरूप काल = नोकर्म परिवर्तन

गृहीत, अगृहीत व मिश्र?

गृहीत	अगृहीत	मिश्र
पूर्व में ग्रहण किये हुए	पूर्व में न ग्रहण किये हुए	दोनों प्रकार के
←	परमाणुओं का समयप्रबद्धरूप स्कंध	→
	* अनंतानंत परमाणु आज तक किसी जीव ने कभी ग्रहण नहीं किये * एक जीव का नवीन परिवर्तन प्रारंभ होने पर सब अगृहीत ही होते हैं।	

द्रव्य परिवर्तन यंत्र					
00X	00X	001	00X	00X	001
XX0	XX0	XX1	XX0	XX0	XX1
XX1	XX1	XX0	XX1	XX1	XX0
11X	11X	110	11X	11X	110

यंत्र में प्रयुक्त चिह्न ⟶	0 (शून्य)	= अगृहीत
	1	= गृहीत
	X	= मिश्र
कोई भी चिह्न दोबार लिखने पर अनंतबार जानना		

उदाहरण	✻ प्रथम कोठा 00X = अनंतबारअगृहीत ग्रहण के पश्चात् एकबार मिश्र का ग्रहण
	✻ 00X 00X = इसी क्रम से मिश्र का भी अनंत बार ग्रहण

"कर्म परिवर्तन में भी यही अनुक्रम जानना"

नोकर्म परिवर्तन + कर्म परिवर्तन = 1 पुद्गल परिवर्तन

काल परिवर्तन

कल्पकाल

	उत्सर्पिणी	**अवसर्पिणी**
स्वरूप	जीवों के शरीर की ऊँचाई, आयु, बल आदि की क्रमश: वृद्धि	हानि
काल	१० कोड़ाकोड़ी सागर	१० कोड़ाकोड़ी सागर
काल परिवर्तन	✻ कोई जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में जन्म धारण कर आयु पूर्ण करें। ✻ पश्चात् किसी दूसरी अन्य उत्सर्पिणी के द्वितीय समय मे जन्म धारण करे। ✻ पुन: किसी अन्य उत्सर्पिणी के तृतीय समय मे जन्म धारण करे। ✻ इसी क्रम से उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी के समस्त समयों में क्रम-2 से जन्म धारण करे और इसी प्रकार से मरण करे। ✻ इन सबमें लगने वाले काल समुदाय को एक काल परिवर्तन कहते हैं।	

भव परिवर्तन

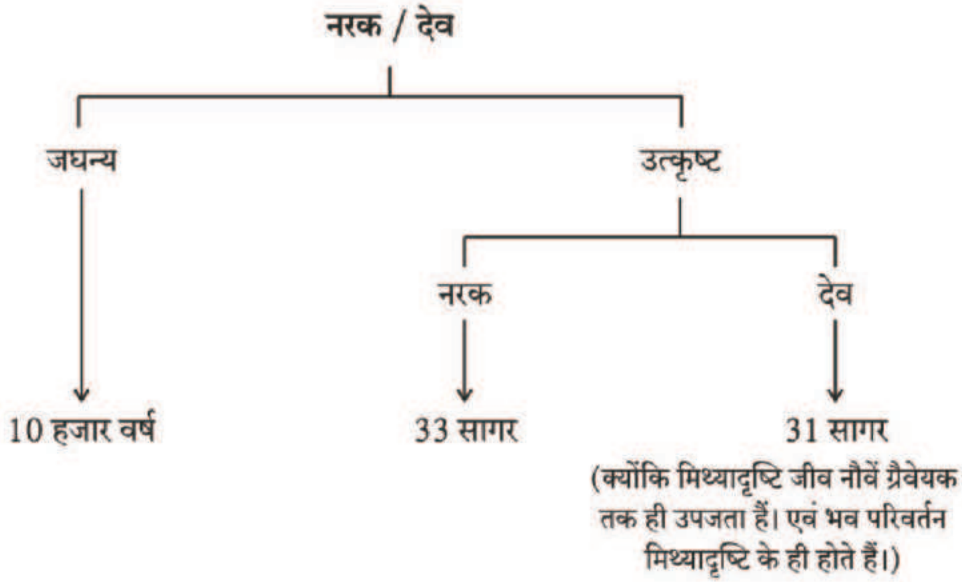

10 हजार वर्ष के जितने समय हैं, उतनी बार नरक/देव की जघन्य आयु धारण करे। पश्चात् अनुक्रम से 1-1 समय बढ़ती हुई आयु धारण कर उत्कृष्ट आयु प्राप्त करे। इन सबके समुदायरूप काल का नाम नरक/देव का भव परिवर्तन है।

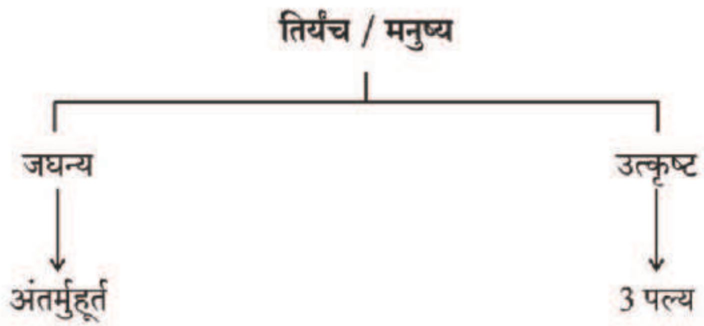

अंतर्मुहूर्त के जितने समय हैं, उतनी बार मनुष्य/तिर्यंच की जघन्य आयु धारण करे। पश्चात् अनुक्रम से 1-1 समय बढ़ती हुई आयु धारण कर उत्कृष्ट 3 पल्य आयु धारण करे। इन सबके समुदायरूप काल को तिर्यंच/मनुष्य का भव परिवर्तन कहते हैं।

उपरोक्त चारों गतियों के परिवर्तन काल मिलकर एक भव परिवर्तन है।

भाव परिवर्तन

<table>
<tr><th></th><th>स्थिति स्थान</th><th>कषाय अध्यवसाय स्थान / स्थितिबंध अध्यवसाय स्थान</th><th>अनुभाग बंध अध्यवसाय स्थान</th><th>योग स्थान</th></tr>
<tr><td rowspan="2">स्वरूप</td><td rowspan="2">ज्ञानावरणादि कर्मों की जघन्य से उत्कृष्ट स्थिति तक के भेद</td><td colspan="2">जीव के जिन परिणामों से कर्मों की जघन्य से उत्कृष्ट</td><td rowspan="2">आत्मप्रदेशों के परिस्पंदनरूप जघन्य से उत्कृष्ट भेद (इनसे कर्मों का प्रकृति-प्रदेश बंध होता है)</td></tr>
<tr><td>स्थिति पड़ती है उनके भेद</td><td>अनुभाग पड़ता है उनके भेद</td></tr>
<tr><td>भेदों की संख्या</td><td>उत्कृष्ट स्थिति - जघन्य स्थिति+1 (उदाहरण- ज्ञानावरण की 30 कोड़ाकोड़ी सागर- अंत: कोड़ाकोड़ी सागर+1)</td><td>1 समय की स्थिति के कारणभूत यथायोग्य असंख्यात लोक प्रमाण भेद</td><td>1 कषाय अध्यवसाय स्थान में यथायोग्य असंख्यात लोक प्रमाण भेद</td><td>जगतश्रेणी / असं.</td></tr>
<tr><td>कुल भेद</td><td>संख्यात कोड़ाकोड़ी सागर</td><td>1 स्थितिस्थान के कारणभूत परिणाम x कुल स्थितिस्थान = असं. लोक</td><td>1 कषाय अध्यवसाय स्थान के कारणभूत परिणाम x कुल कषाय अध्यवसाय स्थान=असं. लोक</td><td></td></tr>
</table>

भाव परिवर्तन का क्रम

शुरूआत - किसी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव ने ज्ञानावरण कर्म की
* अंत:कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण जघन्य स्थिति स्थान
* जघन्य ही कषाय अध्यवसाय स्थान
* जघन्य ही अनुभागबंध अध्यवसाय स्थान और
* यथायोग्य जघन्य योग स्थान प्राप्त किया।

स्थिति स्थान	कषाय अध्यवसाय स्थान	अनुभागबंध अध्यवसाय स्थान	योग स्थान
जघन्य– अंत:कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति	I (जघन्य)	I (जघन्य)	I (जघन्य)
⋮	⋮ II 0 0 0 0 0 0 III 0 0 0 0 0 0 असं. लोकप्रमाण	⋮ II ⋮ III 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 असं. लोकप्रमाण भेद 0 0 0 0 0 0 असं. लोकप्रमाण 0 0 0 0 0 0 0 0 0	II III IV 0 0 0 0 0 जगतश्रेणी/असं. I (यथायोग्य जघन्य) II III 0 0 0 0 0 0 जगतश्रेणी/असं. 0 … 0 — असं. लोक प्रमाण बार जगत् श्रेणी/असं. भेद होने पर 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0

स्थिति स्थान	कषाय अध्यवसाय स्थान	अनुभागबंध अध्यवसाय स्थान	योग स्थान
जघन्य स्थिति + 1 समय 0 0 0 0 0 30 कोड़ाकोड़ी सागर उत्कृष्ट	0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0	0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0	0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0

* जिस प्रकार संज्ञी पंचेन्द्रिय के मूल ज्ञानावरण कर्म के स्थिति स्थान और उसके योग्य कषायाध्यवसाय स्थान, अनुभागबंधाध्यवसाय स्थान, योगस्थान के बँधने का क्रम बताते है।

* उसी प्रकार इसके पश्चात् क्रम से शेष 7 मूल प्रकृतियाँ एवं उत्तर प्रकृतियों का क्रम जानना।

¦	= स्थान में कोई परिवर्तन नहीं होगा
0 0 0 0	= आगे का स्थान होता जायेगा

लेश्या मार्गणा

–श्रमण मुनि विनंदसागर

संघस्थ–उच्चारणाचार्य 108 श्री विनम्रसागर जी महामुनिराज

ॐ हूं आदि महावीर विमल सन्मति विराग विनम्र सूरिभ्यो: नम: ।

श्री गोम्मटसार जैन दर्शन में करुणानुयोग का मुख्य सर्वमान्य एवं सारभूत ग्रंथ है। इसकी रचना ''आचार्य श्री नेमीचन्द सिद्धांत चक्रवर्ती ने की है। यह ग्रन्थराज दो भागों में विभक्त है (1) जीवकाण्ड (2) कर्मकाण्ड। यहाँ जीवकाण्ड में जीव के गुणस्थान–मार्गणास्थान आदि का निरूपण किया गया है। उन्हीं 14 मार्गणाओं के अन्तर्गत जीव के साथ प्रतिसमय संबंध रखने वाली अति प्रमुख 'लेश्या मार्गणा' की चर्चा कर्मों के निर्जरार्थ करने जा रहा हूँ।

सर्वप्रथम लेश्या किसे कहते हैं?

तो आ. पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि 2/6 में कहते हैं कि –

''भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योग प्रवृत्ति:''

अर्थात् कषाय के उदय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।

ऐसा मानने पर शंका उत्पन्न होती है कि – ''उपशांत कषाय, क्षीण कषाय और सयोगकेवली गुणस्थान में शुक्ल लेश्या कही है। किन्तु कषायोदय का अभाव होने से लेश्या का उपर्युक्त लक्षण घटित नहीं होता।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी और श्री अकलंक देव सर्वार्थसिद्धि व राजवार्तिक अध्याय 2 सूत्र 6 की टीका में निम्न प्रकार लिखा है –

''पूर्वभाव प्रज्ञापन नयापेक्षा याऽसौ योगप्रवृत्ति: कषायानुरञ्जिता सैवत्युपचार दौदयिकीत्युच्यते।''

जो योगप्रवृत्ति कषाय के उदय से अनुरंजित है, वही यह है इस प्रकार पूर्वभाव प्रज्ञापन नय की अपेक्षा उपशांत कषाय आदि गुणस्थानों में भी लेश्या को औदायिक भाव कहा गया है। किन्तु श्री वीरसेन स्वामी धवल पु. 1 पृष्ठ 386 में इसका उत्तर निम्न प्रकार से देते हैं –

''कर्मस्कन्धैरात्मानं लिम्पतीति लेश्या''

जो कर्मस्कन्धों से आत्मा को लिप्त करती है, उसे लेश्या कहते हैं। अर्थात् जो आत्मा और प्रवृत्ति (कर्म) का संश्लेष सम्बन्ध कराने वाली है वह लेश्या है। यहाँ प्रवृत्ति शब्द कर्म का पर्यायवाची है।

श्री वीरसेन आचार्य ने इसी प्रश्न का दूसरा यह भी उत्तर दिया है कि 'कषायानुविद्ध योगप्रवृत्ति' को ही लेश्या कहते हैं – अगर ऐसा मान भी लिया जाए तो भी ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में लेश्या का अभाव नहीं हो जाता क्योंकि 'लेश्या' में योग की प्रधानता है, कषाय नहीं है, क्योंकि कषाय योग–प्रवृत्ति का विशेषण है।

चूँकि विषय गोम्मटसार जीवकाण्ड का है, इसलिए गोम्मटसार जीवकाण्ड में लेश्या की परिभाषा इस प्रकार है –

लिंपदि अप्पी कीरदिएदीए णियमपुण्ण–पावं च ।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा ।।489।।

जिसके द्वारा जीव पुण्य और पाप से अपने को लिप्त करता है, उनके अधीन करता है उसको लेश्या कहते हैं।

और अगली गाथा 490 में कहा है कि – योग प्रवृत्ति लेश्या है वह योग प्रवृत्ति कषायोदय से अनुरंजित होती है, अत: योग प्रवृत्ति और कषायोदय इन दोनों का कार्य बंधचतुष्क रूप परमागम में कहा है।

इसी बात का स्पष्टीकरण धवल पु. 16 पृ. 488 से लेते हैं – मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग (बंध चतुष्क) से उत्पन्न हुए जीव के संस्कार को भाव लेश्या कहते हैं।

इस प्रकार लेश्या को हमने आगम के अनुसार अनेक परिभाषाओं से जाना। अब आइये – वैदिक धर्म और वैज्ञानिकों के अनुसार भी लेश्या को स्वीकार किया गया है। उसे हम जानें हैं –

लेश्या को लौकिक भाषा में 'ओरा' अथवा आभामण्डल भी कहते हैं। वैज्ञानिक इसे Electric Magnetic Field कहते हैं।

वैदिक परम्परा के वेदों में ऐसा कहा गया है कि हमारे शरीर में ऐसी दिव्य शक्ति है जो हमें सभी प्रकार के दुःख, नेगेटिव एनर्जी आदि से बचाने की सामर्थ्य रखती है। उसी शक्ति को वैदिक लोग आभामण्डल, ओज, तेज, दिव्य पुंज नामों से जानते हैं।

यहाँ मैं बताना चाहता हूँ कि जो वैदिक या अन्य परम्परा के लोग मानते हैं कि आभामण्डल और तेज (ग्लो) एक ही चीज है तो उनकी यह गलतफहमी है क्योंकि तेज (ग्लो) और ओरा (आभामण्डल) में बहुत अंतर है। क्योंकि किसी के भी शरीर से निकलने वाला तेज और उसके चेहरे के ग्लो को तो हम देख सकते हैं लेकिन ओरा (लेश्या) को हम कभी अपनी चर्म चक्षुओं से नहीं देख सकते।

यद्यपि ऐसा हो सकता है कि किसी के शरीर का तेज कम अर्थात् उसकी तेजस शरीर की प्रभा कमजोर हो। लेकिन उसका आभामण्डल (ओरा) जो भावों से बनता है वह बहुत मजबूत हो सकता है।

जैसे हम देखते हैं कि कुछ लोगों से मिलकर हमें आत्मिक शांति सी मिलती है, एक अलग प्रकार का सुकून सा महसूस होता है। और ऐसा लगता है कि उस व्यक्ति के ही पास बैठे रहें, उन्हें ही देखते रहें, और उससे बार–बार बात करने का भी मन होता है, तो मतलब है उस व्यक्ति का ओरा (आभामण्डल) आपके ओरा के समान है, जैसे अरबों, करोड़ों व्यक्तियों में से हम किसी एक के प्रति ही क्यों आकर्षित हुए? क्योंकि उसका और हमारा आभामण्डल समानता को लिए हुए है।

तथापि जिन लोगों के अन्दर नकारात्मक ऊर्जा (नेगेटिव सोच) होती है, उनसे एक बार मिलने के पश्चात् दुबारा नहीं मिलना चाहते। यदि ऐसे लोग हमारे पास आकर बैठ जाएँ जिनका ओरा खराब हो तो वह व्यक्ति जब तक नहीं जाता तब तक हमें बेचैनी सी होती रहती है। यह सब हमारी लेश्या या आभामण्डल के प्रभाव से ही होता है।

आइये अब जानते हैं कि –

(भाव लेश्या) ओरा कैसे बनता है?

तो आचार्य भगवान् कहते हैं कि हमारे परिणामों के अनुसार ही हमारी भाव लेश्या बनती है। अर्थात् हमारे जैसे विचार होते हैं वैसा ही ओरा हमारे शरीर से लगभग 1 हाथ दूरी तक रहता है। और जो भी हमारे ओरा के सम्पर्क में आता है, वह उसमें प्रभावित हो जाता है। जैसे – जब हम अपने से मजबूत आभामण्डल वाले व्यक्ति से मिलते हैं तो उसके सामने बोलने से हमारी जबान लड़खड़ाने लगती है या हमारी बोलती ही बंद हो जाती है। हम समझ नहीं पाते हमें क्या बोलना है आदि-आदि घटनाएँ होती हैं।

इन सब का एक ही कारण है हमारी संकल्प शक्ति कमजोर होना, संकल्प शक्ति कमजोर होने से हम अपना प्रभाव किसी पर नहीं छोड़ सकते। अगर आप अपनी संकल्प शक्ति को मजबूत बनाना चाहते हैं तो आप हमेशा अपने आप को शक्तिशाली समझे, कभी भी नेगेटिव विचार न आने दे। और सभी के प्रति विनम्रता तथा दया भाव होने से हमारा आभामण्डल म$\frac{1}{2}$ज़बूत बनता है।

ध्यान, सामायिक करने से आभामण्डल (लेश्या) मजबूत होता है। हमारा ओरा सबसे जल्दी प्रभावशाली तब बनता है जब हम किसी की नि:स्वार्थ भाव से सेवा करते हैं। ऐसा करने पर हमारे अन्दर एक नई ऊर्जा का संचार होता है जो हमारे आभामण्डल को प्रभावशाली बनाती है।

वैज्ञानिक मानते हैं कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक एनर्जी है। वही एनर्जी जो हम एक जीव (चेतना) में देखते हैं। वही एनर्जी प्रत्येक वस्तु के चारों तरफ महसूस होती है। लगता है वैज्ञानिक इस बात से अनभिज्ञ हैं कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड या लोक में ठसाठस सूक्ष्म जीव भरे हुये हैं। उनके अन्दर भी वही चेतना शक्ति है जो हमारे अन्दर है। इसलिए वैज्ञानिकों को सभी जगह एनर्जी महसूस होती है। उसी एनर्जी को वैज्ञानिक प्रत्येक पौद्गलिक वस्तु का आभामण्डल बताते हैं। जो मात्र एक वैज्ञानिकों की कल्पना सी प्रतीत होती है क्योंकि पुद्गल में भाव लेश्या का अभाव है।

पॉजिटिव थिंकिंग क्या है?

नकारात्मकता से बचना ही पॉजिटिव थिंकिग है।

इसका जवाब पूज्य गुरुदेव ने देते हुए कहा कि हम ऐसा मानते चले आ रहे हैं कि जिस सोच से हमारे कार्य सिद्ध हो जायें वो तो पॉजिटिव थिंकिंग और जो सोच कार्य न होने दे वो नेगेटिव थिंकिंग ये परिभाषा सही नहीं बैठती।

बल्कि सही तो यह है कि पॉजिटिव थिंकिंग तो वह है जो हमें अपना स्वभाव प्राप्त कराये और जो आत्म स्वभाव प्राप्त कराने में बाधक बने वह है - नेगेटिव सोच, नेगेटिव विचार, नेगेटिव एनर्जी।

क्योंकि पॉजिटिव थिंकिंग आने पर हमारे अन्दर समता भाव, आत्म उत्थान का भाव जाग्रत हो जाता है। और यही भाव हमारे अन्दर पॉजिटिव एनर्जी पैदा करता है जो शुभ लेश्या अर्थात् मजबूत आभामण्डल के रूप में हमारे चारों ओर फैली रहती है। जो हमारे शरीर से 1 हाथ की दूरी तक चारों ओर एक सुरक्षा कवच का कार्य करती है।

वैज्ञानिकों के अनुसार -

पीपल के पेड़ का आभामण्डल - 15 मीटर तक अपना प्रभाव दिखाता है।

गोबर - 5 मीटर तक

अक्षत (चावल) - 4 मीटर तक।

इसलिए वैदिक परम्परा के लोग पीपल के पेड़ की पूजन, घर में गोबर का लेपन और अक्षत से पूजन किया करते हैं। लेकिन जैन दर्शन पेड़ की पूजन, गोबर का लेपन करना स्वीकार नहीं करता।

ओरा इतनी दूर तक फैलता कैसे है?

कषाय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति को भाव लेश्या ($\frac{1}{2}$ओरा) कहते हैं। इसी को अपनी भाषा में कहें तो - कषाय से तो ओरा का जन्म होता है और उसे फैलाने का कार्य योग किया करता है।

Product by passion and spirit by bibration it's called magnetic radiation field (ओरा)

हमारे मन-वचन-काय योगों से जो कषाय (मन्द या तीव्र) शरीर के चारों ओर फैल जाती है वही लेश्या (ओरा आभामण्डल) आदि कहलाती हैं।

जैसे - किसी प्लान्ट या सिलेण्डर में गैस का उत्पादन हो रहा है, लेकिन वह गैस तब तक बाहर नहीं फैलती जब तक प्लान्ट या सिलेण्डर में लगी नोजल (टोटी) को नहीं खोला जाए, जैसे ही नोजल खोला जाता है गैस बाहर फैलना प्रारम्भ हो जाती है, उसी प्रकार हमारे अन्दर कषाय बनी। लेकिन अकेली कषाय कुछ नहीं कर सकती जब तक उसे योगों का साथ न मिले, योगों के सम्पर्क में आते ही कषाय गैस की तरह बाहर फैलनी प्रारम्भ हो जाती है। उसे ही हम ओरा कहते हैं उस ओरा के सम्पर्क में जो भी व्यक्ति आता है वह उसी रूप में प्रभावित हो जाता है।

ये जाना हमने भाव लेश्या क्या है? लेकिन इस लेश्या मार्गणा में क्या-क्या है? वह जानते हैं।

लेश्या मार्गणा के अन्तर्गत कुल 16 अधिकार हैं। जो लेश्या के साधन हैं अर्थात् जिनके द्वारा साध्य 'लेश्या' को जाना जाता है। वह निर्देशादि 16 अधिकारों का वर्णन हम क्रम-क्रम से जानेंगे।

सर्वप्रथम धवल पु. 16 पृ. 484 के अनुसार सर्वप्रथम लेश्या का निक्षेप करना चाहिए, क्योंकि बिना निक्षेप किए प्रकृत लेश्या मार्गणा में प्रवेश नहीं हो सकता। वह निक्षेप इस प्रकार है – नाम लेश्या, स्थापना लेश्या, द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। 'लेश्या' यह शब्द नाम निक्षेप अर्थात् नाम लेश्या है। सद्भाव स्थापना (जैसे वृक्ष के फल खाने वाले छह व्यक्तियों का चित्र) और असद्भाव स्थापना रूप से जो लेश्या की स्थापना की जाती है वह स्थापना लेश्या है। द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या को हम इन 16 अधिकारों के अन्तर्गत जानेंगे।

1–'निर्देश अधिकार'

किसी वस्तु के स्वरूप का कथन करना निर्देश है। यहाँ लेश्या के नियम से ये छह ही निर्देश संज्ञाएँ हैं – कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या।

लेकिन लेश्याएँ छह ही होती हैं। ऐसा एकान्त से मत जान लेना क्योंकि गाथा 493 में द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से 'नियम से छह ही लेश्या होती है' ऐसा कहा गया है, किन्तु पर्यायार्थिक नय की विवेक्षा से षट्स्थानपतित हानि–वृद्धि के कारण लेश्याओं के असंख्यात लोक प्रमाण भेद हो जाते हैं ऐसा निर्देश है। जो धवल पु. 16 पृष्ठ 485 में कहा गया है।

अब क्रमानुसार द्वितीयाधिकार को समझते हैं।

2 वर्ण (द्रव्य लेश्या)

उपर्युक्त जो हमने निक्षेप किया था उसमें द्रव्य लेश्या निक्षेप आया था तो आइये इस द्वितीयाधिकार में द्रव्य लेश्या का स्वरूप बताते हैं कि – ''वर्ण नामकर्म के उदय से जो शरीर का वर्ण (रंग) होता है उसको द्रव्य लेश्या कहते हैं।'' इसके भी कृष्णादि छह भेद हैं तथा प्रत्येक के उत्तर भेद संख्यात, स्कन्धों की अपेक्षा असंख्यात और परमाणु भेद की अपेक्षा अनंत तथा अनंतानंत भेद होते हैं।

अब किस गति में कौन–कौन सी द्रव्य लेश्या होती है –

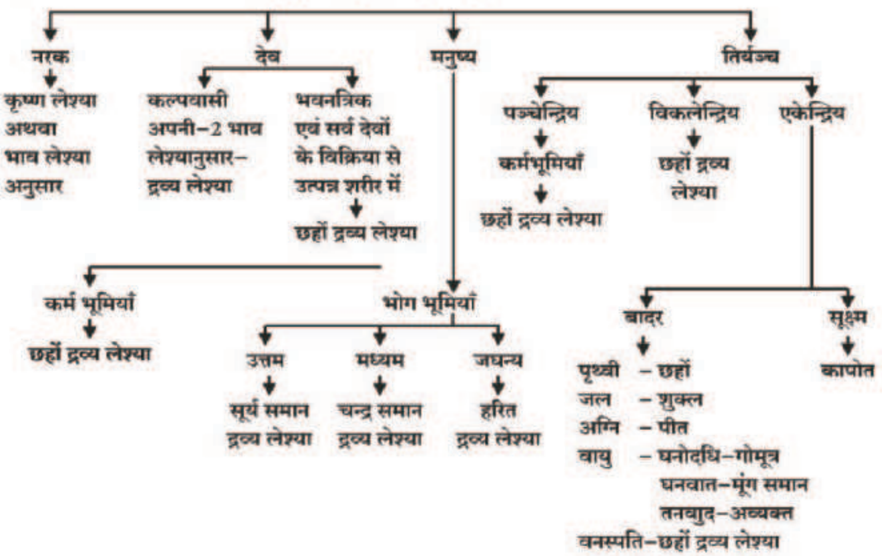

नोट– पंच संग्रह गा. 253 के अनुसार नारकियों में भी भाव लेश्यानुसार द्रव्य लेश्या होती है, किन्तु अन्यत्र सभी नारीकियों में द्रव्य से कृष्ण लेश्या मानी गयी है। 2. सभी जीवों की विग्रहगति में शुक्ल द्रव्य लेश्या और अपर्याप्त मिथ्यात्व अवस्था में कापोत द्रव्य लेश्या रहती है।

3. परिणाम अधिकार–

अब प्रमत तृतीय परिणाम अधिकार का कथन करते हैं –

कषायों के उदयस्थान असंख्यात लोक प्रमाण है। उनमें संक्लेश द्रव्य परिणाम अशुभ लेश्या है, विशुद्ध परिणाम रूप शुभ लेश्या है, ऐसा जानना चाहिए। तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र कषाय रूप परिणाम अशुभ लेश्या है, मन्द, मन्दतर और मन्दतम कषाय रूप परिणाम शुभ लेश्या है। प्रत्येक में षट्स्थान पतित हानि–वृद्धि होती है।

उत्तरोत्तर संक्लेश परिणामों की वृद्धि होने से यह आत्मा कापोत से नील और नील से कृष्ण लेश्या रूप परिणमन करता है।

उत्तरोत्तर विशुद्धि की वृद्धि होने पर आत्मा पीत, पद्म, शुक्ल इन तीन शुभ लेश्याओं में परिणमन करता है।

हमारे परिणामों पर ही लेश्या का परिणमन हुआ करता है और उन्हीं परिणामों के आधार से हमारा आभामण्डल अर्थात् ओरा तैयार होता है।

इसके पश्चात् संक्रमण अधिकार आता है –

4. संक्रमण अधिकार–

जब यह परिणाम पलटते हैं तो उसे ही संक्रमण कहते हैं यह संक्रमण स्वस्थान और परस्थान के भेद से दो प्रकार का होता है। स्वस्थान संक्रमण में परिणाम पलटकर उसी रूप रहते हैं और जिस संक्रमण में परिणाम पलटकर अन्य लेश्या रूप हो जाते हैं उसे परस्थान संक्रमण कहते हैं।

विशेषता यह है कि कृष्ण और शुक्ल लेश्या में वृद्धि पर मात्र स्वस्थान संक्रमण होता है तथा हानि होने पर स्वस्थान और परस्थान दोनों ही संक्रमण संभव है शेष चार लेश्याओं में भी दोनों संक्रमण संभव है।

यह संक्रमण भी हानि–वृद्धि दोनों अवस्थाओं में षट्स्थान पतित होता है। परिणमन व संक्रमण का यह कथन मरण की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि मध्यम शुक्ल लेश्या का मिथ्यादृष्टि देव अपनी आयु क्षीण होने पर जघन्य शुक्ल लेश्यादिको में परिणमन न करके अशुभ तीन लेश्याओं में गिरता है। (धवल पु. 8 पृ. 322)

यह संक्रमण किन कर्मों से होते हैं – इसलिए क्रमानुसार पंचम अधिकार ''कर्म'' का विवेचन करते हैं–

5– कर्म

यह संक्रमण मनपूर्वक वचन, काय की प्रवृत्ति के अनुसार हुआ करते हैं, जैसे – छह पथिक वन के मध्य मार्ग में भ्रष्ट होकर फलों से भरे हुए वृक्ष को देखकर अपने–अपने मन में अलग–अलग विचार करते हैं –

कृष्ण लेश्या वाला विचार करता है कि – मैं तो वृक्ष को मूल से उखाड़कर फल खाऊँगा।

नील लेश्या वाला विचार करता है कि – मैं तो वृक्ष को स्कन्ध से काटकर फल खाऊँगा।

कापोत लेश्या वाला विचार करता है कि – मैं तो बड़ी–बड़ी शाखाओं को काटकर फल खाऊँगा।

पीत लेश्या वाला विचार करता है कि – मैं तो वृक्ष से पूरे कच्चे–पके फलों के गुच्छे को तोड़कर फल खाऊँगा।

पद्म लेश्या वाला विचार करता है कि – मैं तो वृक्ष के पके फलों को तोड़कर खाऊँगा।

शुक्ल लेश्या वाला विचार करता है कि – मैं तो वृक्ष से स्वयं टूटे हुए फलों को खाऊँगा।

इस प्रकार के विचार व वचन लेश्या कर्म को प्रकट करते हैं। यह तो मात्र दृष्टांत मात्र है, इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिए।

तो आइए अब हम जानते हैं कि हम कौनसी लेश्या के धारी हैं अथवा हम ज्यादातर समय किस लेश्या में व्यतीत करते हैं –

1. **कृष्ण लेश्या** – कृष्ण लेश्या से संयुक्त जीव तीव्र क्रोधी, निर्दय, झगडालू, वैर न छोड़ने वाला, गाली देने के स्वभाव से युक्त, चोर, असत्यभाषी, मद्य, माँस व मधु में आसक्त, जिनशासन के श्रवण में अरुचि रखने वाला, दुष्ट और किसी के वश में नहीं आने वाला, यह सभी कृष्ण लेश्या के लक्षण हैं।

2. **नील लेश्या** – कार्य करने में मन्द हो, बुद्धि विहीन अर्थात् जिसे कार्य व अकार्य की समझ न हो, विवेक रहित, इन्द्रिय विषयों में लम्पटी, अभिमानी, मायाचारी, आलसी, अतिनिद्रालु, धोखा देने में अधिक, धन–धान्य की तीव्र लालसा आदि लक्षण नील लेश्या वाले व्यक्तियों के हैं।

3. **कापोत लेश्या** – दूसरों पर क्रोध करना, उनकी निंदा करना, अन्य को बहुत प्रकार से दोष लगाना, प्रचुर शोक व भय से संयुक्त रहना, ईर्ष्या करना, दूसरे का ऐश्वर्यादि को सहन न कर सकना, पर का तिरस्कार करना, अपनी अनेक प्रकार से प्रशंसा करना, दूसरों को अपने जैसा धोखेबाज (कपटी) समझकर उन पर विश्वास नहीं करना, अपनी प्रशंसा और स्तुति करने वालों पर खुश होकर पारितोषिक देना, युद्ध में मरने की इच्छा करना आदि कापोत लेश्या के लक्षण हैं।

4. **पीत लेश्या** – पीत लेश्या वाला जीव अहिंसक, मद्य, माँस व मधु का असेवी तथा सेव्य–असेव्य का जानकार, समस्त जीवों को समझने वाला सबके विषय में समदर्शी, दया–दान में लवलीन और मृदु स्वभाव वाला होता है।

5. **पद्म लेश्या** – पद्म लेश्या वाला जीव त्यागी अर्थात् दान देने वाला, भद्र परिणामी सुकार्य स्वभावी, जिसका उत्तम कार्य करने का स्वभाव हो, इष्ट व अनिष्ट उपद्रवों को सहने वाला हो, मुनिजन एवं गुरुजन की सेवा में प्रीति रखने वाला होता है।

6. शुक्ल लेश्या – शुक्ल लेश्या वाला जीव पक्षपात से रहित, निदान नहीं बाँधता। सभी जीवों में समदर्शी होना, इष्ट–अनिष्ट में राग–द्वेष से रहित होता है।

हमारी जैसी लेश्या होती है उसी के अनुसार गति बंध होता है। किस लेश्या से और किस अंश से हमें कौनसी गति का आयु बंध होगा। यह जानने के लिए सप्तम अधिकार गति को कहते हैं –

7. गति अधिकार

लेश्याओं के निश्चय से छब्बीस अंश हैं। उनमें से मध्य के आठ अंश, जो आठ अपकर्षकाल में होते हैं, आयुबन्ध के योग्य हैं और शेष 18 अंश चार गतियों में गमन के कारण होते हैं, यह सामान्य नियम है। परन्तु विशेषता यह है कि लेश्याओं के उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य अंशों से जीव चारों गतियों में अलग–अलग स्थानों पर उत्पन्न होते हैं।

किस–किस लेश्या के किस–किस अंश में मरकर जीव कहाँ–कहाँ उत्पन्न होता है।

लेश्या	अंश	उत्पत्ति स्थान
1.शुक्ल	उत्कृष्ट	सर्वाथसिद्धि (अंतिम अनुत्तर स्थान)
	मध्यम	आनत स्वर्ग (13 स्वर्ग) से लेकर सर्वार्थसिद्धि को छोड़कर 4 अनुत्तर विमानपर्यन्त
	जघन्य	शतार–सहस्रार स्वर्ग (11–12 स्वर्ग)
2. पद्म–		उत्कृष्ट सहस्रार स्वर्ग
	मध्यम	ब्रह्म स्वर्ग से लेकर शतार स्वर्ग तक (5–11 स्वर्ग)
	जघन्य	सानतकुमार–माहेन्द्र स्वर्ग (3–4 स्वर्ग)
3. पीत–	उत्कृष्ट	सानतकुमार–माहेन्द्र स्वर्ग के अन्तिम पटल तक
	मध्यम	सौधर्म–ऐशान स्वर्ग के द्वितीय पटल से सानतकुमार–महेन्द्र के द्विचरम पटल तक
	जघन्य	सौधर्म–ऐशान का प्रथम पटल
1. कृष्ण–	उत्कृष्ट	सातवीं पृथ्वी का इन्द्रक बिल
	मध्यम	सातवीं पृथ्वी के श्रेणीबद्ध बिलों में, छठी पृथ्वी के तीनों पटलों में, 5वीं पृथ्वी के अन्तिम पटल में।
	जघन्य	पाँचवीं पृथ्वी का अन्तिम पटल के इन्द्रक में।
2. नील–	उत्कृष्ट	पाँचवीं पृथ्वी के द्विचरम पटल एवं अन्तिम पटल में (कोई–कोई)
	मध्यम	पाँचवीं पृथ्वी के प्रथम तीन पटल एवं चौथी पृथ्वी के सातों पटल।
	जघन्य	तीसरी पृथ्वी का अन्तिम पटल।
3. कापोत–		उत्कृष्ट तीसरी पृथ्वी का चरम एवं द्विचरम पटल।
	मध्यम	पहली पृथ्वी के दूसरे पटल से लेकर तीसरी पृथ्वी के सातवें पटल।
	जघन्य	पहली पृथ्वी का पहला पटल।

अब क्रम प्राप्त अष्टम अधिकार "स्वामी" का कथन करते हैं –

* मनुष्य और तिर्यञ्चों में सामान्य से छहों लेश्या पायी जाती हैं। लेकिन एकेन्द्रिय और विकलत्रय में कृष्णादिक तीन अशुभ लेश्या ही पायी जाती है। असंज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त के कृष्णादि तीन और पीत लेश्या भी पायी जाती है।

* संज्ञी लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच या मिथ्यादृष्टि मनुष्य, असंज्ञी लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच, मिथ्यादृष्टि तथा सासादन गुणस्थानवर्ती निर्वृत्ति अपर्याप्तक तिर्यंच, मनुष्य और भवनत्रिक देव इन सभी में कृष्णादिक तीन अशुभ लेश्या ही होती है।

* उपशम सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च के अति संक्लेश परिणाम होने पर भी कृष्णादिक तीन अशुभ लेश्या नहीं होती। और जो उपशम सम्यक्त्व की विराधना करके सासादन होता है उसके अपर्याप्त अवस्था में तीन अशुभ लेश्या ही पायी जाती है।

* भोगभूमिया निर्वृत्यपर्याप्तक सम्यग्दृष्टि के जघन्य कापोत लेश्या होती है तथा भोगभूमिया सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि जीवों के पर्याप्त अवस्था में पीत आदि के तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं।

* नारकी और देवों का कथन सुगम है –

गुणस्थान की अपेक्षा लेश्या के स्वामी

गुणस्थान	लेश्या
1–4	छहों लेश्या
5–7	3 शुभ लेश्या
8–13	शुक्ल लेश्या
14	लेश्या रहित

कौन–कौन सी लेश्या	किस गुणस्थान तक
कृष्ण, नील, कापोत	1–4
पीत, पद्म	1–7
शुक्ल	1–13
लेश्या रहित	14

9. साधन

द्रव्य लेश्या का साधन वर्णनाम कर्म का उदय, भाव लेश्या का साधन मोहनीय कर्म के उदय, क्षयोपशम, उपशम, क्षय से होने वाली जीवों के प्रदेशों की चंचलता। इन दोनों साधनों के अभाव में साध्य 'लेश्या' की सिद्धि नहीं होती।

10. संख्या

संसारी जीव राशि में सबसे अधिक कृष्ण लेश्या वाले जीव अनन्त हैं। उनसे कुछ कम नील लेश्या वाले, उनमें कुछ कम कापोत लेश्या वाले हैं। तीनों ही अशुभ लेश्या वाले जीवों का प्रमाण संसारी जीव राशि से कुछ कम होता है। अर्थात् इन तीनों का प्रमाण अनंत है।

पीत लेश्या वाले जीव असंख्यात हैं जो ज्योतिषी देवों से कुछ अधिक हैं, पद्म लेश्या वाले जीवों का प्रमाण पीत लेश्या वाले जीवों के संख्यातवें भाग है और शुक्ल लेश्या वाले जीवों का प्रमाण पद्म लेश्या वाले जीवों के असंख्यातवें भाग है। तथापि तीनों ही शुभ लेश्या वाले जीवों का असंख्यात प्रमाण है।

11. क्षेत्र

जिसमें जीव 'क्षियन्ति' अर्थात् निवास करते हैं, वह क्षेत्र कहलाता है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा क्षेत्र एक प्रकार का है अथवा प्रयोजन की अपेक्षा क्षेत्र लोकाकाश व अलोकाकाश दो प्रकार का है। जिसमें जीवादि द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोक कहते हैं, इसके विपरीत जहाँ जीवादि द्रव्य नहीं देखे जाते वह अलोकाकाश है।

उस लोकाकाश में अशुभ लेश्या वाले जीवों का स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद की अपेक्षा सर्वलोक प्रमाणक्षेत्र है। पीतादि तीन शुभ लेश्याओं का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग हैं। मात्र शुक्ल लेश्या का समुद्घात की अपेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग, संख्यात बहुभाग अथवा सर्वलोक है।

12. स्पर्शन

क्षेत्र अधिकार में मात्र वर्तमान काल का विशिष्ट क्षेत्र ग्रहण किया गया था। लेकिन स्पर्शन में (भूतकाल विशिष्ट) क्षेत्र अथवा तीनों कालों का ग्रहण किया जाता है।

10 स्थानों में स्पर्शन
तीनों काल में स्पर्शित क्षेत्र

स्थान / लेश्या	स्वस्थान	विहारवत्	वेदना	कषाय	वैक्रियिक	मारणांतिक	तैजस	आहारक	उपपाद
कृष्ण–नील–कापोत–	सर्वलोक	तिर्यक् लोक	सर्वलोक	सर्वलोक	$\frac{5}{14}$ = $\frac{\text{लोक}}{\text{संख्यात}}$	सर्वलोक	–	–	सर्वलोक
पीत	$\frac{\text{लोक}}{\text{असंख्यात}}$	$\frac{8}{14}$ घनराजू	$\frac{8}{14}$	$\frac{8}{14}$	$\frac{8}{14}$	$\frac{9}{14}$	संख्यात घनांगुल	संख्यात घनांगुल	$\frac{3}{14}$
पद्म	$\frac{\text{लोक}}{\text{असंख्यात}}$	$\frac{8}{14}$	$\frac{8}{14}$	$\frac{8}{14}$	$\frac{8}{14}$	$\frac{8}{14}$	संख्यात घनांगुल	संख्यात घनांगुल	$\frac{5}{14}$
शुक्ल	$\frac{\text{लोक}}{\text{असंख्यात}}$	$\frac{8}{14}$	$\frac{8}{14}$	$\frac{8}{14}$	$\frac{8}{14}$	$\frac{8}{14}$	संख्यात घनांगुल	संख्यात घनांगुल	$\frac{6}{14}$

※ केवली समुद्घात स्पर्शन ※

	दंड	कपाट	प्रतर	लोकपूरण
स्पर्शन	जगत् श्रेणी x संख्यात प्रतरांगुल = लोक/असं.	जगत् प्रतर x संख्यात सूच्यांगुल = लोक/असं.	लोक का असंख्यात बहुभाग	सर्वलोक

13. काल

कृष्णादि छहों लेश्याओं का काल नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल है तथा एक जीव की अपेक्षा छहों लेश्याओं का जघन्यकाल अंतर्मुहूर्त मात्र है। उत्कृष्ट काल कृष्ण लेश्या का तैंतीस सागर, नील लेश्या का सत्रह सागर कापोत लेश्या का सात सागर, पीत लेश्या का दो सागर अथवा 2½ सागर (सम्यग्दृष्टि घातायुष्क की अपेक्षा) पद्म लेश्या का अठारह सागर अथवा 18½ (सम्यग्दृष्टि घातायुष्क की अपेक्षा), शुक्ल लेश्या का 33 सागर है। छहों लेश्याओं में यह काल कुछ अधिक अर्थात् 2 अन्तर्मुहूर्त अधिक है।

(1) पूर्व पर्याय का अन्तिम अन्तर्मुहूर्त (2) आगे की पर्याय का आदि अन्तर्मुहूर्त। ये दो अन्तर्मुहूर्त में वही लेश्या पायी जाती है।

14. अन्तर

कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याओं का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त मात्र है और उत्कृष्ट अंतर कुछ अधिक तैंतीस सागर होता है। पीत आदि तीन शुभ लेश्याओं का अन्तर भी इस ही प्रकार है, परन्तु शुभ और अशुभ छहों लेश्याओं के अन्तर में कुछ विशेषता है। विशेषता यह है कि 10 अन्तर्मुहूर्त + कोटि पूर्व - 8 वर्ष + 33 सागर कृष्ण लेश्या का उत्कृष्ट अन्तर है, इसमें से 2 अन्तर्मुहूर्त और कम करने पर नील लेश्या का उत्कृष्ट अन्तर होता है तथा 2 अन्तर्मुहूर्त और कम कर देने से कापोत लेश्या का उत्कृष्ट अन्तर होता है।

तीनों शुभ लेश्याओं का उत्कृष्ट अन्तर नियम से असंख्यात पुद्गल परावर्तन है। (एकेन्द्रियों में परिभ्रमण करने की अपेक्षा)

15. भाव

भाव की अपेक्षा छहों लेश्याएँ औदायिक हैं।

16. अल्पबहुत्व

संख्या अधिकार में द्रव्यप्रमाण से कहीं संख्या अनुसार, अल्पबहुत्व जानना चाहिए।

सो इस प्रकार है–

कृष्ण लेश्या वाले जीव सबसे अधिक अनंत है, उनसे कुछ कम नील लेश्या वाले, उनसे कुछ कम कापोत लेश्या वाले होते है।

शुभ लेश्याओं में पीत लेश्या वाले जीव सबसे अधिक असंख्यात है उनसे कुछ कम पद्म लेश्या और उनमें कुछ कम शुक्ल लेश्या वाले जीव हैं। इस प्रकार छहों लेश्याओं में अल्प बहुत्व कहा।

उपशम सम्यक्त्व व उसकी योग्यता

श्रमणी आर्यिका विमलश्री संघस्थ
उच्चारणाचार्य 108 विनम्रसागर जी महामुनिराज

※ वयं भयवं महावीरसामी सासणयाले चिट्ठन्ति। पभूअ पिजूस देसणां सुणिऊण पुव्वाइरिय परम्परा णिब्बाध अविरल धारा अज्जेव पवाहिदो हवदि।

※ आइरिय णेमिचंद सिद्धांत चक्कवट्टी जी पुव्वे भूदा। जं वयं अण्णाणीसु अण्णुग्गहेण गोम्मटसार जीवकाण्ड महासिद्धान्त गंथं रचिऊण जं दुरुह विसयं सरल सुम्मं रुवे परिवट्टयाणं अपुव्व उवयार कुव्वदि गागरे सायरं उवक्कमदि च। अस्स जीवकाण्ड गंथे बीस परूवणां अतीव सुट्ठु वण्णेदि। इमे चउदस मग्गणासु सम्मत्त मग्गणम विसदं वण्णेइ अणाइ कालेण पंच परावट्टमाण भव्व जीवाणं दिसाबोहं देहि। गुरु पसादेण पुण्णोदयेण य मज्झं तेसु सम्मत्त मग्गणा व सम्मद्दंसणेसु पयासेज्जं दुरुह कज्ज मिल्लेइ। गुरु पादमूले चिट्ठऊण जं पयासेइ तेण आसीसेण सद्देसु संजोयणस्स पयासंकरेमि। गुरुदेव सत्ति, साहस, संबल, सब्बोहि दिंतु माम।

---

1. हे भव्यो! जिस प्रकार सूर्य हजारों रश्मियों के द्वारा जगत् को प्रकाशित करता है उसी प्रकार चारों अनुयोग के दिव्य तेज को अपने अंदर सहेजे हुए अपने चिंतन, तर्क, सिद्धान्त रूपी ज्ञान द्वारा भव्य जीवों को आलोकित करने वाले परमपूज्य गुरुवर उच्चारणाचार्य 108 श्री विनम्रसागर जी समवशरण की प्रतीक इस धर्मसभा में गणधर परमेष्ठी के रूप में विराज रहे हैं और आप सभी जिनवाणी पुत्र विद्वत्जन भी अपने कोठे में बैठे उन जिनेन्द्र प्रभु की वाणी का रसपान करने हेतु आतुर हैं और इस पिपासा के बीच कोई अपनी बात कहे तो उचित नहीं लगता वैसे ही हमारी स्थिति है। पर जिनशासन में एक बात और भी प्रसिद्ध है कि ''गुरु आज्ञा शिरोधार्य तो हम भी गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए उनकी चरण छाँव में बैठकर जो कुछ भी सीखा, जाना, समझा है उसे आप लोगों के समक्ष रखना चाहेंगे हमारा विषय सम्यक्त्व मार्गणा है जिसमें सम्यग्दर्शन को विषय करते हुए उपशम सम्यक्त्व पर विशेष प्रकाश डालने की कोशिश की है। उसमें होने वाली पंचलब्धि, बंधापसरण व अध:प्रवृत्तकरण को समझाने की कोशिश की है। यदि क्षयोपशम की कमी से विषय में कोई त्रुटि हो तो विद्वज्जन व गुरुदेव दिशाबोध प्रदान करने की कृपा करें।

※ भगवान महावीर स्वामी के शासनकाल में विराज रहे हैं हम सभी। प्रभु की पीयूष देशना का श्रवण कर पूर्वाचार्यों की परम्परा अनवरत अविरल धारा रूप प्रवाहित होती रही है और आज भी हो रही है।

※ आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती जी हुए जिन्होंने हम अबोध अज्ञानियों पर अनुग्रह करते हुए गोम्मटसार जीवकाण्ड जैसे महान् सिद्धान्त ग्रंथ की रचना कर इस दुरूह विषय को सरल व सौम्य रूप में परिवर्तित कर अपूर्व उपकार किया है। और गागर में सागर भरने का उपक्रम किया है। इस जीवकाण्ड ग्रन्थ में आचार्यवर ने बीस प्ररूपणा का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। जिसमें चौदह मार्गणा के अन्तर्गत सम्यक्त्व मार्गणा का विशद् विवेचन कर अनादिकाल से पंच परावर्तन करने वाले भव्य जीवों को दिशाबोध दिया है। गुरु आशीष व पुण्योदय से मुझे उस सम्यग्दर्शन पर प्रकाश डालने का दुरूह कार्य मिला है। गुरु चरणों में बैठकर जो समझने का प्रयास किया है उसे यहाँ उनके आशीर्वाद से शब्दों में संजोने का प्रयास कर रही हूँ। गुरुदेव मुझे शक्ति, साहस, सम्बल व सद्बुद्धि प्रदान करें

* उत्तं य जेण विणा अणंत संसारस्स अंतं णत्थि, जेण विणा जीव चउरासीदीलक्ख जोणिसु भमिऊण घोरं दुक्खं पत्तेइ, जेण विणा जीवस्स पुण्णं संसारस्स हेदु, जेण बिणा धम्मं ण आरब्भेइ, णाणं णाणं णत्थि, जीवणस्स पारब्भ ण होइ, जेण विणा माणुसस्स पत्तेय कज्जं मजदूरी अत्थि, च जं अणंत संसारस्स अंतं कुव्वदि, संसारे सारं पस्सेदि, पंच परायट्टणं अद्धपोग्गल परायट्टं करेदि, तस्स सम्मत्तस्स वुच्चेइ।

* किं सम्मत्तं ? किं लक्खणं, गुण, अंग, दोस, जं केण हवदि ? कुतो हवदि ?, केण पयासेण पत्तेइ ?, अस्स लाहं ?, महिमा, विसेसं किं ? सम्मत्तेण सहं गमणागमण य पयारं आदि विसयेसु वियारेइ।

* **किं सम्मत्तं ?** सच्चं सच्च मुसं मुसा मण्णेइ सम्मत्तं, सव्व मण्णं सच्चं सम्मत्तं, बहुमुहो सोचं सम्मत्तं, सगसत्तां अवलोयणं सम्मत्तं, पयडिं अनुसरणेइ सम्मत्तं, अमरतां बीजं, कम्म बंधं रूद्धदि, तच्चत्थ सड्ढाणं सम्मद्दंसणं अत्थि। सादवादेण वत्थुअ अणेय धम्मं विजाणेइ सम्मत्तं।

---

* कहा है जिसके बिना अनंत संसार का अंत नहीं होता, जिसके बिना जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ दारुण दुःखों को प्राप्त करता है, जिसके बिना जीव का पुण्य संसार का कारण है, जिसके बिना धर्म प्रारम्भ नहीं होता, जिसके बिना ज्ञान ज्ञान नहीं होता, जिसके बिना जीवन का प्रारम्भ नहीं, जिसके बिना आदमी का हर कार्य हर कदम मजदूरी है। तथा जो अनंत संसार का अंत करा दे, संसार में सार दिखा दे, पंचपरावर्तन को अर्द्धपुद्गल परावर्तन कर दे हाँ उसी सम्यग्दर्शन की चर्चा करने जा रहे हैं।

सम्यग्दर्शन क्या है ? उसके लक्षण, गुण, अंग, दोष, क्या है यह किसे होता है ? कहाँ होता है ? कैसे प्राप्त होता है ? इसकी लाभ महिमा विशेषताएँ क्या हैं ? सम्यक्त्व के साथ गमनागमन व प्रकार आदि विषयों पर विचार करते हैं

* सम्यग्दर्शन क्या है–	सही को सही गलत को गलत मानना	सम्यग्दर्शन है।	
	सर्वमान्य सत्य है	”	”
	बहुमुखी सोच है	”	”
	अपनी सत्ता का अवलोकन करना	”	”
	प्रकृति के अनुसार चलना	”	”
	अमरता का बीज है	”	”
	कर्मबंध को रोकने वाला	”	”
	तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्–	”	”
	स्याद्वाद के द्वारा वस्तु के अनेक धर्मों को जानना।	”	”

* सम्म सद्द जिण दंसणस्स पाणं अत्थि। जहेव णीव विणा पासादं ण भवदि तहेव सम्मत्तेण विणा जिण दंसणस्स आधारं, सारं, तवं, चागं, संजमस्स व्यापारं णत्थि।

* ''सम्मति सम्यक शब्द: प्रशंसार्थोऽविरुद्ध वा'' सम्मं सद्द पसंस अत्थे पयुज्जइ। सव्वत्थ सिद्धीसु पुज्जपाद आइरिय सामी आह –

''सम्यगित्यव्युत्पन्न: शब्दो व्युत्पनो वा। अञ्चते: क्वौसमञ्चतीति सम्यगिति'' सम्म सद्द अविउप्पण्णं अहवा रुढि य विउपण्णं अहवा वियायरणं सिद्धं। जं वियारणेण सिद्धदि तं सम् उवसग्ग पुव्वं अंच धादुओ क्विप् पच्चयेण सम्म सद्दं भवइ जस्स अत्थं पसंसा अत्थि।

संसकित भासाए सम् एयं उवसग्गं जस्स अत्थं पुण्णरुवेण सुट्ठुओ अञ्च् धादु जस्सत्थं गमणं–पूजां कुरुमाण होदि। 'समञ्चति' वा जं सुट्ठूअ गमिज्जइ सगसहावे परिणमिज्जइ तं 'क्विप्' पच्चय होइऊण सम्यक्/सम्म सद्द पत्तेइ। सम्यक्/सम्म सद्दत्थं पदत्थं जहा तहा मण्णेदि

दंसण

सड्ढाणं दंसणं अत्थि। सम्मदंसणे सड्ढाएं इट्ठं अत्थि। दंसण सद्दस्स णिप्पत्ति 'दृश्' धादु 'ल्युट' पच्चयेण जस्सत्थं वेक्खणं निरिक्खणं जाणणं अणुभवं वा। दंसणं पसारिऊण धवलाकार जी वुच्चइ ''अप्प सरूवस्स अवलोयणं दंसणं'' सद्दकोसे अण्णं अण्ण अत्थं पत्तेइ। परिमज्जणं, संसोहणं, जहत्थं, अहिमुहं विसेसं तथा अणुभूइ, पतीति, रुचि, जहत्थ विस्सास, परिमज्जणं सम्मस्सत्थं संति।

---

* **सम्यक्त्व का अर्थ –** सम्यक् शब्द जैन दर्शन का प्राण है। जिस प्रकार नींव के बिना महल तैयार नहीं हो सकता है उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना जैन दर्शन का आधार, सार, तप, त्याग, संयम का व्यापार नहीं हो सकता।

* सम्मति सम्यक् शब्द: प्रशंसार्थोऽविरुद्धार्थौ वा सम्यक् शब्द प्रशंसा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने कहा है –

सम्यगित्यव्युत्पन: शब्दोव्युत्पन्नो वा। अञ्चते: क्वौ समञ्चतीति सम्यगिति।

सम्यक् शब्द अव्युत्पन्न अथवा रौढ़िक और व्युत्पन्न अर्थात् व्याकरण सिद्ध है। जब व्याकरण से सिद्ध किया जाता तब सम् उपसर्गपूर्वक अञ्च् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर सम्यक् शब्द बनता है जिसका अर्थ प्रशंसा है।

संस्कृत भाषा में सम् एक उपसर्ग है जिसका अर्थ होता है पूर्ण रूप से और अच्छी तरह से अञ्च् धातु जिसका अर्थ है अञ्चगति पूजनयो: इस आर्ष वाक्य के अनुसार गमन करना और पूजन करना होता है। अब समञ्चति अर्थात् जो अच्छी तरह से गमन करता हो, अपने सहज स्वभाव में परिणमन करता हो, ऐसे क्विप् प्रत्यय होकर सम्यक् शब्द बन जाता है। सम्यक् शब्द जिसका अर्थ है जो पदार्थ जैसा है वैसा ही मानने वाला।

दर्शन – दर्शन शब्द का अर्थ श्रद्धान है क्योंकि सम्यग्दर्शन में श्रद्धान इष्ट है। दर्शन शब्द की निष्पत्ति दृश् धातु ल्युट् प्रत्यय से हुई है जिसका अर्थ देखना, निरीक्षण करना, जानना या अनुभव करना है। दर्शन की व्याख्या करते हुए धवलाकार जी कहते हैं – आत्मा के स्वरूप का अवलोकन करना दर्शन है। शब्दकोष में सम्यग्दर्शन के कई अर्थ मिलते हैं विशेषत: परिमार्जन, संशोधन, यथार्थ, अभिमुख इनके अतिरिक्त अनुभूति, प्रतीति, रुचि, यथार्थ विश्वास, प्रमार्जन आदि भी सम्यक् के अर्थ हैं।

✻ पाइय हिंदी सद्दकोसे सम्म सद्दस्स अणेय अत्थ वण्णदि जं ववहार दिट्ठीए समीचीणं, सुट्ठुं, उत्तमं, सेट्ठं, पवीणं, निण्णातं, जोग्गं, कुसलं आदि। अत्थ वण्णंति । अज्झप्प दिट्ठिए सुद्धभाव, अप्पसरूव, अणुभव, अणुभूदि पतीति, रुचि, जहत्थसड्ढाण, दिढविस्सासा ।

छप्पंचणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ।। जी.का. 561।।

अण्णं आयरियओ वि सम्मदंसणं पयासेइ । लक्खणं आह – पसत्थ दंसणं सम्मद्दंसण इयं वियुप्पत्तिएण अत्थं पडिपादेइ पसत्थ दंसण सुट्ठु दंसण वा सम्मद्दंसणोत्ति । विहय दव्वसंगहे लिखिज्जइ – सव्वग्ग वीदराय पणीद सुद्ध जीवाइ तच्चाणं विसयेसु चल मलिण अगाढ अदोस वित्तीए जं सड्ढाणं रुचि णिच्छयेण वा एव णिच्छय बुद्धि सम्मद्दंसणं ।

नास्ति चार्हत्परो देवो धर्मोनास्ति दयापर: ।
तपो नास्ति च नैर्ग्रन्थ्यादेतत्सम्यक्त्वलक्षणम् ।। पद्म पु. पर्व 23

ततो सायार धम्मामिदे पंडित आसाधर वि आहं –

स्वकीये शुद्ध चिद्रूपे रुचिर्या निश्चयेन तत् ।
सद्दर्शनं मतं तज्ज्ञै: कर्मेन्धन हुताशनम् ।। सा.ध. 6

✻ प्राकृत हिंदी शब्दकोश में सम्म शब्द के कई अर्थ दिए जिसमें व्यवहार दृष्टि से समीचीन, अच्छा, उत्तम श्रेष्ठ, प्रवीण निष्णात, योग्य कुशल आदि अर्थ दिये गये हैं। अध्यात्म दृष्टि से शुद्ध भाव, आत्मस्वरूप, अनुभव, अनुभूति प्रतीति, रुचि, यथार्थ श्रद्धान, दृढ़ विश्वास।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा नं. 561 में कहते हैं–

सम्यक्त्व का लक्षण – जिनेन्द्र देव द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पंचास्तिकाय और नव प्रकार के पदार्थों का आज्ञा अथवा अधिगम से श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। अन्य आचार्यों ने भी सम्यग्दर्शन पर विशेष प्रकाश डाला है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण – प्रशस्त दर्शनं सम्यग्दर्शनम् इस व्युत्पत्ति से यह अर्थ प्रतिपादित होता है कि प्रशस्त दर्शन या उचित दर्शन सम्यग्दर्शन है।

वृहद् द्रव्य संग्रह में 41 नं. गाथा की टीका में लिखा है – सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत शुद्ध जीवादि तत्त्वों के विषय में चल मलिन अवगाढ़ रहित वृत्ति से जो श्रद्धान रुचि या निश्चय ही यह ऐसा अर्थ है इस तरह की निश्चय बुद्धि का होना सम्यग्दर्शन है।

पद्म पुराण में रविषेणाचार्य कहते हैं कि – अरहन्त से बढ़कर देव नहीं हैं, दया से बढ़कर धर्म नहीं है और निर्ग्रन्थता से बढ़कर तप नहीं है ऐसा श्रद्धान ही सम्यक्त्व का लक्षण है।

वहीं सागार धर्मामृत में पं. आशाधर जी कहते हैं – अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में जो रुचि है निश्चय से वही ज्ञानी पुरुषों के द्वारा सम्यग्दर्शन माना गया है। यह सम्यग्दर्शन कर्मरूपी ईंधन के लिए अग्नि के समान है।

जीवाइ पदत्थाणं सड्ढाणं सम्मद्दंसणं। अत्तागम जीवाइयं य संकाइ दोस रहिदं विम्मल सड्ढाणं सम्मद्दंसणं जाणीहि।

प्रशमो रागादीनां विगमोऽनन्तानुबन्धिनां संवेगा: ।
भव भयमनुकम्पाखिल सत्त्व कृपास्तिक्य मखिलतत्त्वमति: ।। अन. ध. 2:5

सम्मद्दंसणस्स गुणां वण्णदे। चारित्ताचारे अट्ठ गुण वण्णदि सो एव अत्थि –

संवेगो निर्वेदो निन्दा गर्हा तथोपशम भक्ति।
अनुकम्पा वात्सल्यं गुणास्तु सम्यक्त्व युक्तस्य।।चा.सा. 6।।

संवेगस्स व्याख्यायत

देवे दोषोज्झिते धर्मेतथ्यो शास्त्रे हिते गुरौ।
निर्ग्रन्थे योऽनुराग: स्यात् संवेग: स निगद्यते।।71।।

भोगे भुजङ्ग भोगाभे संसारेऽपारदु:खदे।
यद् वैराग्यं सरोगेङ्गे निर्वेदोऽसौ प्रचक्ष्यते।।72।।

संवेग णिव्वेद विधि णिसेह रूवं होइ। अह णिंदां आह –

शुभचन्द्राचार्य के अनुसार जो जीवादि पदार्थों का श्रद्धान होता है वही सम्यग्दर्शन है।

आ. वसुनन्दी जी श्रावकाचार में कहते हैं – आप्त, आगम और तत्त्वादिकों का जो शंकादि दोषों रहित निर्मल श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन जानना चाहिए।

अनगार धर्मामृत में सम्यक्त्व के चार चिह्नों का वर्णन करते हुए पं. आशाधर जी कहते हैं – अनंत संसार के कारणभूत रागादि का अभाव "प्रशम गुण" है। संसार से भयभीत होना "संवेग" है। सब प्राणियों पर दया भाव होना "अनुकम्पा" है और समस्त तत्त्वों में श्रद्धा होना "अस्तिक्य" है ये सम्यग्दृष्टि के चार चिह्न हैं।

सम्यक्त्व के गुण

चारित्र सार ग्रन्थ में आचार्य भगवन् ने सम्यग्दर्शन के आठ गुण बताये हैं जो इस प्रकार हैं, संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकम्पा और वात्सल्य।

संवेग की व्याख्या करते हुए आ. वसुनन्दि जी कहते हैं – दोषरहित देव, धर्म, यथार्थ शास्त्र और हितकारी निर्ग्रन्थ गुरु में जो अनुराग है वह संवेग है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थ सिद्धि में निर्वेद को परिभाषित करते हुए लिखा है – सब अभिलाषाओं का त्याग निर्वेद कहलाता है। वही चारित्र सार में कहा है – सर्प के फण के समान भोग, अपार दु:ख के देने वाले संसार और रोग सहित शरीर में जो वैराग्य होता है वह निर्वेद है। संवेग विधि रूप निर्वेद निषेध रूप होता है।

संवेग णिव्वेद विधि णिसेह रूवं होइ। अह णिंदां आह –

पुत्र मित्र कलत्रादि हेतो: कार्येविनिर्मिते।
दुष्टे योऽनुशय: पुंसो निन्दा सोक्ता विचक्षणै:।।73।।

गरहां आह –

राग द्वेषादिभिर्जाते दूषणे स्वगुरो: पुर:।
भक्त्या आलोचना गर्हा साऽर्हद्भि: प्रतिपाद्यते।।उमा.78–74।।

उवसमं आह –

रागद्वेषादयो दोषा यस्य चित्ते न कुर्वते।
स्थिरत्वं सोऽत्र शान्तात्मा भवेद् भव्यमचर्चिका।।श्रावका 1/739।।

भत्तिं आह –

सेवार्हेनाकिनाकीश पूजार्हेऽर्हति सद्गुरौ।
विनयाद्या: सपर्याद्यै: सा भक्तिर्व्यक्त मिष्यते।।76।।

वच्छलं आह –

साधुवर्गेनिसगदि यद् रोगपीडित विग्रहे।
व्यावृत्तिर्भेषजाद्यैर्योवात्सल्यं तद्धि कथ्यते।।77।।

अह अणुकम्पां आह –

प्राणिषु भ्राम्यमाणेषु संसारे दु:ख सागरे।
चित्तार्द्रत्वं दयालोर्यत् तत्कारुण्य मुदीरितम् ।।78।।

स्त्री पुत्र मित्रादि के निमित्त खोटा कार्य होने पर पुरुषों को जो पश्चाताप होता है, विद्वज्जनों के द्वारा निन्दा कही जाती है।

रागादि के द्वारा द्वेष होने पर अपने गुरु के सामने भक्तिपूर्वक जो आलोचना की जाती है वह जिनेन्द्र देव के द्वारा गर्हा कही जाती है।

जिसके चित्त में रागादिक दोष स्थिरता नहीं करते वह श्रेष्ठ भव्य उपशम का धारक होता है।

सेवा के योग्य देव तथा इन्द्रों की पूजा के योग्य अरहन्त देव और सद्गुरु में पूजा आदि के साथ जो विनयादि की जाती है वह स्पष्ट ही भक्ति मानी जाती है।

रोग से पीड़ित शरीर वाले साधु समूह की स्वभाव से औषध आदि के द्वारा जो रोग निवृत्ति की जाती है वह वात्सल्य गुण कहलाता है।

दु:ख के सागरस्वरूप संसार में परिभ्रमण करने वाले जीवों के प्रति चित्त का आर्द्र होना दयालु पुरुष की अनुकम्पा कहलाती है।

सम्मत्त मग्गणं परूवयति – सो छब्भेया – खइय खओवसमियोवशम सम्मामिच्छत्त सासण मिच्छत्त सम्मत्ता। पढमं खइय सम्मत्तं परूवयदि ।

खीणे दंसण मोहे जं सद्दहणं सुणिम्मलं होई।
तं खाइय सम्मत्तं णिच्चं कम्मक्खवण हेदु।। जी.का. 646।।

इयं सम्मत्ते अणेय विसेस संजुत्तं हवदि । जहा –

वयणेहिं वि हेदूहिं वि इंदिय मय आणएहिं रूवेहिं।
वीभच्छजुगंच्छाहिं य तेलोक्केण वि ण चालेज्जो।। जी.का.647।।

को पत्तेइ सा एव आइरिय भयवं भण्णदि –

दंसण मोहक्खवणापट्ठवगो कम्म भूमिजादो हु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ।। जी.का. 648।।

तित्थर पयडीणं बंधगो दंसण मोहस्स खवणं सग पादमूले कुव्वदि ।

सम्यक्त्व मार्गणा

आचार्य नेमिचंद सिद्धान्त चक्रवर्ती ने सम्यक्त्व मार्गणा का प्ररूपण करते हुए छह प्रकार बतलाए हैं जो इस प्रकार हैं 1. क्षायिक सम्यक्त्व 2. क्षयोपशम सम्यक्त्व 3. उपशम सम्यक्त्व 4. सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक्त्व 5. सासादन सम्यक्त्व 6. मिथ्यात्व सम्यक्त्व। सर्वप्रथम क्षायिक सम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं।

1. क्षायिक सम्यक्त्व – दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व है। वह नित्य ही कर्मों के क्षय का कारण है। यह सम्यक्त्व कई विशेषताओं को लिए हुए होता है जो इस प्रकार है।

श्रद्धान को भ्रष्ट करने वाले वचन या हेतुओं से अथवा इन्द्रियों को भय उत्पन्न करने वाले आकारों से या वीभत्स (भयंकर) पदार्थों के देखने से उत्पन्न हुई ग्लानि से किं बहुना त्रैलोक्य से भी वह चलायमान नहीं होता। यह क्षायिक सम्यक्त्व किसे प्राप्त होता है सो ही आचार्य भगवन् समझाते हैं।

कर्मभूमिज मनुष्य ही केवली के पादमूल में दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय का प्रारम्भक होता है, किन्तु निष्ठापक सर्वत्र होता है। विशेष– तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता को लिए मनुष्य जन्म से ही तीन ज्ञान के धारी होते हैं किन्तु दीक्षा धारण करते ही मन: पर्यय व सम्पूर्ण द्वादशांग के ज्ञाता श्रुतकेवली होकर दर्शन मोहनीय की क्षपणा करते हैं। जो स्वयं तीर्थंकर होने वाले होते हैं। यानी तीर्थंकर प्रकृति के बंधक दर्शनमोह की क्षपणा स्वयं के पादमूल में करते हैं।

खओवसम सम्मत्तं आह –

दंसण मोहुदयादो उप्पज्जइ जं पयत्थ सद्दहणं।
चल मलिणमगाढं तं वेदय सम्मत्त मिदि जावे।।649।।

सम्मत्तदेस घादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं।
चलमलिनमगाढं तं णिच्चं कम्मखण हेदुं।।25।।

जस्स उक्कट्ठिदि छावट्टि सायरोवम हवदि य दंसणमोहस्य खय हेदुं भवइ।

चलदोसंआह–नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं स्मृतं,
लसत्कल्लोल मालासु जलमेकमवस्थित।।
स्वकारितेऽर्हचैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते,
अन्यस्यामिति भ्राम्यन् मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते।।जी.का. टीका।।

मलिन दोसं आह –

तदप्यलब्ध माहात्म्यं पाकात्सम्यक्त्वकर्मण:,
मलिनं मलसंगेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत्।।

---

2. क्षयोपशम सम्यक्त्व

दर्शन मोह की सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जो चल, मलिन, अगाढ़ रूप पदार्थों का श्रद्धान होता है, उसे वेदक सम्यक्त्व जानना चाहिए।

देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व होता है। वेदक सम्यक्त्व चल, मलिन, अगाढ़ रूप होता है तथा नित्य होता है अर्थात् इसकी उत्कृष्ट स्थिति 66 सागर की होती है और यह दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय का हेतु है। टीका में कहा है–

चल दोष – नाना प्रकार की आत्मा के विशेषों में, गुण पर्यायों में जो श्रद्धान, उसमें चलायमान होना चल दोष है। अपने द्वारा स्थापित कराई गई मूर्ति में यह अन्य का देव है। इस प्रकार देव का भेद करना चल दोष है। जिस प्रकार जल एक होते हुए भी नाना तरंगों में भ्रमण करता है उसी प्रकार सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से श्रद्धान भी भ्रमण रूप चेष्टा करता है।

मलिन दोष – सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व को सम्यग्दर्शन का माहात्म्य प्राप्त नहीं होता जैसे शुद्ध स्वर्ण मल से मलिन हो जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से शंकादि दोषों द्वारा मलिन हो जाता है।

आगाढ दोसं आह –

स्थान एवं स्थितं कम्पभगाढ मिति कीर्त्यतं।
वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता।।
समेप्यनन्त शक्तित्वे सर्वेवामर्हतामयं,
देवोऽस्मै प्रभुरेषोऽस्मा इत्यास्था सुदृशामपि।।

अह उवसम सम्मत्तं आह – दंसण मोहस्स तिण्णि एवं वा य चारित्त मोहस्स अणंताणुबंधी चउरो सत्त–पंच पयडीणं उवसमेण उवसम सम्मत्तं होइ।

दंसणमोह उवसमदो उप्पज्जइ जं पदत्थ सद्दहणं।
उवसम सम्मत्तमिणं पसण्णमलपंकतोय तोय समं।।जीव का. 650।।
आइरिय णेमिचंद जीवकांडे–लद्धिसारेय वण्णदि
चदुगदि भव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो।
जागारो सल्लेसो सलद्धिगो सम्मभुवगमई ।।652।।

तत्थ अमितगति आइरिय पंच संगहे भणंति – भव्वत्त रयणत्तयं सिद्धि हेदुं अत्थि

तस्स जोग्गं आहः – **पूर्ण पंचेन्द्रियः संज्ञी लब्धकालादि लब्धिकः।**
सम्यक्त्व ग्रहणे योग्यो भव्यो भवति शुद्ध धीः ।।पं.सं. 286।।

अभव्वत्थं कालाइ लाहो णत्थि । अभव्व रयणत्तं जोग्गं ण भवदि ।

अगाढ़ दोष – जिस प्रकार वृद्ध पुरष के हाथ की लकड़ी काँपती रहती है, किन्तु हाथ से गिरती नहीं है उसी प्रकार वेदक सम्यग्दृष्टि का श्रद्धान चंचल होता है किन्तु यथार्थ श्रद्धान स्थित रहता है, वहाँ से च्युत नहीं होता जैसे शांतिनाथ शांति देते हैं, पार्श्वनाथ विघ्नों का नाश करने वाले हैं इस प्रकार श्रद्धान शिथिल होने के कारण अगाढ़ दोष (युक्त) है।

3. उपशम सम्यक्त्व –

दर्शन मोहनीय की तीन एवं चारित्र मोहनीय की अनंतानुबंधी चतुष्क इन सात प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व होता है।

जिस प्रकार कीचड़ के नीचे बैठ जाने से जल निर्मल हो जाता है उसी प्रकार दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम से पदार्थ का जो श्रद्धान होता है वह उपशम सम्यक्त्व है। कौनसा जीव उपशम सम्यक्त्व के योग्य होता है सो ही कहते हैं –

उपशम सम्यक्त्व की योग्यता –

गोम्मटसार जीवकाण्ड व लब्धिसार की टीका पर दृष्टिपात करते हैं तो आचार्य नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती जी कहते हैं कि – चारों गतियों का भव्य जीव, संज्ञी, पर्याप्तक, गर्भज, उपपाद जन्म वाला, विशुद्ध, साकार उपयोगी, जाग्रत, प्रशस्त लेश्या वाला और लब्धि संयुक्त जीव प्रथमोपशम का पात्र होता है। वही आचार्य अमित गति पंच संग्रह ग्रंथ में कहते हैं कि –

रत्नत्रय की सिद्धि का कारण भव्यत्व है। उसमें सबसे पहले जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसकी योग्यता बताते हैं। भव्य तो हो ही परन्तु पर्याप्त भी हो संज्ञी पंचेन्द्रिय हो, कालादि लब्धि उसे प्राप्त हो चुकी हो और उपदेश आदि के द्वारा बुद्धि शुद्ध हो चुकी हो वह सम्यक्त्व ग्रहण के योग्य समझा जाता है।

अभव्य के लिए कालादि लाभ है ही नहीं। क्योंकि, अभव्यात्मा में रत्नत्रय की योग्यता नहीं है।

उवसामेंतो कम्हि उवसामेदि? चदुसु वि, गदीसु उवसामेदि। चदुसु वि गदिसु उवसामेंतो पंचिदिएसु उवसामेदि, णो एइंदिय-विगलिंदियेसु। पंचिंदिएसु उवसामेंतो सण्णीसु उवसामेदि, णो असण्णीसु । सण्णीसु उवसामेंतो गब्भावेक्कंतिएसु उवसामेदि, णो सम्मुच्छिमेसु। गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेंतो पज्जत्तएसु उवसामेदि णो अपज्जत्तएसु । पज्जत्तएसु उवसामेंतो संखेज्जवस्साउगेसु वि उवसामे दि असंखेज्जवस्साउगेसु वि। णिरय गदीसु सत्त पुढवीसु पज्जत्तएसु उवसामेदि णो अपज्जत्तएसु तिरिक्ख गदीसु सव्व दीवसमुद्देसु गब्भज सण्णी पंचिंदियेसु उवसामेदि णो अपज्जत्तएसु । देवगदीसु भवणवासिसु उवरिम पज्जत्त पज्जत्तएसु एव उवसामेदि णो अपज्जत्तेसु। अणुदिस अणुत्तरादीसु सम्मत्त सहेणेव गमन्ति।

सगअप्पाभिमुह जीवो कमेण पंचलद्धीण पत्तिऊण उवसम सम्मत्त गिण्हेदि । तत्थ दुविहा - तिण्णि पयडीणं उदयाभावं सव्वोपसमो ।

योग्यता	**अयोग्यता**
चारों ही गतियों में पंचेन्द्रियों में उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है।	एकेन्द्रिय व विकलत्रयों में नहीं।
पंचेन्द्रियों में भी संज्ञी पंचेन्द्रियों को होता है।	असंज्ञियों में नहीं
संज्ञी में भी गर्भजों के होता है।	सम्मूर्च्छनों के नहीं
पर्याप्तकों में संख्यात वर्ष की व असंख्यात वर्ष की आयु वालों को होता है।	अपर्याप्तकों को नहीं
नरक गति में सातों पृथ्वियों में पर्याप्तकों को ही होता है।	अपर्याप्तकों को नहीं
तिर्यंच गति में सभी द्वीप समुद्रों में गर्भज, संज्ञी पंचेन्द्रिय को होता है।	अपर्याप्तकों को नहीं
देव गति में भवनवासियों से लेकर उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त पर्याप्त को ही होता है।	अपर्याप्तकों के नहीं

सम्यक्त्व की उपलब्धि में कारण पाँच लब्धि

स्वात्माभिमुख जीव पंचलब्धियों को क्रम से प्राप्त करता हुआ उपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करता है। उपशम दो प्रकार का होता है।

सर्वोपशम तीन प्रकृतियों के उदयाभाव को सर्वोपशम कहते हैं।

नोट - अनुदिश अनुत्तरादि में नहीं होता क्योंकि वहाँ सम्यक्त्व सहित ही जीव जाते हैं।

तिण्णि पयडीणं उदयाभावं सव्वोपसम व सम्मत्त पयडी संबंध देसघादि उदयं देसोवसमना भणन्ति यं पंच लद्धि पुव्वं हवइ जं पंच संगहे आह –

क्षयोपशमिकीं लब्धिं शौद्धीं दैशनिकीं भवी।
प्रायोगिकीं समासाध कुरुते करणत्रयम्।।पं.सं. 287।।
खओवसमिय विसोही देसणा पाउग्ग करणलद्धीय।
चत्तारि विसामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते।। जी.का. 651।।

पंच लद्धीसु वण्णिदुं पढम खओवसमिय लद्धि सरूवं आह –

प्रागुपात्त कर्म पटलानुभाग स्पर्द्धकानां शुद्धियोगेन
प्रति समयानंत गुण हीनानामुदीरणा क्षायोपशमिकी लब्धिः
कम्ममलपडलसत्ती पडिसमयमणंत गुण विहीण कमा।
होदूणुदीरदि जदा तदा खओवसम लद्धी दु।।ल.सा. 4।।

जत्थ हिदाहिय वियारेइ य हिद कज्जमाणे तत्थ खओवसम लद्धि होइ।

देशोपशम – सम्यक्त्व प्रकृति संबंधी देशघाती के उदय को देशोपशमना कहते हैं जो पंचलब्धि पूर्वक होती है जिनको पंच संग्रह में इस प्रकार वर्णित किया है जो इस प्रकार है –

क्षायोपशमिकी लब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि। इनमें से चार लब्धि प्राप्त हो जाने पर कदाचित् करण अर्थात् तीन करण को जीव करता है। आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं कि क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पाँच लब्धियाँ होती हैं। इनमें से चार तो सामान्य हैं परन्तु करण लब्धि होने पर सम्यक्त्व अवश्य ही होता है। पंच लब्धियों का वर्णन करते हुए प्रथम लब्धि का स्वरूप बताते हुए आ. भगवन् कहते हैं –

क्षायोपशमिक लब्धि– शुद्धि के द्वारा प्रति समय अनंतगुणे हीन हुए पूर्वोक्त कर्म पटलों के अनुभाग स्पर्द्धकों की उदीरणा होना क्षयोपशम लब्धि है।

* कर्मदल रूप पटल की फलदान शक्ति अर्थात् अनुभाग जिस काल में प्रति समय क्रम से अनन्तगुणा हीन होकर उदय को प्राप्त होता है वह क्षयोपशम लब्धि है।

* जहाँ हित अहित का विचार होने लगे वह क्षयोपशम लब्धि है। जो हित अहित का विचार करते हैं वे ही हित कर बैठते हैं।

अह विसुद्धि लद्धिं आह – अणंतगुणाहीणं कमेण पडिसमयं उदीरित अणुभागा फड्ढणेण उप्पज्जमाण सादादि सुह कम्माणं बंध हेदु य असातादि असुह कम्माणं बंध विपरीद परिणामं विसुद्धि तस्स पत्तिणामं विसुद्धि लब्धि । एवं मणस्स णिम्मलतां चागवृत्ति बड्ढणं रागवित्त हासं विसुद्धि लद्धि सति ।

स्वीकारोत्ति णामं देसण लद्धि....

छद्दव्वणवपयत्थोपदेसयर सूरि पहुदि लाहो जो।
देसिद पदत्थ धारण लाहो वा तदिय लद्धी दु।।ल.सा. 6।।

आगमं, सच्चं, पवयणं, अंतरे अवधारणं देसणालद्धि होइ । जाइसुमरणं वेयणाणुभवा वि देसणां भवइ। जोग्गांणं उप्पज्जिइ पाओग्ग लद्धि हवइ ।

अंत: कोड़ाकोड़ी विट्ठाणे ठिदि रसाण जं करणं।
पाउग्ग लद्धिणामा भव्वाभव्वेसु सामण्णा।। ल.सा. 1/7।।

कम्माणं तिव्वोदय विसुद्धिं ण वुड्ढेइ । जहेव तच्च णाणेण विसुद्धि वुड्ढेइ कम्मट्ठिदिं ऊणं करेदि।

करणलद्धिसु अंतर पुरुसत्थेसु केवलं भासा भेयं अत्थि। ''करणो परिणामो'' करण सद्दत्थ परिणामो। जेण परिणामेण उवसमादि रूव विवक्खिद भाव उप्पज्जइ सो करणं भणइ।

विशुद्धि लब्धि– प्रतिसमय अनंत गुणित हीन क्रम से उदीरित अनुभाग स्पर्द्धकों से उत्पन्न हुए साता आदि शुभ कर्मों के बंध निमित्त भूत और असाता आदि अशुभ कर्मों के बंध विरोधी जो जीव के परिणाम हैं उसे विशुद्धि कहते हैं। उसकी प्राप्ति का नाम विशुद्धि लब्धि है।

❊ मन की निर्मलता बढ़ना, त्याग प्रवृत्ति बढ़ना, राग प्रवृत्ति घटना।

देशना लब्धि– स्वीकारोक्ति– सद्धर्म का सुलभ है सुनना सुनाना, श्रद्धान पर कठिन है उसका जमाना।। छह द्रव्य और नव पदार्थ का उपदेश करने वाले आचार्यादि का लाभ अथवा उपदिष्ट पदार्थों के धारण करने की शक्ति की प्राप्ति को देशना लब्धि कहते हैं। देशना = आगम/सत्य बात/प्रवचन/सही विवेचन को अंदर उतारना जाति स्मरण वेदना अनुभव भी देशना बन जाते हैं।

प्रायोग्य लब्धि = योग्यता पैदा करना

कर्मों की स्थिति को अंत: कोड़ाकोड़ी तथा अनुभाग को द्विस्थानिक करने को प्रायोग्य लब्धि कहते हैं। यह भव्य और अभव्य दोनों को हो सकती है।

❊ कर्मों का तीव्र उदय विशुद्धि नहीं बढ़ने देता। जैसे ही तत्त्व का ज्ञान होता है विशुद्धि बढ़ती है कर्म स्थिति को कमजोर करती है।

करण लब्धि– करण लब्धि और अंतरंग पुरुषार्थ में केवल भाषा का भेद है। ''करण: परिणाम:'' करण शब्द का अर्थ परिणाम है। जिस परिणाम विशेष के द्वारा उपशमादि रूप विवक्षित भाव उत्पन्न किया जाता है वह परिणाम करण कहलाता है।

इमे पंच लद्धीसु पुव्वं चउरो सामण्णं अत्थि भव्वाभव्वाणं दोण्णि होंति । करणलद्धि सम्मत्त समये केवलं भव्वस्स होदि।

पाओग्गस्स पच्छा अभव्वस्स जोग्ग परिणामं लंघिऊण भव्व जीवो अधापवित्त करणं, अपुव्वयरणं, अणियाट्टिकरणं करेदि। करणलद्धीज्ज तरतमतां लहिदुं पुव्वुत्त तिण्णि भेदा संति। पढमं अधपवित्त करणं आह –

जत्थ सम समयवट्ठीणं परिणाम विसम समयट्टीणस्स परिणाम समविसम वि होंति तं अधा पवित्तकरणं भण्णदि। अस्स अत्थसंदिट्ठि असंखेज्ज लोय पमाणं अत्थि जं वयं खओवसमओ परे अत्थि अंक संदिट्ठिआ जाणीहि पयासेइ ।

इन पाँचों लब्धियों में से पहली चार तो सामान्य हैं जो भव्य अभव्य दोनों के होती हैं। किन्तु करण लब्धि भव्य को सम्यक्त्व होने के समय ही होती है।

प्रायोग्य के पश्चात् अभव्य के योग्य परिणामों को लाँघकर भव्य जीव अध:प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण को करताहै। करण लब्धि तरतमता के लिए हुए पूर्वोक्त तीन प्रकार के होते हैं। जिसमें प्रथम अध:प्रवृत्तकरण को समझाते हुए आचार्य भगवन कहते हैं –

अध:प्रवृत्तकरण का लक्षण– जहाँ समान समयवर्ती जीवों के परिणाम व असमान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान भी होते हैं और असमान भी होते हैं उसे अध:प्रवृत्तकरण कहते हैं।

इसकी अर्थ संदृष्टि असंख्यात लोक प्रमाण है जिसे समझना हमारे क्षयोपशम के परे है अंक संदृष्टि से समझने की कोशिश करते हैं।

व्येकपदार्धघ्न चय गुणोगच्छं उत्तरधनं

सर्वधन 3072

मूल/आदिधन = सर्वधन – उत्तर धन = आदिधन 3072 – 480 = 2592

प्रचय/उत्तरधन पद – 1 ÷ 2 = 7 × चय × पद = 16–1=15÷2=7½×4=30×16=480

ऊर्ध्वचय सर्वधत 3072÷16×16÷256×3=4

पदकृति संख्यात की सहनानी

पद कृति/पद का वर्ग 16 × 16 = 256

अनुकृष्टि रचना– अंक संदृष्टि में संवर्धन 3072 में से चय धन 480 घटाने पर आदिधन 2592 होता है इसमें पद 16 का भाग देने पर 162 आया सो यह प्रथम समय विशुद्ध परिणामों का प्रमाण जानना इसमें चय प्रमाण 4 मिलाने पर 166 द्वितीय समय के परिणामों प्रमाण है इसी प्रकार चय बढ़ाते–बढ़ाते समयों का प्रमाण प्राप्त होता जो इस प्रकार है – 162, 166, 170, 174, 178, 182, 186, 190, 194, 198, 202, 206, 210, 214, 218, 222।

परिपाटी क्रम से रहित इन परिणामों से पुनरुक्त और अपुनरुक्त अनुसंधान करना अनुकृष्टि है। ''अनुकर्षणमनुकृष्टि'' परिणामों की परस्पर समानता का विचार करना यह अनुकृष्टि का एकार्थ है इसका काल अंतर्मुहूर्त है। क्योंकि यह काल अध:प्रवृत्तकरण काल के संख्यातवें भाग प्रमाण है। ज.ध. पु. 12 पृ. 236।

यहाँ अनुकृष्टि गच्छ का ऊर्ध्वचय में भाग देने पर 4 ÷ 4 = 1 प्राप्त हुआ यह अनुकृष्टि का चय है। ''व्येकपदार्थघ्नचय गुणों गच्छं उत्तर धनं'' 4 – 1 = 3 ÷ 2 = 1½ × 1 = 1½ × 4 = 6 हुए अनुकृष्टि का प्रचय धन है। सर्वधन 162 में प्रचय धन 6 घटाने पर = 156 रहे उसे अनुकृष्टि के गच्छ 4 से भाग देने पर 39 आये यह प्रथम समय की अनुकृष्टि के प्रथम खण्ड के परिणामों की संख्या जानना।

उस आदि खण्ड से द्वितीयादि खण्डों में तिर्यक रूप से एक-एक अनुकृष्टि का चय बढ़ाना जिससे 39, 40, 41, 42 द्वितीय समय में 40, 41, 42, 43, इन दोनों में 40, 41, 42 परिणाम समान हैं। इसी प्रकार तृतीयादि में जानना ऐसे ऊर्ध्व व तिर्यक प्रचय रूप दोनों रचना अध:प्रवृत्तकरण में है।

प्रथम समय का प्रथम खण्ड व अंतिम समय का अंतिम खण्ड बिना उपरितन सर्वखंड संबंधी परिणामों के अधस्तनखंड सम्बन्धी परिणामों से यथासम्भव समानता है सो इस करण का नाम अध:प्रवृत्तकरण है।

माना कि अध:करण के समस्त परिणाम = 3072 हैं जिसे सवर्धन कहते हैं। उत्तर धन = 480 मूलधन/आदिधन 3072 – 480 = 2592

अन्तर्मुहूर्त के समय = 16 समय, निर्वर्गणा काण्डक = 4 समय/असंख्यात समय

उत्तर धन का सूत्र एक कम गच्छ = 16 – 1 = 15 ÷ 2 = 7.5 × 4 = 30 × 16 = 480

ऊर्ध्वचय का सूत्र = माना 4 संख्यात की सहनानी = 3

तिर्यक चय का सूत्र

प्रथम समय के परिणाम सर्वधन 3072 – 480 = 2592 ÷ 16 = 162

अध: प्रवृत्तकरण में अनुकृष्टि रचना

समय	एक समय के समय खण्ड = तिर्यक चय				
	प्र.खं.	द्वि. खं.	तृ. खं.	च. खं.	16 समयवर्ती के परिणाम संख्या
16	54	55	56	57	= 222
15	53	54	55	56	= 218
14	52	53	54	55	= 214
13	51	52	53	44	= 210
12	50	51	52	53	= 206
11	49	50	51	52	= 202
10	48	49	50	51	= 198
9	47	48	49	50	= 194
8	46	47	48	49	= 190
7	45	46	47	48	= 186
6	44	45	46	47	= 182
5	43	44	45	46	= 178
4	42	43	44	45	= 174
3	41	42	43	44	= 170
2	40	41	42	43	= 166
1	39	40	41	42	= 162

विसुद्धि पडिसमयं अणंतगुणा बुड्ढेइ । पडिसमयं अणंतगुणा विसोहिअ विसुद्ध होइऊण ठिदिकाण्ड घाद, अणुभागकाण्ड घाद गुणसेढी णिज्जरा य गुणसंकमणं चत्तारि कज्जं ण किरियमाणं किं च अणंतगुणी विसुद्धीअ पसत्थ पयडीणं चदुट्ठाणीय व अप्पसत्थ पयडीणं बेट्ठाणीय बंधं करेदि च सहस्साणं बंधापसरणं कज्जमाणं जं. पाओग्ग लद्धीसवं पारब्भेन्ति।

विसुद्धीअ उड्ढीए वड्ढमांण व पढमोवसम सम्मत्तस्स अभिमुंह मिच्छाइट्ठी सत्त कम्माणं ट्ठिदि बंध अंतो कोडाकोडीणं बंधदि । अहवा पुव्वबंध कम्मट्ठिदिणे अंत:कोडाकोडीणं करेदि च णवीण कम्माणं अंतो कोडाकोडी बंधदि । पलिदोवमस्स संखेज्जदि भाग ऊण ट्ठिदि अंता कोडाकोडी पलिदोवमस्स संखेज्ज भागा त्ति । अंतो कोडाकोडी सायरोवमेण सत्त अट्ठ सय सायरोवम पमाणं घट्टेदि । अंतोमुहुत्तात पलिदोवमस्स असंखेज्जदि भागोण अंता कोडाकोडी सायरोवम समाणं बंधदि पच्छा तं पलिदोवमस संखेज्ज भागोण ठिदिं अंतोमुहुत्तादो बंधदि । कमेणेण बे पलिदोवमस संखेज्जभागोण ट्ठिदिं अंतोमुहत्तात बंधदि । पुणो इमेण कमेणेण ट्ठिदिं हीणं करिदुं एयं-बे सायरोवम सत्त अट्ठ सय सायरोवम ऊणं करेदि तथ्य एयं पढमं बंधापसरणं होदि ।

पुव्वुत्त कमेण सदपुधत्त सायरोवमाणि ट्ठिदि ऊणं करमाणं चउतीस बंधापसरणं करेदि । ते बंधापसरण पाओग्गलद्धि, अधा करण लद्धि अपुव्वयरण लद्धि य, अणयट्रियरण लद्धीसु करेदि ।

यहाँ पर प्रति समय अनंतगुणी विशुद्धि बढ़ती जाती है। प्रत्येक समय में अनंतगुणी विशुद्धि से विशुद्ध होता हुआ स्थिति काण्डक घात, अनुभाग काण्डक घात, गुणश्रेणी निर्जरा और गुण संक्रमण इन चार कार्यों को नहीं करता है किन्तु अनंतगुणी विशुद्धि के द्वारा प्रशस्त प्रकृतियों का चतु:स्थानीय और अप्रशस्त प्रकृतियों का द्विस्थानीय बंध करता है तथा साथ ही हजारों बंधापसरण करता है जो कि प्रायोग्य लब्धि से ही प्रारम्भ हो जाते हैं।

बंधापरण– विशुद्धि की वृद्धि के द्वारा वर्धमान तथा प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि सातकर्मों का अन्त: कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थितिबंध करता है। अर्थात् पूर्व बंधे कर्मों की स्थिति को अन्त: कोटाकोटी कर लेता है और नवीन कर्मों की स्थिति अंत: कोटाकोटी बाँधता है। पल्य के संख्यातवें भाग हीन स्थिति कर जो अंत: कोटाकोटी-पल्य का संख्यातवाभाग है। अन्त: कोटाकोटी सागरोपम स्थिति बंध से सात सौ आठ सौ सागर प्रमाण स्थिति बंध घटाने का क्रम इस प्रकार है – अन्त: कोटाकोटी सागर प्रमाण स्थिति बंध से पल्य के संख्यातवें भाग से हीन अंतर्मुहूर्त पर्यन्त समानता लिए हुए ही बाँधता है फिर उससे पल्य के संख्यातवें भाग हीन स्थिति को अन्तर्मुहूर्त तक बाँधता है इसी क्रम से दो पल्य हीन, तीन पल्य हीन इत्यादि स्थिति को अन्तर्मुहूर्त तक बाँधता है पुन: इसी क्रम से आगे-आगे स्थिति का ह्रास करता हुआ एक सागर, दो सागर ही न करता हुआ जब सात सौ – आठ सौ सागर स्थिति कम कर लेता तब एक पहला बंधापसरण होता है।

उपर्युक्त क्रम से शत पृथक्त्व सागरोपम स्थिति हीन करता है यही क्रम आगे भी चलता है 34 बंधापसरण होते हैं।

ये बंधापसरण प्रायोग्य लब्धि, अध:करण, अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण में करता है।

अपुव्वयरण परिणामेसु समयवट्टी जीवाणं परिणामेसु केणवि सामाण्णं ण पत्तेइ किं च एग समयाणं जीवाणं सामण्णं असामण्णं दोण्णि । अपुव्वयरणस्स कालो अंतोमुहुत्त होदि । जम्हे चत्तारि आवस्सं होंति । गुण सेढी णिज्जरा, गुण संकमणं, ठिदि काण्डघाद य अणुभाग काण्डघादं इति ।

समसमयट्टीणं जीवाणं परिणामाणं अभेय वित्तिं णिव्वित्ति त्ति अहवा णिव्वित्तिं वावित्ति वि । अतो जं परिणामाणं णिव्वित्ति णत्थि तं एव अणियट्टि भणन्ति ।

अंतोमुहुत्तं अणियट्टियरण कालेसु केणवि एगं समयवट्टी अणेय जीवाणं जत्थ सरीर आयार वण्णादि बहि रूपेण य णाणोवजोगादि अंतर रूपेण भेदं पत्तिं तत्थ जेण परिणामेण तेसुं भेदं ण पत्तिं तं अणियट्टियरण परिणाम धारगं भणंति तं पडिसमये उत्तरोत्तर अणंतगुण विसुद्धीण वड्ढमाण समाण परिणामेव पत्तिं। अणियट्टियरणेसु एवं चत्तारि कज्जं होंति।

तिण्णि एव करणस्स कालो अंतोमुहुत्तं च पत्तेय काल एव अंतोमुहुत्तं। जेसु अणियट्टियरणस्स कालं थोवो तं संखेज्जगुणिद कालो अपुव्वयरणस्स तं वि संखेज्जगुणिद कालो अधापवित्तयरणस्स अत्थि।

अपूर्वकरण का लक्षण

ध.पु. 1 में आचार्य भगवन् कहते हैं अपूर्वकरण परिणाम में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों की अपेक्षा कभी भी सदृशता नहीं पायी जाती है किन्तु एक समयवर्ती जीवों के परिणामों की अपेक्षा सदृशता एवं विदृशता दोनों पायी जाती है। इस अपूर्वकरण का काल अन्तर्मुहूर्त होता है। जिसमें चार आवश्यक होते हैं 1. गुणश्रेणी निर्जरा 2. गुण संक्रमण 3. स्थितिकाण्डक घात 4. अनुभाग काण्डक घात।

अनिवृत्तिकरण का लक्षण

समान समयवर्ती जीवों के परिणामों की भेद रहित वृत्ति को निर्वृत्ति कहते हैं अथवा निवृत्ति शब्द का अर्थ व्यावृत्ति भी है। अतएव जिन परिणामों की निर्वृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती उन्हें ही अनिवृत्ति कहते हैं।

अन्तर्मुहूर्त मात्र अनिवृत्तिकरण के काल में से किसी एक समय में रहने वाले अनेक जीव जिस प्रकार शरीर के आकार, वर्ण आदि बाह्य रूप से और ज्ञानोपयोगादि अंतरंग रूप से परस्पर भेद को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार जिन परिणामों के द्वारा उनमें भेद नहीं पाया जाता है उनको अनिवृत्ति परिणाम वाले कहते हैं और उनके प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर अनंतगुणी विशुद्धि से बढ़ते हुए एक समान ही परिणाम पाये जाते हैं। अनिवृत्तिकरण में भी चार आवश्यक कार्य होते हैं।

तीनों ही करण का काल अन्तर्मुहूर्त है एवं प्रत्येक का काल भी अन्तर्मुहूर्त है जिसमें अनिवृत्तिकरण का काल स्तोक है उससे संख्यातगुणा काल अपूर्वकरण का उससे भी संख्यातगुणा काल अध:प्रवृत्तकरण का है।

अणियट्टिकरणस्स संखेज्ज बहुभाग बीदमाणे जीवो अंतरकणं पारब्भेदि जम्हि मिच्छत्तस्स दव्वं उपरितण ट्ठिदि य अधोट्ठिदिसु खेवदि। जं - आगाल पडिआगालं वुच्चइ। जं समये मिच्छत्तस्स दव्वं आवली व पडिआवली पमाणं रहेदि तं समये आगाल पडिआगाल सम्मत्ता। जम्हि समये सव्व दव्वस्सं अंतरकरणं करमाणं तेणसमयेण जीवो उवसामगो होदि। जं उवसामाद्धायरणं भणदि।

कमेण अधापवत्तयरणं, अपुव्वयरणं अणियट्टियरणं च तिण्णि णिज्जराअ परिणामा सन्ति। इमाणि तिण्णि करणं करमाणेव जीवो सम्मत्तं गिण्हदि।

को कुव्वदि? उवसम सम्माहिमुहो जीवो, दंसण मोहस्स खवणासु तप्परो जीवो, विदियोवसमक जीवो खविय सेढी आरोहणी जीवो, अणंताणुबंधिणो विसंयोजगो, इमाणि सव्व जीवो तियरण पुव्वेव सग-सग किरिय लक्खं वा पुण्णं करेंति।

तियरण पच्छा दंसणमोहणीयस्स तिण्णि खंडं भवन्ति। तं अवत्थायां मिच्छत्तस्स अणुदयेण जं णिम्मल सड्ढाणं होदि सो एव पढमोवसम सम्मत्तं।

अनिवृत्तिकरण का संख्यात बहुभाग व्यतीत हो जाने पर जीव अंतरकरण प्रारम्भ करता है जिसमें मिथ्यात्व के द्रव्य के उपरितन स्थिति व अध:स्थिति में क्षेपण करता है जिसे आगाल व प्रत्यागाल कहते हैं। जिस समय मिथ्यात्व का द्रव्य आवली व प्रत्यावली प्रमाण रह जाता है उस समय आगाल व प्रत्यागाल समाप्त हो जाते हैं। जिस समय सारे द्रव्य का अन्तरकरण कर चुकता है उसी समय से यह जीव उपशामक कहलाता है जिसे उपशमाद्धाकरण भी कहते हैं।

त्रिकरण का महात्म्य

क्रमश: अध:प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीनों विशिष्ट निर्जरा के कारणभूत परिणाम हैं। (ल.सा. 34) इन तीनों करण को करने वाला जीव ही सम्यक्त्व ग्रहण कर सकता है।

त्रिकरण कौन-कौन करते हैं - यह तीनों करण और कौन-कौन जीव करते हैं सो ही आचार्य भगवन्त कहते हैं कि सर्वप्रथम तो

उपशम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ जीव
दर्शन मोह की क्षपणा करने वाला "
द्वितीयोपशम करने वाला "
क्षपक श्रेणी पर चढ़ने "
अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाला " ये सभी जीव त्रिकरण पूर्वक ही अपनी क्रिया या लक्ष्य को पूर्ण करते हैं।

तीन करण पश्चात् दर्शनमोहनीय के तीन खण्ड हो जाते हैं उस अवस्था में मिथ्यात्व का उदय न होने के कारण निर्मल श्रद्धान होता है वही प्रथमोपशम सम्यक्त्व है।

किं णिमित्तं ? बहि अंतरा बे णिमित्ता संति।

जस्स हेदु उवलद्धिए कज्जस्स सिद्धिं भवदि य अणुवलद्धिए सिद्धिं णत्थि सो हेदु वुच्चदि। सव्व कज्जाणं कारणं होदि एसो णायं अत्थि। जं बहि दव्वेणालम्बणेण होदि च परं दिट्ठिदि सो बहि णिमितं भवदि।

महापुराणे णवम पव्वेसु आह– देसण य काललद्धि बहि हेदु अत्थि णय चक्केसु तित्थर केवली, समण दंसण, जाइसुमरण, सत्थ, देवमहिमाइ बहु कारणं संति। **दव्वं–** जिणंबिंबादि दव्वं, **खेत्तं–** समवसरणादि खेत्तं, **कालो–** अद्धपोग्गल परायट्टंणादिकालो विसेसं, **भावं–** अहापवित्तयरणादि भावा संति। सव्वत्थसिद्धिसु आइरिय भयवं उच्चदि – जाइसुमरणं, जिणबिंब दंसणं, धम्मसवणं, जिणमहिमा दंसणं, देवरिद्धि दंसणं, वेयणाणुभवं च वि सम्मत्तोप्पत्तिसु बहि कारणं संति।

अंतरंग हेदु दंसण मोहस्स उवसम आदाए कम्मस्स सगसत्तिअ कारणेस ज पगद्धइ जहा–कृतकादि दव्व संबंधेण जले मलं उवसमदि, खयं पडिपक्खि कम्माणमभावा खयं अत्थि। खओसम फलदाण समत्थ रूवेण उब्भवो अणुब्भवो च खओवमो त्ति।

सम्यक्त्व प्राप्ति के निमित्त

उस सम्यक्त्व प्राप्ति के निमित्तों को बतलाते हैं जिसमें **बाह्य** और **अभ्यन्तर** दो कारण मुख्य हैं।

जो कार्य जिस हेतु के होने पर ही हो और न होने पर न हो उसे कारण कहते हैं। सभी कार्यों का कारण होता है, ऐसा न्याय है। जो बाह्य द्रव्य के आलम्बन से होता है और दूसरों के देखने में आता है और वह बाह्य निमित्त कहलाता है।

सम्यक्त्व उत्पत्ति के बाह्य कारण

महापुराण के नवम् पर्व में आचार्य भगवन् कहते हैं देशना लब्धि और काल लब्धि आदि बहिरंग कारण है।

नय चक्र में आ. कहते हैं तीर्थंकर, केवली, श्रमण, जातिस्मरण, शास्त्र, देवमहिमा आदि बहुत से कारण हैं। श्लोक वार्तिक में कहते हैं।

द्रव्य – जिनबिम्ब आदि द्रव्य हैं।

क्षेत्र – समवशरण आदि क्षेत्र हैं।

काल – अर्द्धपुद्गल परावर्तन आदि काल विशेष है।

भाव – अध:प्रवृत्तकरण आदि भाव हैं। सर्वार्थ सिद्धि में आचार्य भगवन् कहते हैं – जातिस्मरण, जिनबिम्ब दर्शन, धर्मश्रवण, जिनमहिमा दर्शन, देवर्द्धिदर्शन एवं वेदनानुभव ये भी सम्यक्तोत्पत्ति में बाह्य कारण हैं।

सम्यक्त्व उत्पत्ति के अभ्यन्तर कारण– सम्यक्त्व के अंतरंग हेतु दर्शनमोह के उपशम, क्षय, क्षयोपशम हैं।

उपशम– आत्मा में कर्म की निजशक्ति का कारणवश प्रकट न होना उपशम है जैसे–कतक आदि द्रव्य के संबंध से जल में कीचड़ का उपशम होता है।

क्षय– प्रतिपक्षी कर्मों का अभाव क्षय है।

क्षयोपशम– फलदान समर्थ रूप से कर्मों का उद्भव तथा अनुद्भव सो क्षयोपशम है। (पंचास्तिकाय ता.वृ.56)

चारों गतियों में सम्यक्त्व उत्पत्ति के बाह्य कारण

गति	जिनबिंब दर्शन	धर्म श्रवण	जाति स्मरण	वेदना अनुभव	देवर्द्धि दर्शन
नरग गति–					
एक से तीन पृथ्वी	x	✓	✓	✓	x
चार से सात पृथ्वी	x	x	✓	✓	x
तिर्यंच गति–					
पंचे. संज्ञी, गर्भज	✓	✓	✓	x	x
भोगभूमिज					
कर्मभूमिज	✓	✓	✓	✓	x
मनुष्य गति–					
मनुष्य गर्भज भोगभूमिज	✓	✓	✓	✓	x
कर्मभूमिज	✓	✓	✓	✓	x
देवगति–					
भवनवासी	✓	✓	✓	x	✓
व्यंतर	✓	✓	✓	x	✓
ज्योतिषी	✓	✓	✓	x	✓
एक से बारह स्वर्ग	✓	✓	✓	x	✓
तेरह से सोलह ''	✓	✓	✓	x	x
नव ग्रैवेयक	x	✓	✓	x	x
नव अनुदिश	x	x	x	x	x
पंच अनुत्तर	x	x	x	x	x

नोट –

नव अनुदिश एवं पाँच अनुत्तर विमानों में बाह्य कारण नहीं है। क्योंकि वहाँ सम्यक्त्व सहित जीव ही जाते हैं। सम्यग्दृष्टी ही होते हैं।

न सम्यक्त्व समं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि। र.क.श्रा. 34

ओजस्तेजो विद्यावीर्य यशोवृद्धि विजय विभव सना था।
महाकुला महार्था मानवतिलिका भवन्ति दर्शनपूता:।।र.क.श्रा. 36।।

जह तारायाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावय दुविह धम्माणं।।भा.वा. 142।।

सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके सम्यक्त्वं मोक्ष साधनम्।
ज्ञानचारित्रयोर्बीजं मूलं धर्म तरोरिव।।ला.स.।।

अतुल सुख निधानं सर्व कल्याण बीजं, जनन जलधि पोतं भव्य सत्त्वैक पात्रम्।
दुरित तरु कुठारं पुण्य तीर्थ प्रधानं, पिबतु जित विपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बु।।ज्ञा. 59।।

सम्यक्त्व रत्नान्नपरं हि रत्नं, सम्यक्त्व मित्रान्न परं हि मित्रम्।
सम्यक्त्व बन्धोर्न परो हि बंधु:, सम्यक्त्व लाभान्न परो हि लाभम्।।स.कौ. 17।।

सम्यक्त्व की महिमा

सम्यग्दर्शन की महिमा अर्थात् महात्म्य पर अनेक आचार्यों ने विविध रूप से प्रकाश डाला है विशेष रूप से आ. समन्तभद्र स्वामी जी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है –

तीनों कालों और तीनों लोकों में जीवों का सम्यक्त्व के समान कोई भी कल्याणकारी नहीं है। और भी कहा है कि – सम्यक्त्वी जीव कान्ति, प्रताप, विद्या, वीर्य, यशोवृद्धि विजय तथा वैभव से युक्त होते हैं वे उच्च कुलीन, मोक्ष साधक तथा मनुष्यों में शिरोमणि होते हैं।

भाव पाहुड़ में आ. कुन्दकुन्द देव लिखते हैं कि – जिस प्रकार ताराओं में चन्द्र और पशुओं में सिंह प्रधान हैं उसी प्रकार मुनि व श्रावक दोनों धर्मों में सम्यक्त्व ही प्रधान है।

लाटी संहिता में राजमल जी कहते हैं – जगत् में सम्यग्दर्शन दुर्लभ है, सम्यग्दर्शन मोक्ष का कारण है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का बीज है तथा धर्म रूपी वृक्ष की जड़ के समान है।

आ. शुभचन्द्र ज्ञानार्णव ग्रन्थ में कहते हैं कि जो अनुपम सुख का निधान है, समस्त कल्याणों का बीज है, संसार रूपी समुद्र का जहाज है, भव्य जीवों का मुख्य पात्र है, पाप के लिए कुठार है, पुण्य तीर्थों में प्रधान है तथा प्रतिपक्ष को जीतने वाला है ऐसे सम्यग्दर्शन नामक अमृत जल का पान करो।

वहीं सम्यक्त्व कौमुदी में बताते हैं कि – सम्यक्त्व रूपी रत्न से बढ़कर दूसरा रत्न नहीं है, सम्यक्त्व रूपी मित्र से बढ़कर दूसरा मित्र नहीं है, सम्यक्त्व रूपी बंधु से बढ़कर दूसरा बंधु नहीं है और सम्यक्त्व के लाभ से बढ़कर दूसरा लाभ नहीं है।

जीवकाण्ड में मति ज्ञान व ज्ञान मार्गणा

–श्रमणी आर्यिका विनेहश्री
उच्चारणाचार्य 108 श्री विनम्रसागर जी महामुनिराज

सिद्धं सुद्धं पणमिय जिणिंद वर णेमिचन्द्र मकलंकं।
गुण रयण भूसणुदयं, जीवस्स परूवणं वोच्छं।।

सरस्वती नमस्तुभ्यं वरदे कामरूपिणि।
विद्यारंभं करिष्यामि सिद्धि–र्भवतु मे सदा।।

समणाइरियं विणम्मसायरं तिजोगगुत्ति हु णमस्सामि
दसण णाण चरित्त पंचाचार जुत्तेहिं।।

सर्वप्रथम भावों के दर्पण महान् ग्रंथ जीवकांड के कृतिकार बहुश्रुत ज्ञान के धनी आचार्य प्रवर नेमिचन्द्र सि. चक्रवर्ती को मेरा कोटि–कोटि प्रणाम। हे अज्ञानियों के उद्धारक, हे चर्या चूड़ामणि हे योगीश्वर! गुरु णाम गुरु सूरिगच्छाचार्य विरागसागर गुरुदेव को नमन करती हूँ। गणधर परमेष्ठी के रूप में मंच पर साक्षात् विराजमान सारस्वत पुत्र, आगम के मसीहा श्रमण परम्परा के आराध्य, वात्सल्यमयी साधना के प्रशिष्य देह में रहकर विदेह की यात्रा करने वाले, पंथ और ग्रंथ से अबाध्य, महावीर के लघुनंदन, विराग के चिराग, उच्चारण में प्रसिद्ध हे सूरीश्वर! कोटि–कोटि नमन। समस्त श्रमण मुनियों को नमन।

सारस्वत मनीषी विद्वत वर्ग के सम्मुख संगोष्ठी में निर्धारित विषय हैं – जीवकांड भावों का दर्पण है, आचरण का आधार है, यह जीवों के समूह का सम्पूर्ण बोध कराता है, जीवकांड को जाने समझे बिना न जीवन को समझ सकते, न सत्य को समझ सकते, न दिगम्बरत्व को समझ सकते, न तत्त्व के सार को समझ सकते, जीवकांड का अध्ययन करके सच्चे ज्ञान को समझकर विकल्पों से मुक्त होकर सहज स्वभाव में आते हैं।

आ. भगवन् कुंदकुंद ज्ञान पाहुड में लिखते हैं –

णाणं णरस्स सारो – ज्ञान ही नरजीवन का सार है – जैसे दूध का सार घी है, फल का सार जूस है। जैसे दूध में घी की प्राप्ति, फल में जूस की प्राप्ति, उसी प्रकार मनुष्य में ज्ञान की प्राप्ति ही मानव जीवन का सार है।

सार क्या है? अंतिम वस्तु की प्राप्ति होना, जिस द्रव्य का कभी विनाश नहीं होता उसे सार कहा है जो हमेशा विद्यमान रहे।

ज्ञानेन हीना पशुविः समाना – ज्ञान से हीन मनुष्य पशु के समान है, जैसे पशु ज्ञान के बिना हित–अहित का विचार नहीं कर पाता, सम्यक् चिंतन, सम्यक् विचार नहीं करता उसी प्रकार जो मनुष्य ज्ञान से हीन है, संयम से रहित है उसे आचार्यों ने पशु तुल्य कहा है।

आ. नेमिचन्द सिद्धान्त च. ज्ञान के विषय में जीव कांड की 299 वी गाथा में समझाते हैं (जीवकांड)

जाणइ तिकाल विसए दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे ।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणेत्ति णं वेति ।।

जिसके द्वारा जीव त्रिकाल संबंधी समस्त द्रव्य, गुण, पर्यायों को जानता है उसे ज्ञान कहा है।

द्रव्य अनादि अनंत है, द्रव्यदृष्टि से न तो द्रव्य का नाश होता है, न किसी नवीन द्रव्य का उत्पाद है, अत: द्रव्य ध्रौव्य है। **सद् द्रव्य लक्षणम् –** द्रव्य का लक्षण सत् है। जो हमेशा बना रहे, जिसका अस्तित्व तीनों कालों में रहे इसलिए गाथा में त्रिकालवर्ती शब्द का प्रयोग किया गया है।

ज्ञान मार्गणा क्या है?

ज्ञान क्या है? ज्ञान कैसे होता है, ज्ञान पाने का अधिकारी कौन है? ज्ञान गुण स्वभाव रूप कब होते हैं? ज्ञान त्रैकालिक है, ज्ञान पर्याय कब? ज्ञान, मार्गणा कब? ज्ञान मार्गणा के भेद, प्रभेदों का कथन, मतिज्ञान व मतिज्ञान के भेद प्रभेदों की विशद् व्याख्या लेख के माध्यम से की गयी है। ज्ञानपुंज हमारे आराध्य गुरुदेव! सभी श्रमण, श्रमणी, मनीषी विद्वान ध्यान से सुनें, अल्पज्ञानी व अज्ञानी समझकर मेरी त्रुटियों पर ध्यान देकर अवगत करायें जिससे मैं शास्त्रों का अध्ययन करके सही व विशद् ज्ञान को प्राप्त कर सकूँ।

अज्ञानता के कारण यह जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर रहा है। अज्ञानता के कारण, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, मोह, कषाय, परिग्रह का जन्म होता है, अज्ञानता के कारण ही अनंत संसार का अंत नहीं होता धर्म का, संयम का, तप का, सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव नहीं होता। जिससे यह जीव पंच परावर्तन करता हुआ अनेक दु:खों को उठाता है। दु:खों को, जन्म मरण को, कषायों को, मिथ्यात्व को, राग–द्वेष को, मोह को समाप्त करने का एक ही तरीका है ज्ञान। अज्ञान का ताला मात्र ज्ञान की चाबी से खुलेगा। इसलिए हे भव्यात्माओं! यदि ज्ञान को प्राप्त करना है तो राग–द्वेष की मोटी परतें, क्रोध, मान माया, लोभ की प्रबल गाठें, मिथ्यात्व रूपी विपरीत दीवाल, मोह रूपी संसार का जंजाल, परिग्रह रूपी कलुषित परिणाम को ज्ञान की चाबी से खोलो। सम्यक्त्व रूपी साफ कपड़े से साफ करो तब ज्ञान गुण प्रस्फुटित होगा।

ज्ञान क्या है? तथा आत्मा ज्ञान स्वभावी कब बनती है?

ज्ञान आत्मा का एक स्वभावाकि गुण है जब ज्ञान दर्शन आदि गुणों के द्वारा मानव आत्मस्वभाव में पहुँचता है तब ज्ञानदर्शनादि गुण स्वभाव बन जाते हैं। आत्मा अखंड है, और आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर ज्ञान है। जब भी आत्मा जानेगी, सम्पूर्ण आत्मा के प्रदेश से जानेगी इसलिए आत्मा ज्ञान स्वभावी बन जाती है। जिस समय यह आत्मा जिस उपयोग में है उस समय आत्मा उस स्वभावी है जैसे आत्मा अनंत सुख में है वैसा ही अनुभव करने वाली है तो आत्मा उस समय सुख स्वभावी है।

ज्ञान में बंध क्यों नहीं? ज्ञान स्वभाव है। स्वभाव में बंध नहीं होता जैसे मधुमक्खी अपने वमन यानी शहद में लिपटती रहे तो नहीं मरती, चासनी में पड़ जाए तो मर जाती है।

ऐसे बहुत से प्रकार के द्रव्य, उनके गुण और उनकी पर्यायें जिसके द्वारा जानी जाती हैं वह ज्ञान है।

जीव एक द्रव्य है।

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये **पाँच अजीव द्रव्य** हैं।

ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य ये **जीव द्रव्य के गुण** हैं।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये **पुद्गल द्रव्य के गुण** हैं।

संसारी, मुक्त, त्रस, स्थावर, पंचइन्द्रिय आदि **जीव द्रव्य की पर्यायें** हैं।

अणु-स्कंध आदि **पुद्गल द्रव्य की पर्यायें** हैं।

ज्ञानाति ज्ञायते अनेन ज्ञाति मात्रं वा ज्ञानं – (धवला पु. 1. पृ. 353) में कहा है – जो जानता है, अथवा जिसके द्वारा जाना जाता है वह ज्ञान है। जिसके द्वारा यह आत्मा जानता है, जानता था, तथा जानेगा वह ज्ञान है।

कर्म के एक देश क्षय से अथवा सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए आत्मा के परिणाम को ज्ञान कहते हैं। (ध.पु. 1 पृ. 353)

ज्ञान के विषय में और भी कहा है धवला पु. 13 पृ. 20

कम्म-कत्तार भावो आगारो तेण अगारेण सह वट्टमाणो उवजोगो सागरोत्ति।

साकार उपयोगो ज्ञानं – साकार उपयोग ज्ञान है। कर्त्ता व कर्म भाव का नाम आकार है, उस आकार के साथ जो उपयोग रहता है उसका नाम साकार है।

धवला पु. 1 पृ. 142 में ज्ञान को समझाते हुए आचार्य भगवन् ने कहा है –

भूतार्थप्रकाशंक ज्ञानं – भूतार्थ (सत् रूप अंश) को प्रकाश करने वाला ज्ञान है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान भूतार्थ का प्रकाशक नहीं है, मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को अज्ञान कहा है।

ज्ञान का कार्य – तत्त्वार्थ में रुचि, निश्चय, श्रद्धा और चारित्र का धारण करना ज्ञान का कार्य है। यह कार्य मिथ्यादृष्टि जीव में नहीं पाया जाता इसलिए उसके ज्ञान को अज्ञान कहा है।

सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी मानव है, मानव के मस्तिष्क में 23 अरब कोशिकाएँ होती हैं। ये कोशिकाएँ अज्ञानता, राग, द्वेष, कषाय के परिणामों से समाप्त हो जाती हैं और निर्मल परिणामों से प्रज्जवलित होती हैं जब मानव ध्यान में बैठता है, विशुद्धि व तप के द्वारा पुरुषार्थ करके विषय कषायों को तिलांजलि देकर शांत अवस्था में आता है वैसे ही मस्तिष्क की कोशिकाएँ खुल जाती है और ज्ञान बढ़ने लगता है, ज्ञान बढ़ते ही चारित्र प्रस्फुटित होता है जो मोक्ष तक पहुँचाता है सम्पूर्ण ज्ञान पर पहुँचने के लिए मतिज्ञान नींव की तरह है।

आ. कुंदकुंद ने समयसार गाथा 108 में लिखा है –

जो जाणदि सो हवदि णाणी – स्वानुभव द्वारा जो जानता है वह ज्ञानी होता है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार आ. समन्तभद्र ने गाथा 42 में ज्ञान की परिभाषा में लिखा है।

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निः सन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ।।

कम से रहित, अधिक से रहित, जैसे को तैसा, विपरीतता से रहित, संदेह से रहित, वस्तु के स्वरूप को जो जानता है आचार्यों ने उसे सम्यग्ज्ञान माना है।

तत्त्व – एसेंस, सारभूत मूलभूत वस्तु की प्राप्ति = जैसे आत्मा में ज्ञान। मूला. प्रदीप 1625 गाथा में कहा है – **येनात्मा बुध्यते तत्वं ते ज्ञानं जिनशासनं** जिससे आत्मा तत्त्व को जानती है उसे जिनशासन में महर्षियों ने ज्ञान कहा है।

तत्वार्थसार में आचार्यवर गाथा 148 के अन्तर्गत ज्ञान को समझाते हुए कहते हैं –

नन्योऽस्मि नाहमस्त्यन्यो नान्यस्याहं न मे परः ।
अन्यस्त्वन्योऽह मेवाह मन्योऽन्यस्याह मेव मे ।।

मैं अन्य नहीं हूँ, अन्य मैं नहीं हूँ, मैं अन्य का नहीं हूँ, अन्य मेरा नहीं है, अन्य–अन्य है, मैं मैं हूँ, अन्य अन्य का है और मैं मेरा हूँ ऐसा कहना (जानना) ही ज्ञान है।

भगवान महावीर ने कहा– न मेरा है न तेरा है, दुनिया रैन बसेरा है यही ज्ञान है।

ज्ञान के प्रकार

एक – सामान्य रूप से ज्ञान – एक प्रकार का है।

दो – प्रत्यक्ष और परोक्ष की अपेक्षा 2 प्रकार का है।

तीन – द्रव्य, गुण पर्याय रूप विषय के भेद से तीन प्रकार का है।

चार – नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव की अपेक्षा चार प्रकार का हैं।

पाँच – मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञान की अपेक्षा पाँच प्रकार का हैं।

अनंत – परिणति की अपेक्षा ज्ञान के संख्यात, असंख्यात व अनंत भेद हैं।

ज्ञान मार्गणा को समझाते हुए कहते हैं –

ज्ञान के द्वारा जीवों की खोज करना, अन्वेषण करना, भेद प्रभेदों की जानकारी होना ज्ञान मार्गणा है।

ज्ञान के दो भेद बतलाते हुए आचार्य भगवन् प्रमेय रत्नमाला पृ. 43 में कहते हैं –

अक्षमात्मानं प्रत्याऽश्रितं प्रत्यक्षमिति मुख्य प्रत्यक्षम् – 1. जो आत्मा के आश्रित हो, उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। 2. बिना किसी सहायता के आत्मा को स्पष्ट जाने वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। **विशदं प्रत्यक्षं** विशद् ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। प.मु. में प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद हैं – 1. विकल प्रत्यक्ष 2. सकल प्रत्यक्ष। विकल प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद – 1. अवधि ज्ञान 2. मन:पर्यय ज्ञान। सकल प्रत्यक्ष ज्ञान का एक भेद – केवलज्ञान है।

केवलमसहायं – केवलज्ञान को असहाय ज्ञान कहते हैं।

असहाय ज्ञान कैसे – आत्मा और अर्थ के अतिरिक्त इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित केवलज्ञान ज्ञेयों को जानता है इसलिए भी केवलज्ञान असहाय ज्ञान माना है, केवलज्ञान ज्ञेय प्रमाण है, ज्ञेय के बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। (प्रवचनसार गाथा–23)

परोक्ष ज्ञान – इन्द्रिय व मन की सहायता के द्वारा पदार्थों को अस्पष्ट जानना परोक्ष ज्ञान है। जैसे – कोचिंग द्वारा परीक्षा में पास होना।

परोक्ष मितरत् – अविशद् स्वरूप वाला जो ज्ञान है वह परोक्ष ज्ञान है।

ज्ञान के भेद

पंचेव होति णाणा, मदि सुद ओहीमणं च केवलयं ।
खय उवसमिया चउरो केवलणाणं हवे खइयं।।300।।

अण्णाणतियं होदि हु सण्णाणतियं खु मिच्छ अणउदये ।
णवरि विभंगं णाणं, पंचिदिंय सण्णि पुण्णेव ।। जी.का.गा.301।।

ज्ञान पाँच प्रकार का है – 1. मतिज्ञान 2. श्रुतज्ञान 3. अवधिज्ञान 4. मन:पर्ययज्ञान 5. केवलज्ञान।

मतिश्रुतावधिमन: पर्यय केवलानि ज्ञानम् – त.सू.अ.1सू.9

1. इनमें से आदि के चार ज्ञान क्षायोपशमिक है और केवलज्ञान क्षायिक है। चार ज्ञान आवरण सहित हैं इसलिए क्षायोपशमिक है क्योंकि क्षायोपशमिक ज्ञान आवरण से सहित होता है। केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान इसलिए है क्योंकि क्षायिक ज्ञान आवरण से रहित है केवलज्ञान भी आवरण से रहित है।

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च। त.सू.अ. 1. सूत्र 31

2. आदि के तीन मति, श्रुत, अवधिज्ञान सम्यक् भी हैं और मिथ्या भी हैं तीनों समीचीन ज्ञान मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी का उदय होने पर अज्ञान हो जाते हैं कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ज्ञान को मिथ्यात्व कहते हैं।

द्रव्यसंग्रह गाथा 5. आ. भगवन् कहते हैं –

णाणं अट्ठवियप्पं मदि सुदओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जयकेवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च।।5।।

ज्ञान आठ प्रकार का है- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, कुमति, कुश्रुत कुअवधि इनमें से आदि के पाँच ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं और अंत के तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान हैं।

शंका – अनंतानुबंधी के उदय से भी मिथ्याज्ञान होता है ऐसा क्यों कहा गया है मात्र मिथ्यात्व कहना पर्याप्त था क्योंकि मिथ्यात्व के उदय से ही विपरीत अभिनिवेश होता है।

समाधान – सासादन गुण. में मिथ्यात्व का उदय न होते हुए भी मिथ्याज्ञान होता है, अनंतानुबंधी का उदय भी अज्ञान में कारण है। विपरीत अभिनिवेश को मिथ्यात्व कहते हैं, वह मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी इन दोनों के निमित्त से उत्पन्न होता है इसलिए वहाँ पर दोनों अज्ञान होते हैं।

मिश्रज्ञान का कारण – जीव.का.-गाथा-302

मिस्सुदये सम्मिस्सं अण्णाणतियेण णाणतियमेव।
संजम विसेस सहिए मणपज्जवणाणमुद्दिट्ठं।।

सम्यग्मिथ्यात्व मिश्रप्रकृति के उदय से तीन अज्ञान और तीन ज्ञान का परस्पर मिश्रण होने वाले तीन मिश्रज्ञान होते हैं। मतिज्ञान मति अज्ञान, श्रुतज्ञान, श्रुत अज्ञान, अवधिज्ञान, विभंगज्ञान से मिश्रित होता है। तीनों ही ज्ञान अज्ञान से मिश्रित होते हैं।

जिसे कुमति कुश्रुत व कुअवधिज्ञान भी कहते हैं।

सम्मामिच्छाइट्ठि–णाणे तिण्णि वि णाणावि अण्णाणेण मिस्साणि । अभिणिबोहियण्णाणं, मदिअण्णाणेण मिस्सयं सुदणाणं सुद-अण्णाणे मिस्सयं ओहिणाणं विभंगणाणेण मिस्सयं तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि वा इदि । जीवकाण्ड गाथा 303-304

तीनों अज्ञान का कारण –

विसजंत-कूड-पंजर-बंधादिसु विणुवएस-करणेण।
जा खलु पवट्ठइ मई-मइअण्णाणं ति णं वेतिं।।

आभीयमासुरक्खं भारहरामायणादिउवएसा ।
तुच्छा असाहणीया सुयअण्णाणं ति णं वेंति ।।

धवल पु. 1 पृ. 358 179, 180 प्राकृत पंचसंग्रह पृ. 25 गा. 118

विवरीय मोहिणाणं खओवसमियं च कम्मबीजं च ।
विभंगोत्ति पउच्चइ समत्तणाणीण समयम्हि ।।

कुमतिज्ञान – परोपदेश के बिना जो विष, यंत्र, कूट, पंजर तथा बंध आदि के विषय में बुद्धि प्रवृत्त होती है उसे कुमति ज्ञान कहते हैं।

2. **विष** – जिसको खाने से या सूँघने आदि से मरण हो जाय वह विष है।

पिंजरा – जिसमें पशु-पक्षी आदि बंद रखे जावें।

जाल – जिसमें पशु-पक्षी, मछली, स्थलचर, जलचर जीव पकड़े जायें वह जाल है।

बंध – रस्सी आदि जिससे जीव बाँधे जायें वह बंध है।

यंत्र – जीवों के मारने व बाँधने आदि के कारण रूप यंत्र है।

कुश्रुतज्ञान – चौरशास्त्र, हिंसाशास्त्र, महाभारत, रामायण आदि के तुच्छ और परमार्थ शून्य होने से, साधन करने के अयोग्य उपदेशों को ऋषिगण श्रुताज्ञान कहते हैं।

कुअवधिज्ञान – जो अवधिज्ञान मिथ्यात्व सहित होने से विपरीत स्वरूप है और नवीन कर्म का बीज है उसे ज्ञानियों ने कुअवधिज्ञान कहा है।

2. द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिए रूपी पदार्थ है विषय जिसका ऐसा आप्तादि के विषय में विपरीत ग्रहण करना कुअवधिज्ञान है इसे विभंग ज्ञान भी कहते हैं।

शंका – कुअवधिज्ञान का बाह्य व अंतरंग कारण क्या है?

समाधान – मिथ्यात्वादि कर्मबंध का एवं नरक आदि गति में पूर्वभव सम्बन्धी बैर विरोध का स्मरण अथवा उपकार करने वाले को भी मिथ्या व मति के कारण अपकारी समझना बाह्य कारण है और अंतरंग मिथ्यात्व कारण बनता है।

अवधिज्ञान के भेद

भेद – 1. दो भेद – भव प्रत्यय अवधिज्ञान – देव नारकी को होता है

गुणप्रत्यय – मनुष्य, तिर्यंच को संयमादि गुणों के द्वारा होता है।

मतिज्ञान का लक्षण – धवल पु. 1 पृ. 309 गा. 182

अहिमुह – णियमिय बोहण माभि णिबोहिय मणिं दियं।

इन्द्रिय और मन की सहायता से अभिमुख और नियमित पदार्थ का ज्ञान आभिनिबोधक ज्ञान है।

इन्द्रियानिन्द्रियैरर्थ – ग्रहणं मनन मतिः ।
विकल्पा विविधास्तस्याः क्षयोपशम संभवाः ।

इन्द्रिय व मन से जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं।

मननं इति मति – मनन करने को मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान को अभिनिबोधक ज्ञान भी कहते हैं।

आभिनिबोधक–अभिमुख–आभि – नि – नियमित पदार्थ

बोधक ज्ञान – नियमित पदार्थ का पाँचों इन्द्रियों और मन के द्वारा जो बोध होता है वह आभिनिबोधक ज्ञान है।

अभिमुख – इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य क्षेत्र में पदार्थ का अवस्थित होना अभिमुख कहलाता है।

नियमित – स्पर्शन इन्द्रिय स्पर्श में नियमित है रस, गंध, वर्ण, शब्द में नियमित नहीं है, इसी प्रकार रस, गंध, वर्ण के विषय अपनी–अपनी इन्द्रियों के विषयों में नियत है। (2) प्रत्येक इन्द्रिय अपने योग्य क्षेत्र में अभिमुख अपने नियत विषय को जानती है।

स्वक–स्वकेन्द्रियेषु नियमितं (ध.पु. 9 पृ. 160)

(1) नियम के अनुसार अभिमुख अर्थों का जो ज्ञान होता है वह आभिनिबोधक ज्ञान है यह ज्ञान पराधीन होने से परोक्षज्ञान है। ध.पु. 13 पृ. 210

अवगह–ईहावायाधारणगा होंति पत्तेयं । 306 जीवकाण्ड धवल–9 पु. 143

मतिज्ञान चार प्रकार का है – 1. अवग्रह 2. ईहा 3. अवाय 4. धारणा

तदो कहिं पि ओग्गहो चेय । कहिं पि ओग्गहो धारणा य दोच्चेय । कहिं पि ओग्गहो ईहा य

अवग्रह आदि चारों ही ज्ञानों की सर्वत्र क्रम से उत्पत्ति नहीं होती है क्योंकि उस प्रकार की व्यवस्था नहीं पायी जाती है। इसलिए कहीं तो केवल अवग्रह ज्ञान ही होता है, कहीं अवग्रह और ईहा ये दो होते हैं, कहीं पर अवग्रह, ईहा और अवाय ये तीन होते हैं और कहीं पर अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारों ही होते हैं। (धवल पु. 6 पृ. 18)

अवग्रह का लक्षण – जीवकाण्ड गाथा–308 धवल पु. 1–पृ. 354

विसयाणं विसईणं संजोगाणंतरं हवे णियमा।
अवगहणाणं गहिदे विसेसकंखा हवे ईहा।।

1. अवग्रह – विषय और विषयी के संबंध होने के अनन्तर जो प्रथम ग्रहण होता है वह अवग्रह ज्ञान है। अवग्रह के पर्यायवाची – 1. अवग्रह 2. अवदान 3. सान 4. अवलम्बना 5. मेधा

ईहा – अवग्रह से ग्रहण किये गये पदार्थ के विशेष को जानने के लिए जो अभिलाषारूप ज्ञान होता है वह ईहा है। किसी पुरुष को देखकर यह कौन है अनेक प्रकार की शंका होना ईहा है। ईहा के पर्यायवाची नाम 1. ईहा 2. ऊहा 3. अपोहा 4. मार्गणा 5. गवेषणा 6. मीमांसा रस आदि विषय हैं, छहों इन्द्रियाँ विषयी हैं। ज्ञानोत्पत्ति की पूर्व अवस्था ही विषय व विषयी का सम्पात है, वह दर्शन है। यह दर्शन ज्ञानोत्पत्ति के कारणभूत परिणाम विशेष की सन्तति की उत्पत्ति से उपलक्षित होकर अन्तर्मुहूर्त काल स्थायी होता है। इसके बाद जो वस्तु का प्रथम ग्रहण होता है वह अवग्रह है। चक्षु के द्वारा यह घट है यह पट है ऐसा ज्ञान होना अवग्रह है।

अवग्रह दो प्रकार का है – धवल पु. 6 पृ. 16–17 में कहा है।

(1) अर्थावग्रह व व्यंजनावग्रह के भेद से अवग्रह दो प्रकार का है।

अर्थावग्रह – अप्राप्त अर्थ का ग्रहण अर्थावग्रह है जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा अस्पृष्ट (रूप) को ग्रहण करना।

अप्राप्त का अर्थ है – स्पर्शित न होना – अधिक बूँद पड़ने पर व्यक्त (प्रकट) होना अप्राप्त है।

अर्थावग्रह – पाँचइन्द्रिय व मन के द्वारा होता है।

न चक्षुरनिन्द्रयाभ्याम्। (त.सू. 1/19)

व्यंजनावग्रह – प्राप्त अर्थ का ग्रहण व्यंजनावग्रह है – जैसे स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा स्पर्श को ग्रहण करना व्यंजनावग्रह है। स्पर्श, रस, गंध, शब्द का स्पर्शित होना व्यंजनावग्रह है। जैसे – नवीन मिट्टी के घड़े पर पानी की 1-2 बूँद प्रकट व दिखायी नहीं देती। (धवल पु. 1 पृ. 354)

1. ईहा – अवग्रह से ग्रहण किये गये पदार्थ के विशेष को जानने के लिए जो अभिलाषारूप ज्ञान है वह ईहाज्ञान है – जैसे – किसी पुरुष को देखकर क्या यह भव्य है या अभव्य, इस प्रकार विशेष परीक्षा करने को ईहा ज्ञान कहा है।

2. संशय के बाद और अवाय के पहले बीच की अवस्था में विद्यमान तथा हेतु के अवलंबन से उत्पन्न हुए विमर्श रूप प्रत्यय को **ईहा** कहते हैं। विचारात्मक ज्ञान को ईहा ज्ञान कहते हैं।

जिसका स्वभाव अवग्रह ज्ञान में उत्पन्न हुए संदेह को दूर करना है वह ईहा ज्ञान है। (जयधवल पु. 1 पृ. 336)

अवाय ज्ञान

जीवकाण्ड गाथा 309 धवल पु. 1 सूत्र 115 की टीका)

ईहणकरणेद जदा सुणिण्णओ होदि सो अवायो दु । (जी.का. 309 ध.पु.1 सू. 115 में)

ईहा ज्ञान के द्वारा जब भले प्रकार से निर्णय हो जाता है तब पदार्थ के विषय में वह सुनिश्चय अवाय ज्ञान होता है।

संशय तो नहीं है पर कालांतर में विस्मरण होता है। जैसे – पंख हिलने से जाना यह बगुला है।

धारणा ज्ञान – जीवकाण्ड गाथा-309 धवल पु. 1 सूत्र 115 की टीका में

कालांतरेवि णिणिणदवत्थु समरणस्स कारणं तुरियं ।

1. निर्णय की हुई वस्तु कालान्तर में न भूलना धारणारूप ज्ञान है।

2. जिस ज्ञान से आगामी काल में अविस्मरण के संस्कार जीव में उत्पन्न होते हैं। उस ज्ञान का नाम धारणा है। जैसे – यह बालक वही है जिसे प्रात:काल हमने देखा था, ऐसा ज्ञान होना धारणा है।

धारणा के पर्यायवाची – (1) धरणी (2) धारणी (3) स्थापना (4) कोष्ठा (5) प्रतिष्ठा

मति – मननं इति – मनन करना मति है।

स्मृति स्मरणं इति स्मृति – बीती बात को जानने वाली स्मृति है, स्मरण करना स्मृति है।

बुद्धि – वर्तमान (तत्कालीन) बात को जानने वाली बुद्धि है व अर्थ ग्रहण करने की शक्ति को बुद्धि कहते हैं।

प्रज्ञा – तीनों काल की बात को जानने वाली प्रज्ञा है।

मेधा – जिसके द्वारा पदार्थ मेध्यति अर्थात् जाना जाता है वह मेधा है। पाठ ग्रहण करने की शक्ति मेधा है, त्रिकालवर्ती पदार्थों का परिज्ञान होना मेधा है।

प्रतिभा – दिन या रात्रि में कारण के बिना ही जो स्वत: प्रतिभास हो जाता है वह प्रतिभा है। जैसे – मुझे इष्ट वस्तु की प्राप्ति होगी या कल मेरा कोई इष्ट आयेगा।

मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम – तत्वार्थ सूत्र 2/13 में कहा है।

मति: स्मृति: संज्ञा चिंता भिनिबोध इत्य नर्थान्तरम्।

जीवकाण्ड गाथा 310, 311 के अनुसार –

एक्क चउक्कं चउवीस सट्ठावीसं च तिप्पडिं किच्चा ।
इगिछव्वा रस गुणिदे मदिणाणे होतिं ठाणाणि ।।
बहु–बहुविहं च खिप्पाणिस्सिद णुत्तं धुवं च इदरं च ।
तत्थेक्केक्के जादे छत्तीसं तिसयभेदं तु।।

सामान्य से मतिज्ञान – एक प्रकार का है। व्यंजनावग्रह की अपेक्षा चार प्रकार का है। व्यंजनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता। चार इन्द्रियों की अपेक्षा चार भेद कहे हैं। व्यंजनावग्रह के पश्चात् ईहा–अवाय धारणा ज्ञान नहीं होता मात्र व्यंजनावग्रह होता है। अत: व्यंजन–ईहा आदि का कथन नहीं किया गया है। **व्यंजनास्यावग्रहा: न चक्षु रनिंद्रियाभ्याम्** (त.सू.अ. 1)

अर्थावग्रह – अर्थावग्रह पाँचों इन्द्रिय और मन से होता है। विग्रह की अपेक्षा छह अवग्रह, छह ईहा, छह अवाय व छह धारणा इस प्रकार 24 भेद होते हैं। इन चौबीस में चार व्यंजनावग्रह मिला देने से (24 + 4) भेद हो जाते हैं। ध.पु. 13 सूत्र 28, 30

बहु. बहुविध, क्षिप्र, अनि:सृत, अनुक्त व ध्रुव तथा इनके प्रति पक्षभूत पदार्थों का आभिनिबोधक ज्ञान होता है। इन बारह से 28 का गुणा करने से (28 × 12) 336 भेद मतिज्ञान के होते हैं।

बहु. बहुविध, क्षिप्रानि: सृतानुक्त ध्रुवाणां सेतराणाम (त.सू.अ. 1)

(2) चक्षु से बहुत का अवग्रह होता है, चक्षु एक का अवग्रह करता है। इस चक्षु इन्द्रिय संबंधी 12 प्रकार का अवग्रह है, ईहा, अवाय और धारणा इनमें से प्रत्येक चक्षु के निमित्त से बारह प्रकार का है। इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय के निमित्त से मतिज्ञान के $12 \times 4 = 48$ भेद होते हैं। मन के निमित्त से भी इतने भी भेद होते हैं क्योंकि इन दोनों के व्यंजनावग्रह नहीं होता। शेष चार इन्द्रियों में से प्रत्येक के निमित्त से साठ 60 भंग होते हैं।

क्योंकि उनमें व्यंजनावग्रह के 12 भेद हो जाते हैं। इन सबको जोड़ने पर $(60 + 60 + 60 + 60 + 48 + 48) = 336$ भेद होते हैं।

ज्ञान की उत्पत्ति का क्रम – चक्षु को छोड़कर शेष चार इन्द्रियाँ

अचक्षुदर्शन – व्यंजनावग्रह – अर्थावग्रह – ईहा – अवाय – धारणा

चक्षु इन्द्रिय – चक्षुदर्शन – अर्थावग्रह – ईहा – अवाय – धारणा

मन – अचक्षुदर्शन – अर्थावग्रह – ईहा – अवाय – धारणा

मतिज्ञान के विषयभूत बारह प्रकार के पदार्थ

बहु – एक जाति की बहुत सी वस्तुओं को बहु कहते हैं। जैसे – गोरी सावली काली आदि अनेक गाय

बहुविध – अनेक जाति के बहुत से पदार्थों को बहुविध कहते हैं। जैसे – गाय, भैंस, घोड़ा आदि अनेक जाति।

क्षिप्र – शीघ्र कार्य होना – जैसे शीघ्र पड़ती जलधारा।

अनिसृत – वस्तु के एकदेश को देखकर समस्त वस्तु का ज्ञान होना अनि:सृत है – जैसे जल में डूबे हाथी की सूँड देखकर हाथी का ज्ञान होना।

अनुक्त – बिना कहे – हाथ या सिर के इशारे से बिना कहे हाँ या, न समझना।

ध्रुव – बहुत काल तक स्थायी – जैसे – पर्वत आदि।

एक – एक जाति की एक व्यक्ति को एक कहते हैं। जैसे – एक गोरी गाय।

एकविध – एक जाति की अनेक व्यक्तियों को एकविध कहते हैं। जैसे – गोरी, काली आदि एक-एक गाय।

अक्षिप्र – मंद गति से चलने वाले पदार्थ को अक्षिप्र कहते हैं। जैसे – धीरे चलता हुआ कछुआ।

नि:सृत – प्रकट पदार्थ को नि:सृत कहते हैं। जैसे – जल से निकला हाथी जल से निकली महिला।

उक्त – जो शब्दों के द्वारा कहा जाये वह उक्त है। जैसे – किसी ने कहा ये घड़ा है।

अध्रुव – अस्थिर पदार्थ को अध्रुव कहते हैं। जैसे – बिजली, हवा।

मतिज्ञान के स्थान	सामान्य अपेक्षा		अर्ध	पूर्ण
सामान्य पदार्थ	अर्ध बहु आदि-6			बहु आदि-12
सामान्य अपेक्षा	1	6	12	
अवग्रहादि अपेक्षा	4	24	48	
इन्द्रिय और मन अपेक्षा		24	144	288
अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह		28	168	336

एकेन्द्रिय जीव के लब्धियक्षर ज्ञान से लेकर छह वृद्धियों के साथ असंख्यात लोकप्रमाण मतिज्ञान के विकल्प होते हैं, उन सब ज्ञानों का इन्हीं भेदों में अर्न्तभाव हो जाता है।

(1) सर्वार्थ सिद्धि के अनुसार

कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगज्ञान - मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थान है। मति, श्रुत, अवधिज्ञान असंयतसम्यग्दृष्टि से क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त है।

मन:पर्ययज्ञान में - प्रमत्तसंयत से क्षीणकषाय तक सात गुणस्थान है।

केवलज्ञान में - सयोग व अयोग केवली दो गुणस्थान हैं।

कौन-कौन से ज्ञान में जीवों की संख्या बतलाते हैं।

मति अज्ञानी, श्रुत अज्ञानी जीव अनंतानंत, 1. 2 गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या सासादन गुणस्थानवर्ती जीव पल्य के असंख्यातवें भाग हैं।

विभंगज्ञानी मिथ्यादृष्टि - असंख्यात जगत्श्रेणी प्रमाण है।

सासादन सम्यग्दृष्टि विभंगज्ञानी जीव - पल्योपम के असंख्यातवें भाग है।

असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक - मतिज्ञानी व श्रुतज्ञानी की संख्या जिस गुणस्थान की जो संख्या है सामान्य से उतनी संख्या है।

4 से 5 गुणस्थान में अवधिज्ञानी जीवों की संख्या - पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण

6 से 12 गुणस्थान तक जीवों की संख्या संख्यात है।

6 से 12 गुणस्थान मन:पर्ययज्ञानी संख्यात है।

13वें गुणस्थान में 8,98,502 है।

14वें गुणस्थान में 598 है।

क्षेत्र

1.2 मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाले मति अज्ञानी व श्रुत अज्ञानी जीवों का क्षेत्र सामान्य से है।

मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि विभंगज्ञानी – लोक का असंख्यातवाँ भाग है।

4 से 12 गुणस्थान मति, श्रुत, अवधि ज्ञानी – सामान्य से है।

6 से 12 गुणस्थान मन:पर्ययज्ञानी – सामान्य है।

13 से 14 गुणस्थान केवलज्ञानी जीवों का – सामान्य क्षेत्र है।

स्पर्श

मति अज्ञानी, श्रुत अज्ञानी मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों का स्पर्श गुणस्थान के समान। जिस गुणस्थान में जो कषाय व अकषाय है उस गुणस्थानवर्ती जीव ने जितने स्थान का स्पर्श किया वही स्पर्श कषाय सहित व कषाय रहित तथा मतिज्ञान आदि के द्वारा स्पर्श है।

विभंगज्ञानियों में मिथ्यादृष्टियों का स्पर्श – लोक का असंख्यातवाँ भाग, लोकनाड़ी के समान चौदह भागों में कुछ कम आठ भाग तथा सर्वलोक है। नीचे दो राजू ऊपर छह राजू क्षेत्र में देवों का गमनागमन है। सर्वलोक स्पर्शन मारणान्तिक पद की अपेक्षा प्राप्त होता है। क्योंकि ये जीव सब लोक में मारणान्तिक समुद्घात करते हुए पाये जाते हैं।

मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन:पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीवों का स्पर्श गुणस्थान के समान है।

काल

मतिअज्ञानी, श्रुतअज्ञानी में मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टियों का काल – गुणस्थान के समान विभंगज्ञानियों में मिथ्यादृष्टि का नाना जीव अपेक्षा – सर्वकाल है।

एक जीव जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट कुछ कम 33 सागरोपम मिथ्यादृष्टि नारकी या देव के उत्पन्न होने के बाद पर्याप्त होने पर विभंगज्ञान प्राप्त होता है, इसी कारण एक जीव अपेक्षा मिथ्यादृष्टियों के विभंगज्ञान का उत्कृष्ट काल कुछ कम तेंतीस सागर है।

मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन:पर्यय व केवलज्ञानियों का सामान्य काल है।

अन्तर

मतिअज्ञानी, श्रुतअज्ञानी, विभंगज्ञानी में मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा–अन्तर नहीं है। सासादन सम्यग्दृष्टि का मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा ओघ के समान है एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है।

मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी जीवों में असंयत सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर-अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट अंतर कुछ कम एक पूर्वकोटि संयतासंयत का नाना जीवों की अपेक्षा अंतर नहीं है। एक जीव अपेक्षा जघन्य अंतर अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट अंतर - कुछ अधिक छयासठ सागरोपम प्रमत्त व अप्रमत्त संयत का नाना जीव अपेक्षा अंतर नहीं है। एक जीव अपेक्षा जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अंतर कुछ अधिक 33 सागरोपम है। अप्रमत्त के दो अन्तर्मुहूर्त कम पूर्व कोटि अधिक तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट अंतर है।

चारों उपशामकों का नाना जीवापेक्षा अंतर - गुणस्थान के समान एक जीवापेक्षा जघन्य अंतर अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट - कुछ अधिक 66 सागरोपम चारों क्षपकों का अंतर - गुणस्थान के समान। अवधिज्ञानियों में नाना जीवापेक्षा जघन्य अंतर एक समय, उत्कृष्ट अंतर वर्ष पृथक्त्व है एक जीवापेक्षा अंतर नहीं है एक जीवापेक्षा जघन्य व उत्कृष्ट अंतर अन्तर्मुहूर्त है।

भाव

मति अज्ञानी श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी मन:पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीवों के भाव गुणस्थान के समान है।

आप सभी ने बड़े ही मनोयोग पूर्वक ज्ञान व ज्ञान मार्गणा को समझा मुझ छद्मस्थ के द्वारा मेरे समझने में सुनाने में त्रुटि हो तो आप सभी मुझे त्रुटियों से अवगत कराये जिससे हम अधिक अध्ययन चिंतन, मनन करके ज्ञान को पैदा करें।

अंत में पूज्य गुरुदेव के द्वय चरणों में कोटि-कोटि नमोऽस्तु-3

संयम मार्गणा

श्रमणी आर्यिका विपुल श्री माताजी
संघस्थ– उच्चारणाचार्य 108 श्री विनम्रसागर जी महामुनिराज

जहाँ पर नय, न्याय, सिद्धान्त के प्रकाण्ड विद्वान परम पूज्य गुरुदेव विराजमान हैं उनके समक्ष मेरा कुछ भी कहना शोभा को प्राप्त नहीं होता है। लेकिन गुरुदेव की आज्ञा से आप सभी विद्वानों के बीच मैंने जो लेख तैयार किया है उसे बताना चाहूँगी। मैं वही बताऊँगी जो गुरुदेव ने पढ़ाया है। गुरुदेव ने सिखाया है उसी में से बताने जा रही हूँ। अगर आपको उसमें से जो कुछ भी अच्छा लगे वह परम पूज्य गुरुदेव का है। और जहाँ पर कोई त्रुटि हो जाय वह मेरा है। उसके लिए मैं आप सभी से क्षमा प्राथी हूँ। मेरा विषय है संयम मार्गणा।

संयम क्या है, संयम किसे कहते हैं? संयम मार्गणा किसे कहते हैं? संयम कितने प्रकार का है, संयम की उपलब्धि कैसे होती है, संयम कौन ग्रहण कर सकता है। और कौन ग्रहण नहीं कर सकता है? उसी के बारे में बताना चाहूँगी। क्योंकि संयम भावों से ग्रहण किया जाता है और वही भाव क्रिया रूप हो जाते हैं। अगर संयम बाह्य व अन्तरंग दोनों से धारण किया है तो उन्हें भावलिंगी कहते हैं तथा केवल बाह्य रूप से धारण किया है तो उसे द्रव्यलिंगी कहते हैं। अगर दोनों से रहित है तो वह संयम नहीं है। आचार्य कुमुदचन्द्र स्वामी ने कल्याण मन्दिर स्तोत्र में कहा है–

आकर्णितोऽपि महि तोऽपि निरीक्षितोऽपि, नूनं न चेतसिमया विधृतोऽसि भक्तया।
जातोऽस्मितेन जन बान्धव दु:ख पात्रं, यस्मात् क्रिया:प्रति फलन्तिन भाव शून्या।।

वही क्रिया फलदायी होती है जो भावपूर्वक होती है, भाव शून्य क्रिया फलदायी नहीं होती है। उसी प्रकार भावपूर्वक संयम ही फलदायी है। उसी संयम के बारे में चर्चा करने जा रही हूँ।

संयम क्या है – जब कोई जीव सम्यक्त्व व ज्ञान को प्राप्त हो जाता है तो वह अपने स्वभाव को प्राप्त करना चाहता है। उस स्वभाव को प्राप्त करने के लिए जो क्रिया (प्रोसेस) किया जाता है वह संयम है। संयम स्वभाव को प्राप्त करने में कारण है।

संयम की परिभाषा – प.पू. आचार्य श्री नेमिचन्द्र सि.चक्र. महाराज ने जीवकाण्ड में 465 नं. गाथा में संयम की परिभाषा बताते हुए कहा है–

वद समिदि कसायाणं, दंडाणं तहिंदियाण पंचण्हं।
धारण पालण णिग्गह, चागजओ संजमो भणिओ।।465।।

पाँच महाव्रत को धारण करना, पाँच समितियों को पालना, क्रोधादि चार कषायों का निग्रह करना, मन, वचन, काय रूप दण्ड का त्याग तथा पाँच इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना संयम है।

(ii) संयमन करने को संयम कहते हैं। (संयमित होना संयम है)

बाहरी वस्तु से सीमित होकर, इन्द्रिय में सीमित होना, कषाय को सीमित करना कषाय को सीमित करने पर असीम आने लगता है वही संयम है।

(iii) सम्यक्त्वपूर्वक आजीवन व्रत धारण करना संयम।

(iv) ध.पु. में कहा है बहिरंग और अन्तरंग आस्रवों से विरत होना संयम है।

(v) प्रवचन सार में – संयम को दो प्रकार से बताया (1) व्यवहार संयम (2) निश्चय संयम

व्यवहार संयम – बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग, मन वचन काय रूप व्यापार से निर्वृत्ति सो अनारम्भ, इन्द्रिय विषयों से विरक्तता, कषायों का (दबाना) उपशम यह सामान्य रूप से संयम का लक्षण कहा गया है।

व्यवहार संयम को अपहृत संयम भी कहते हैं। इसमें प्राणि संयम व इन्द्रिय संयम के अनुसार दो भेद किये हैं।

प्राणि संयम – अन्य प्राणियों की रक्षा करना। (छह काय के जीवों की रक्षा करना)

इन्द्रिय संयम – पंचेन्द्रिय के विषयों से विरक्त होना इन्द्रिय संयम है। अपहृत संयम तीन प्रकार का होता है।

उत्कृष्ट – ऐसे साधु जिनके प्रासुक वसतिका व आहार मात्र बाह्य साधन है। ऐसे साधु के सामने बाह्य जन्तुओं के आने पर उनसे अपने को बचाकर संयम का पालन करना।

मध्यम – मृदु उपकरणों से जन्तुओं का मार्जन करना।

जघन्य – अन्य उपकरणों की इच्छा रखना जघन्य अपहृत संयम है।

निश्चय संयम – (i) शुद्ध स्वात्मोपलब्धि : स्यात् संयमो निष्क्रियस्य

निष्क्रिय आत्मा के स्वशुद्धात्मा की उपलब्धि ही संयम कहलाता है।

(राजवार्तिक चारित्रसार) – राग–द्वेष की प्रवृत्ति से रहित होना निश्चय संयम

(ii) उपेक्षा संयम जो देश व काल के विधान को समझने वाले व शरीर से विरक्त होते हैं उन्हें ही उपेक्षा संयम होता है।

निश्चय संयम को उपेक्षा संयम भी कहते हैं। इन्हीं दोनों को वीतराग व सराग चारित्र भी कहते हैं।

संयम मार्गणा – जिसके (संयम) अन्तर्गत जीवों की खोज करना संयम मार्गणा है।

ये सात प्रकार के संयम होते हैं।

(1) सामायिक (2) छेदोपस्थापना (3) परिहार विशुद्धि (4) सूक्ष्म साम्पराय (5) यथाख्यात (6) संयमासंयम (7) असंयम

सामायिक संयम – (i) समता भाव में रहना सामायिक है

(ii) सम्पूर्ण सावद्य का त्याग करना सामायिक संयम है। (द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव इनमें समता धारण करना।)

(iii) पंच संग्रह ग्रंथ में कहा है– अभेद रूप से व्रतों के धारण करने में सञ्ज्वलन कषायों की स्थूल प्रवृत्ति हो रही है तब तक सामायिक संयम है।

(iv) अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावारण कषायों का अनुदय और सञ्ज्वलन का मन्द उदय में होने वाली आत्मा की परिणति में जो निर्विकल्प अवस्था होती है उसे सामायिक संयम कहते हैं यह छटवें गुणस्थान से नौवे गुणस्थान तक होता है।

छेदोपस्थापना – प्रमाद के वश व्रतों में दोष लगाना फिर लगे हुए दोषों में प्रायश्चित आदि करके फिर से व्रतों की स्थापना करना छेदोस्थापना कहलाता है। छेद+उपस्थापना, छेद यानि नष्ट करना, गिरना उपस्थापना यानि पुन: स्थापन करना।

कोई मुनिराज है विशुद्ध परिणाम से सातवें गुणस्थान में पहुँचे पर प्रमाद से छठवें गुणस्थान में आये यह छेद है और पुन: विशुद्ध परिणाम से सातवें गुणस्थान में पहुंच गये यही उपस्थापना है। यह संयम छटवें से नोवे गुणस्थान तक होता है।

शुद्धात्मा में तल्लीन मुनिराज के जब, किंचित् कषाय के उदय से तल्लीनता भंग होती है यही छेद है, शुद्धोपयोग के बल से जब पुन: उसी अवस्था में स्थापित होता हैं यही उपस्थापना है अत: यही छेदोपस्थापना संयम है।

सामायिक व छेदोपस्थापना संयम में संख्या की अपेक्षा– 8, 90, 99 103 मुनिराज होते है।

परिहार विशुद्धि – परिहार – जीवों के घात से रहित होना, परिहार

विशुद्धि – प्राणी हिंसा के परिहार से जो आत्म परिणामों में निर्मलता आयी वह विशुद्धि है।

जिस संयम में हिंसा के परिहार की मुख्यता होती है उसे परिहार विशुद्धि संयम कहते हैं।

परिहार विशुद्धि संयम किस को किस प्रकार से प्राप्त होता है –

तीसं वासो जम्मे वास पुधत्तं खु तित्थयरे मुले ।
पञ्चक्खाणं पढिढो संझूण दुगा उपविहारो ।।472।। जीवकाण्ड 742 गाथा

जन्म से 30 वर्ष तक आराम से सुखी होकर रहे, फिर दीक्षा लेकर 8 वर्ष तक तीर्थंकर व केवली के पादमूल में रहकर नौवें प्रत्याख्यान पूर्व का अध्ययन, प्रत्याख्यान पूर्वक किया। उनको परिहार विशुद्धि नाम का संयम प्राप्त हो जाता है। ये मुनिराज रोज 2 कोस गमन करते हैं और जमीन से चार अँगुल ऊपर चलते हैं। यह संयम छटवे सातवे गुणस्थान में पाया जाता है।

इस संयम में मुनिराजों की संख्या = 6997 (तीन कम सात हजार)

सूक्ष्म साम्पराय – जिन्हें सूक्ष्म कृष्टि को प्राप्त लोभ कषाय के उदय का अनुभव होता है वह सूक्ष्म साम्पराय अथवा जहाँ पर सूक्ष्म लोभ का अनुभव किया जाए वह सूक्ष्म साम्पराय संयम कहलाता है।

(ii) उपशम व क्षपक श्रेणी वाले जीव के अणुमात्र लोभ का अनुभव सूक्ष्म साम्पराय संयम है।

(iii) लोभ कषाय सूक्ष्म हो जाने से जो कषाय की मंदता के कारण विशुद्ध परिणाम होता है। वह सूक्ष्म साम्पराय संयम कहलाता है। यह दसवें गुणस्थान में होता है। इस संयम में जीवों की संख्या 897। इस संयम में दो धाराऐं या श्रेणियां है क्षपक/उपशम श्रेणी क्षपक जीवों की संख्या 598 व उपशम श्रेणी में 299 जीव होते हैं।

यथाख्यात संयम – चारित्र मोहनीय कर्म के पूर्ण उपशम व क्षय से जीव के जो परिणाम बनते हैं तथा चारों कषायों के अभाव से जो जीव के परिणाम बनते हैं वह यथाख्यात चारित्र है।

आत्मा का स्वभाव है उस अवस्था रूप जो चारित्र होता है वह यथाख्यात चारित्र है। यह चारित्र ग्यारहवें बारह तेरह चौदहवे गुणस्थान में पाया जाता है।

इन गुणस्थानों में संयमी मुनिराजों की संख्या क्रमश: 299, 598, 898502, 598 इस प्रकार कुल संख्या 899997।

संयमा संयम – (1) अनंतानुबंधी व अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय व प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से होने वाले परिणाम (संयमासंयम) बारह व्रतों से युक्त जो सम्यग्दृष्टि कर्म निर्जरा के कारण हैं वे संयमासंयम रूप परिणाम ही संयमासंयम है।

(ii) जहाँ अप्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और प्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय तथा संज्वलन कषाय के देशघाती स्पर्धकों के उदय से होने वाले आत्म परिणामों को संयमासंयम कहते हैं।

(iii) त्रस हिंसा का त्याग होता है लेकिन स्थावर हिंसा का त्याग नहीं होता है। इसलिए संयमा संयम है। संयम+असंयम=संयमासंयम, त्रस हिंसा से संयम स्थावर हिंसा से असंयम=संयमासंयम।

संयमलब्धि – 12 कषायों के अनुदय रूप उपशम से तथा चार संज्वलन और 9 नोकषायों के देशोपशम में उत्पन्न होती है। (ज.ध.पु. 13)

देशसंयमलब्धि स्थान तीन प्रकार – (i) प्रतिपातगत (ii) प्रतिपद्यमानगत (iii) अनुभयगत

(1) प्रतिपातगत – (i) जिस स्थान के होने पर यह जीव मिथ्यात्व को या असंयम को प्राप्त होता है वह प्रतिपात स्थान कहा जाता है। ज.ध.पु. 13

(ii) संयमासंयम से गिरने के अन्तिम समय में होने वाले स्थानों का नाम प्रतिपात स्थान है।

(2) प्रतिपद्यमानगत – जिस स्थान के होने पर यह जीव संयमा संयम को प्राप्त होता है वह प्रतिपद्यमानगत स्थान कहलाता है।

(ii) संयमासंयम को धारण करने के प्रथम समय में होने वाले स्थानों को प्रतिपद्यमानगत स्थान कहते हैं।

अनुभयगत – इन दोनों स्थानों को छोड़कर मध्यवर्ती समयों में सम्भव समस्त स्थानों को अप्रतिपात अप्रतिपद्यमान या अनुभय स्थान कहते हैं।

(ii) स्वस्थान में अवस्थान के योग्य और उपरिम गुणस्थान के अभिमुख हुए जीव के स्थान ये सब शेष लब्धिस्थान अप्रतिपात संयम अप्रतिपद्यमान स्वरूप अनुभय स्थान है।

प्राणिसंयम और इन्द्रिय संयम से रहितपना असंयम कहलाता है।

(ii) चौदह प्रकार के जीव समास और अट्ठाईस प्रकार के इन्द्रिय विषयों से जो विरक्त नहीं हैं उनको असंयमी कहते हैं।

28 प्रकार के विषय – स्पर्शन–8, रसना–5, घ्राण–2, चक्षु–5, कर्ण–7, मन–1 = 28 इस असंयम में अनंतानंत जीवों की संख्या होती है तथा गुण. मिथ्यात्व से अविरत तक पाये जाते हैं।

संयम की उपलब्धि – मिथ्यादृष्टि जीव यदि देशसंयम को प्राप्त करने के अंतर्मुहूर्त पहले प्रति समय अनन्त गुणी विशुद्धि से विशुद्ध होता हुआ अपने योग्य तीन करण करता है – (i) बंधापसरण करता है (ii) सात कर्मों का अन्त:कोटा कोटि बन्ध करता है (iii) प्रशस्त प्रकृति का अनुभाग बढ़ता हुआ व अप्रशस्त प्रकृतियों का घटता हुआ बन्ध करता।

करण किसे कहते हैं – परिणामों को करण कहते हैं अथवा जिन भावों से कर्मों का उपशम व क्षय होता है उन भावों को करण कहते हैं।

तीन करण कौन–कौन से हैं – (i) अध:करण (ii) अपूर्वकरण (iii) अनिवृत्तिकरण

ये तीन करण कहाँ होते हैं – जहाँ पर अन्तकरण होता है वहाँ तीन करण होते है : और जहाँ अन्तरकरण नहीं होता है वहाँ दो करण होते हैं।

अन्तरकरण क्या है? – अंतर्मुहूर्त के लिए द्वितीय स्थिति के निषेकों में से उस कर्म के परमाणुओं का (जिसका क्षय अथवा उपशम किया जाना है) अभाव कर देना अर्थात् ऊपर की स्थितियों में व नीचे की स्थिति में स्थापित (निक्षिप्त) कर देना अन्तरकरण कहलाता है।

तीन करण कौन करता है – अनादि या सादि मिथ्यादृष्टि यदि उपशम सम्यक्त्व सहित देश चारित्र को ग्रहण करता है वह तीन करण करता है।

(ii) 26 प्रकृति की सत्ता वाला जीव प्रथमोपशमसम्यक्त्व व संयमासंयम एक साथ ग्रहण करता है तो वह तीन करण करता है।

(iii) 28 प्रकृति की सत्ता वाला तीन करण करके भी संयमासंयम ग्रहण कर सकता है और दो कारण करके भी।

दो करण कौन करता है – वेदक सम्यक्त्व के साथ देश चारित्र ग्रहण करता है तो दो करण करता है। (i) अध:करण (ii) अपूर्वकरण अथवा 28 प्रकृति की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि जीव भी दो करण करके भी संयमासंयम को प्राप्त करता है किन्तु 26, 27 प्रकृति की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि अथवा बीत चुका है वेदक काल जिसका ऐसा 28 प्रकृति वाला मिथ्यादृष्टि यदि संयमासंयम प्राप्त करेगा तो नियम से तीन करण करके उपशम सम्यक्त्व के साथ ही करेगा।

प्रश्न– अध:करण किसे कहते हैं?

उत्तर– अध:करण – समान समयवर्ती जीवों के तथा असमान समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान समयवर्ती जीवों के परिणामों के समान भी होते हैं व असमान भी होते हैं। अर्थात् नीचे के परिणामों से ऊपर के समय के परिणाम समान तथा असमान दोनों प्रकार के होते हैं। उसे अध:करण कहते हैं। यहाँ पर प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि बढ़ती जाती है। प्रत्येक समय में अनन्तगुणी विशुद्धि से विशुद्ध होता हुआ स्थिति काण्डक घात, अनुभाग काण्डक घात, गुणश्रेणी निर्जरा और गुण संक्रमण इन कार्यों को नहीं करता है। किन्तु अनन्तगुणी विशुद्धि द्वारा प्रशस्त प्रकृतियों का चतु:स्थानीय व अप्रशस्त प्रकृतियों का द्विस्थानीय बन्ध करता है तथा साथ ही हजारों बंधापसरण करता है।

प्रश्न– अपूर्वकरण किसे कहते हैं?

उत्तर– अपूर्वकरण – समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान भी होते हैं और असमान भी होते हैं। किन्तु भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान ही होते हैं। प्रत्येक समय अपूर्व अपूर्व परिणाम अनन्तगुणी विशुद्धि को लिए हुए होते हैं जो परिणाम संसार अवस्था में कभी प्राप्त नहीं होते हैं उन्हें अपूर्वकरण कहते हैं। यहाँ चार आवश्यक कार्य होते हैं (i) स्थिति काण्डक घात (ii) अनुभाग काण्डक घात (iii) गुणश्रेणी निर्जरा (iv) गुण संक्रमण।

प्रश्न–अनिवृत्तिकरण किसे कहते हैं?

उत्तर– अनिवृत्तिकरण – समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान ही होते हैं व असमान समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान ही होते हैं। नाना जीवों के परिणामों में निर्वृत्ति तथा परस्पर में भेद नहीं है। वह अनिवृत्तिकरण है (ध.पु. 1 पृ. 183)

(ii) जब यह जीव दर्शन मोहनीय की उपशामना, चारित्र मोहनीय की सर्वोपशामना दर्शन मोहनीय की क्षपणा, चारित्र मोहनीय की क्षपणा, अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करता है तब अनिवृत्तिकरण होता है। (ज.ध. पु. 13)

यहाँ जिस प्रकार संयमासंयम प्राप्ति का विधान कहा है वैसा ही विधान अर्थात करणत्रय अथवा दो करण के द्वारा सकल संयम की भी प्राप्ति होती है। उसमें कोई अन्तर नहीं है।

संयम धारण कौन कर सकता –

संयमासंयम	**सकल संयम**
(1) कर्म भूमि के मनुष्य व तिर्यञ्च दो गति के जीव	मनुष्य (कर्म भूमि के)
(2) क्षुद्र लोग भी धारण कर सकते	देश, कुल, जाति से शुद्ध हो
(3) देवायु का बन्धक अथवा जिसने किसी भी आयु का बन्ध नहीं किया है।	– – –
(4) चारों गति से आया हुआ जीव	– – –
(5) सम्मूर्छन व गर्भ जन्म वाला संज्ञी	गर्भ जन्म वाला मनुष्य ही करता है
(6) प्रथम नरक से छटवे नरक तक से निकला जीव	प्रथम नरक से पाँचवे नरक से निकला जीव
(7) द्रव्य, व भाव तीनों वेद वाला	द्रव्य से पुरुष भाव से तीनों वेद वाला

विशेषता–

* क्षायिक सम्यग्दृष्टि (क्षपक श्रेणी वाला जीव सभी संयम धारण कर सकता है।

* असंप्राप्ता सृपाटिका संहनन वाला जीव केवल दो संयम (सामायिक व छेदोपस्थापन) ही धारण कर सकता है।

* मोहनीय कर्म की 28 प्रकृति की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि जीव पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च सम्मूर्च्छनों में उत्पन्न हो पर्याप्तियों से पर्याप्त हो अंतर्मुहूर्त में सम्यक्त्व व संयमासंयम उत्पन्न कर सकता है।

संयमासंयम व संयम कौन धारण नहीं कर सकता

(1) भोगभूमि के जीव, व कुभोग भूमि के जीव
(2) म्लेच्छखण्ड के मनुष्य, व लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य
(3) स्थावर, विकलत्रय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय व लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यञ्च
(4) नरकायु, तिर्यञ्चायु व मनुष्यायु का बन्धक
(6) 7वें नरक से निकला नारकी जीव
(7) नरक व देवगति के जीव
(8) विकृत मनुष्य, मूर्ख मनुष्य

* क्षायिक सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च संयमासंयम धारण नहीं कर सकता है क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च भोगभूमि में होता है और भोगभूमि में संयम नहीं होता।

विशेष–

⁕ एक अंग एक उपांग अधिक वाला व एक अंग व उपांग कम वाला व्यक्ति संयमासंयम ही धारण कर सकता है पर सकल संयम धारण नहीं कर सकता है।

⁕ सूक्ष्म जीवों में से निकले हुए जीव के सर्व लघुकाल द्वारा संयमासंयम ग्रहण का अभाव है।

⁕ मनुष्यों में वर्ष पृथक्त्व के बिना मास पृथक्त्व के भीतर सम्यक्त्व, संयम और संयमासंयम का अभाव है।

संयमासंयम धारण करने की सीमा – उपरोक्त श्रावकों का आचार पालन करने वाला तीसरे भव में सिद्ध होता है। कोई क्रम से देव और मनुष्यों के सुख को भोगकर तीसरे–आठवें भव में सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं। यह नियम समाधि से मरण करने वालों का है क्षायिक सम्यग्दर्शन की अपेक्षा संयमासंयम को प्राप्त करने वाला जीव तीसरे भव में नियम से निर्वाण को प्राप्त करता है।

पुनः पुनः संयमादि प्राप्त करने की सीमा (ष.ख. 10)

(1) अधिक से अधिक 32 बार संयम धारण ग्रहण कर सकते हैं।

और संयमासंयम अधिक से अधिक पल्य के असंख्यातवें भाग बार ग्रहण कर सकते हैं।

⁕ प्रथमोपशम सम्यक्त्व–वेदक सम्यक्त्व, देशसंयम और अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना ये एक जीव में उत्कृष्ट रूप से पल्योपम के असंख्यातवें भाग बार हो सकते हैं।

⁕ उपशम श्रेणी चार बार चढ़ने के पीछे पाँचवीं बार क्षपक श्रेणी ही चढ़ता है और अवश्य कर्मों का क्षय करता है।

एक जीवन में एक जीव अधिक से अधिक दो बार उपशम श्रेणी चढ़ सकता है।

जन्म के कितने समय पश्चात् संयम धारण कर सकते हैं –

तिर्यञ्च – दक्षिणी प्रतिपत्ति के अनुसार तिर्यञ्चों में उत्पन्न हुआ जीव दो मास, और मुहूर्त पृथक्त्व से ऊपर सम्यक्त्व और संयमा संयम ग्रहण कर सकते हैं।

(उत्तर प्रतिपत्ति के अनुसार) – वह तीन पक्ष, तीन दिवस और अंतर्मुहूर्त के ऊपर सम्यक्त्व और संयमासंयम धारण कर सकता है।

मनुष्यों में दक्षिण प्रतिप्रत्ति के अनुसार – गर्भकाल से प्रारम्भ अंतर्मुहूर्त से अधिक आठ वर्षों के व्यतीत हो जाने पर सम्यक्त्व, संयमासंयम व संयम धारण कर सकता है।

उत्तर प्रतिप्रत्ति के अनुसार – जन्म के बाद आठ वर्षों के ऊपर सम्यक्त्व और संयम और संयमा संयम ग्रहण कर सकते हैं।

संयम में भाव – सभी भाव पाये जाते हैं।

चारित्र की अपेक्षा

सामयिक छेदोपस्थापना – तीन (उपशम, क्षयिक, क्षयोपशम)

परिहार विशुद्धि – उपशम बिना दो

सूक्ष्म साम्पराय – उपशम, क्षायिक

यथाख्यात – उपशम, क्षायिक

असंयम – औदयिक, क्षयोपशम, पारिणामिक

संयमा संयम – क्षयोपशम भाव

संयम प्राप्ति का फल

संयम से व्यक्ति महान् बनता है। संयम से ही समाधि मरण होता है।

संयम से देव गति प्राप्त होती है। संयम से मोक्ष की प्राप्ति है।

संयम से ही आत्म स्वभाव की प्राप्ति है।

मनुष्य जीवन की सार्थतकता संयम से ही है (नहीं तो यह जीवन संयम के बिना बिना ब्रेक की गाड़ी है)।

प्रश्न– सूक्ष्म निगोदिया से निकले हुए जीव सर्व लघुकाल द्वारा संयमासंयम या संयम ग्रहण कैसे कर सकता है?

उत्तर – सूक्ष्म निगोदिया से निकलकर सीधे मनुष्य होने वाले जीव युगपत् सम्यक्त्व व संयमा संयम ग्रहण नहीं कर सकते हैं। बीच में एक भव त्रस का धारण करके मनुष्य में उत्पन्न होने वाले जीव के ही वह सम्भव है।

*****

जीवकाण्ड
योग मार्गणा

आर्यिका विश्रेयश्री माताजी
संघस्थ– उच्चारणाचार्य 108 श्री विनम्रसागर जी महामुनिराज

मंगलाचरण

सिद्धं सुद्धं पणमिय जिणिंदवर, णेमिचंद मकलंकं ।
गुण रयण भूसणुदयं, जीवस्स परूवणं वोच्छं ।।
नमोऽस्तु तुभ्यं मुनिधर्म सूरेः, नमोऽस्तु तुभ्यं त्रयरत्न मूर्ते।
नमोऽस्तु तुभ्यं जगतां हिताय, नमोऽस्तु तुभ्यं गुरुवर्य नित्यं।।

गुरु आभार – सूर्य के समक्ष दीपक की क्या कीमत, चाँद के समक्ष जुगनू की क्या कीमत

ये तो गुरु आज्ञा है बन्धुओं, गुरु के समक्ष शिष्य की क्या कीमत

* हम सभी यहाँ गोष्ठी के लिए एकत्र हुए, मैंने अभी तक जो कुछ भी गुरुदेव से सीखा-पढ़ा, समझा बस उसी में से कुछ आप सभी के सामने रखने जा रही हूँ। उसमें जो कुछ भी गलती हो तो सभी साधुगण व विद्वान मुझे अवगत करायें जिससे उसमें सुधार आये और जो कुछ भी मैं बताने जा रही हूँ उसमें से जो कुछ भी आपको अच्छा लगे वो पूज्य गुरुदेव का है। और जो खराब लगे वो मेरा है। मेरा विषय है योग मार्गणा। आप सभी परिचित हैं योग मार्गणा से। बस उसी पर थोड़ा प्रकाश डाल रही हूँ।

योग किसे कहते हैं तत्वार्थ सूत्र अध्याय-6 में उमा स्वामी जी कहते हैं।

कायवाङ्मनः कर्मयोगः = मन-वचन-काय से आत्म प्रदेशों में हलन-चलन होता है वह योग कहलाता है उससे कर्मों का आना होता है वह आस्रव कहलाता है।

* जो संयोग या संबंध को प्राप्त हो उसे योग कहते हैं। या आत्मप्रदेश में हलन-चलन को योग कहते हैं। (ध.पु.1/1, 1,4/139/9 है)

* क्रिया की उत्पत्ति में जो जीव का उपयोग होता है वह योग है।

* आत्म प्रदेशों के संकोच और विस्तार रूप होने को योग कहते हैं। (धवला पु. 7 में 7/2, 1,2/6/10)

* **राजवार्तिक में कहते हैं –** योग का अर्थ समाधि और ध्यान भी होता है। वर्षादि ऋतुओं की काल स्थिति को योग कहते हैं। (राजवार्तिक 6/1, 12/205/27 में है)

* **योग कितने प्रकार के होते हैं –** मन-वचन-काय की अपेक्षा से योग 3 प्रकार का है और 15 प्रकार का भी होता है।

✻ मन-वचन-काय ये योग शुभ भी होते हैं और अशुभ भी होते हैं। इससे ये दो प्रकार का (नय चक्र) में कहा गया है।

जैसे - आँखों से देखना शुभ भी है और अशुभ भी है।

शंका– *योग क्यों हुए?

समाधान– कर्मों के उदय के कारण योग होते हैं।

✻ **योग कब तक होंगे –** कर्मों के उदय तक योग होंगे।

✻ योग भी बंध का कारण है।

विशेषता – ये सभी योग क्रम से होते हैं। एक समय में एक ही योग होता है। युगपत नहीं (एक साथ नहीं) (जीव काण्ड में) बताया गया है।

योग भाव की अपेक्षा से – पारिणामिक है, शरीर की अपेक्षा से –) औदयिक या क्षायोपशमिक है। (पंचसंग्रह) में बताया गया है।

✻ **नो आगम भाव योग 3 प्रकार का** गुणयोग, संभवयोग, योजनायोग (जिनेन्द्र सिद्धांतकोश-3)

✻ **गुणयोग 2 प्रकार का** कौन-कौनसे हैं-सचित्तगुण योग, अचित्तगुण योग

✻ **अचित्तगुण योग** कौन-कौनसे हैं-रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि।

✻ **सचित्त गुण योग** कौन-कौनसे हैं-औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, परिणामिक

✻ **संभव योग** कौन-कौनसे हैं-मेरु पर्वत चलाने की शक्ति होना संभव योग है।

✻ **योजना योग** कौन-कौनसे हैं-मन-वचन-काय का व्यापार योजना योग है।

✻ **योजना योग-3 प्रकार का**-उपपाद योग, एकान्तानुवृद्धि योग, परिणाम योग।

✻ **15 योग कौन-कौन से होते हैं** मन के -4 सत्य, असत्य, उभय, अनुभय मनोयोग

वचन के – 4 – सत्यवचन योग, असत्यवचन योग, उभयवचनयोग और अनुभयवचनयोग

काय के – 7 – औदारिक औदारिकमिश्र काय योग, वैक्रियक, वैक्रियकमिश्र, आहारक, आहारक मिश्र, कार्मण काययोग

✻ **मनोयोग –** मन से उत्पन्न हुए हलन-चलन लक्षण वीर्य के द्वारा जो योग होता है वह मनोयोग है।

(1) सत्यमनोयोग– वस्तु जैसी है वैसा ही चिंतन वि चारण आदि होना वह सत्य मनोयोग है।

(2) असत्य मनोयोग– वस्तु जैसी है वैसा विचार नहीं होना मनोयोग नहीं होना वह असत्य मनोयोग है।

(3) उभय मनोयोग–जिस मन की स्थिति में विषयभूत वस्तु सत्य व असत्य है। वह उभय मनोयोग है।

(4) अनुभय मनोयोग–जिस मन के कार्य को ना सत्य कह सके ना असत्य वह अनुभय मनोयोग है।

❊ **वचन योग** वचन की उत्पत्ति के लिए जो पुरुषार्थ हो वह वचन योग है। (धवला पु. 1)

(1) सत्य वचन योग– वचन वर्गणा के निमित्त से जो योग होता है उसे सत्य वचन योग कहते हैं।

(2) असत्य वचन योग– इससे विपरीत योग को असत्य वचन योग कहते हैं।

(3) उभय वचन योग– सत्य और असत्य वचन रूप योग को उभय वचन योग कहते हैं।

(4) अनुभय वचन योग– जो वचन ना सत्य है ना असत्य रूप है। उसे अनुभय वचन योग कहते हैं।

10 सत्यवचन

❊ **सत्य वचन के 10 भेद**

(1) जनपद सत्य – देशवासी मनुष्यों के व्यवहार में जो शब्द रूढ़ हो (बोला जाता) रहा है। जैसे - भक्त, भात–कुलु

(2) सम्मति सत्य – बहुत मनुष्यों की सम्मति से जो साधारण में रूढ़ हो (बोला जाता है) उसको सम्मति सत्य या संवृति सत्य कहते हैं) जैसे – पट्टरानी के सिवाय साधारण स्त्री को देवी कहना।

(3) न्यास या स्थापना सत्य – भिन्न वस्तु में भिन्न वस्तु के समारोप करने वाले वचन को स्थापना सत्य कहते हैं। जैसे – प्रतिमा को चन्द्रप्रभ कहना।

(4) नाम सत्य – दूसरी कोई अपेक्षा न रखकर केवल व्यवहार के लिये जो किसी का संज्ञा कर्म करना जैसे – व्यवहार से किसी को जिनदत्त कहना।

(5) रूप सत्य – पुद्गल के रूपादिक अनेक में से रूप की प्रधानता से जो वचन कहा जाय जैसे – किसी मनुष्य के बालों को काला सुंदर कहना।

(6) प्रतीत्य सत्य – किसी विवक्षित पदार्थ की अपेक्षा दूसरे पदार्थ के स्वरूप को कहना। ये आपेक्षिक सत्य है। जैसे –किसी व्यक्ति को बड़ा, लम्बा या स्थूल कहना।

(7) व्यवहार सत्य – नैगम आदि की मुख्यता से जो शब्द बोला जाये उसको व्यवहार सत्य कहते हैं। जैसे – नैगमनय की मुख्यता से 'भात पकाता हूँ।

(8) संभावना सत्य – असंभव का परिहार करते हुए वस्तु के धर्म को कहना संभावना सत्य है। जैसे – इन्द्र जम्बूद्वीप को पलट सकता है।

(9) भाव सत्य – आगमोक्त विधि निषेध के अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थों में संकल्पित परिणाम को भाव कहते हैं, उसके आश्रित जो वचन हो उसको भावसत्य कहते हैं। जैसे – नमक, मिर्च, खटाई आदि से अच्छी तरह मिलाये हुए द्रव्य को प्रासुक कहना।

(10) उपमा सत्य – सदृश पदार्थ को उपमा कहते हैं। इसके आश्रय से जो बोला जाये उसे उपमा सत्य कहते हैं। जैसे – पल्य यहाँ पर रोम खण्डों का आधारभूत गड्डा पल्य के सदृश होता है। इसलिए उसको पल्य कहते हैं। इस प्रमाण को उपमा सत्य कहते हैं।

वचन योग का स्वरूप

नोट – दश प्रकार के सत्य वचन हुए इसी प्रकार उल्टा असत्य वचन होता है।

(अनुभय वचन) किसके होते हैं

* दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चारइन्द्रिय के जीवों की भाषा को अनुभय वचन कहते हैं। और केवली की भाषा भी अनुभय भाषा होती हैं।

* संज्ञी जीवों की आमंत्रणी आदि भाषा भी अनुभय भाषा है। आमंत्रण का अर्थ – आमंत्रण देने की भाषा।

* याचना करना, पूछना आदि जो भाषा है वे सभी अनुभय भाषा कहलाती हैं।

(अनुभय वचन) के 9 भेद होते हैं

(1) आमन्त्रणी – हे देवदत्त! यहाँ आओ, इस तरह बुलाने के शब्दों को **आमंत्रणी** भाषा कहते हैं।

(2) अज्ञापनी – यह काम करो, इस तरह के आज्ञावचनों को **आज्ञापनी** भाषा कहते हैं।

(3) याचनी – वह मुझे दो, इस तरह प्रार्थना के शब्दों को **याचनी** भाषा कहते हैं।

(4) आपृच्छनी – यह क्या है? इस तरह के प्रश्न करने को **आपृच्छनी** भाषा कहते हैं।

(5) प्रज्ञापनी – मैं क्या करूँ इस तरह के सूचना वाक्यों को **प्रज्ञापनी** भाषा कहते हैं।

(6) प्रत्याख्यानी – इसको छोड़ता हूँ, इस तरह के छोड़ने वाले शब्द बोलना प्रत्याख्यानी भाषा कहते हैं।

(7) संशयवचनी – यह बालक है या बालिका। ऐसे संशय के शब्दों को संशय वचनी भाषा कहते हैं।

(8) इच्छानुलोम्नी – मेरे लिए भी ऐसा होना चाहिए। ऐसी इच्छा रखने वाले वचनों को इच्छानुलोम्नी भाषा कहते हैं।

(9) अनक्षरगता – द्वीइन्द्रियादिक व असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत जीवों की भाषा **अनक्षरात्मक** होती है।

नोट – ये सब ही भाषाएँ अनुभय वचन रूप है। इनके सुनने से व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही अंशों का बोध होता है।

* सामान्य अंश से असत्य भी नहीं कह सकते, विशेष अंश के व्यक्त न होने से सत्य भी नहीं कह सकते।

उदरे भव औदारिक: औदारिक– उदर से जो शरीर हो वह औदारिक है, जिसे हम अपनी आँखों से देख सके उसे औदारिक कहते हैं।

औदारिक काय योग – औदारिक शरीर के आश्रय से जो आत्मप्रदेशों में हलन–चलन हो उसे औदारिक काय योग कहते हैं।

* औदारिक काय योग पर्याप्त अवस्था में होता है।

* **औदारिक मिश्र काय योग –** जब तक औदारिक शरीर पूर्ण नहीं होता तब तक औदारिक व कार्माण शरीर की मिश्र अवस्था होती है उससे आत्म प्रदेशों में जो हलन–चलन होता है उसे औदारिक मिश्र काययोग कहते है। ये अपर्याप्त अवस्था में होता है। अपर्याप्त अवस्था अंतर्मुहूर्त तक रहती है।

* **वैक्रियक –** विक्रिया करना जिसका लक्ष्य हो उसे वैक्रियक कहते हैं।

* **वैक्रियक काययोग –** यह योग पर्याप्त अवस्था में होता है, विशेष क्रिया वाला शरीर विक्रिय है। उसमें उत्पन्न होने वाले योग को वैक्रियक काययोग कहते हैं। ये योग देव और नारकियों को होता है।

* **वैक्रियक मिश्र काययोग –** वैक्रियक शरीर की पर्याप्ति पूर्ण ना हो तब तक वैक्रियक मिश्र काय योग रहता है। वैक्रियक व कार्माण की मिश्र अवस्था वैक्रियक मिश्र शरीर कहलाता है उससे होने वाला योग वैक्रियक मिश्र काय योग कहलाता है।

* **आहारक काययोग –** 6वें गुणस्थानवर्ती मुनि को तत्त्वों में संशय हो या चैत्यालयों की वंदना का भाव हो तो उनके मस्तक से एक हाथ का पुतला निकलता है। उसे आहारक काय योग कहते हैं। ये पुतला ऋद्धिधारी मुनिराजों के ही निकलता है।

* **आहारक काययोग का पुतला कैसा होता है –** धवल वर्ण, रक्त से रहित, पवित्र, उत्तम आकृति, कांति, एक हाथ की अवगाहना, अंतर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति, ना किसी से रुकता है, ना रोका जाता है। इन निमित्त से आत्म प्रदेश में हलन–चलन को आहारक काय योग कहते हैं।

* **धवला पु. 3 में कहा है –** एक समय में आहारक काय योग वाले जीव 54 हो सकते हैं और कहीं–कहीं संख्यात भी कहा है।

* **आहारक मिश्र काययोग–** आहारक शरीर की अपर्याप्त अवस्था में जो योग हो उसे आहारक मिश्र काय योग कहते हैं।

* **धवला पु. 3 में कहा है –** (आहारक मिश्र योग में अधिक से अधिक जीव 27 हो सकते हैं)

* **कार्मण काययोग –** कर्म को ही कार्मण कहते हैं। या कर्मों के समूह को कार्मण कहते हैं। यह योग एक, दो, तीन समय पर्यंत विग्रह गति में होता है।

* **विग्रह गति किसे कहते है –** देह को विग्रह कहते हैं।

विग्रह गति में जीव के तैजस व कार्मण ये दो शरीर होते हैं।

※ तैजस शरीर को योग में क्यों नहीं माना? – क्योंकि तैजस शरीर से बंध, निर्जरा और उपभोग नहीं होता है। इसलिए इसे काय योग में नहीं माना।

※ तिर्यंचों के कौन–कौन से शरीर होते हैं – (तैजस शरीर, कार्मण शरीर, औदारिक शरीर)

※ मनुष्यों के कौन–कौन से शरीर होते हैं – (औदारिक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, आहारक शरीर होते हैं वैक्रियक शरीर)

※ देव–नारकी के कौन–कौन से शरीर होते हैं – (वैक्रियक शरीर और तैजस शरीर व कार्मण शरीर भी होता है।)

※ पाँचों शरीर की उत्कृष्ट स्थिति –

औदारिक शरीर – 3 पल्य वैक्रियक शरीर – 33 सागर

आहारक शरीर – अंतर्मुहूर्त तैजस कार्मण शरीर – 66 सागर और कर्म स्थिति प्रमाण

(कौनसे योग वाले जीव व कौनसे जीव कितने गुणस्थान तक होते हैं (षट् खण्डागम में बताया) सामान्य और विशेष दोनों से

※ सत्यमनोयोग व अनुभय मनोयोग में – संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव 1 गुणस्थान से 13वें गुणस्थान तक होते हैं।

※ सत्य–असत्य मनोयोग व उभय मनोयोग अनुभय में – संज्ञीपंचेन्द्रिय 1 गुणस्थान से 12वें गुणस्थान तक होते हैं।

※ अनुभय वचनयोगी – द्वीइन्द्रिय जीवों से लेकर 13वें गुणस्थान तक होते हैं।

※ सत्यवचन योगी – संज्ञी पंचेन्द्रिय 1 गुणस्थान से लेकर 13वें गुणस्थान तक होते हैं।

※ सत्य असत्यवचन व उभयवचन अनुभय वचनयोगी – संज्ञी पंचेन्द्रिय 1 गुणस्थान से लेकर 12वें गुणस्थान तक होते हैं।

※ औदारिक काययोगी – एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय प्रथम गुणस्थान से गुणस्थान–13वें तक होते हैं।

औदारिक मिश्र काययोगी सभी तिर्यंच मनुष्य अपर्याप्तक 1,2,4,13 गुणस्थान वर्ती।

※ वैक्रियक काय योगी व मिश्र योगी – सभी देव–नारकी 1 गुणस्थान से लेकर 4 गुणस्थान तक होते हैं।

※ आहारक काय योगी व मिश्र योगी – 6वें गुणस्थान में होते हैं।

※ कार्मण काय योगी – चारों गति के जीव विग्रह गति में 1, 2, 4, 13 गुणस्थान तक होते हैं।

✻ मनोयोग के समय – वचन व काय योग नहीं होता।

✻ वचनयोग के समय – मनोयोग व काय योग नहीं होता।

✻ आहारक योग के समय – औदारिक काय योग नहीं होता आहारक के समय औदारिक का हलन-चलन बंद हो जाता है। आहारक के समय वैक्रियक भी नहीं होता।

पंच संग्रह 5/358

(किन–किन गुणस्थानों में कितने योग व कौन–कौन से योग होते हैं)

1. मिथ्यात्व गुणस्थान में – 13 योग होते है (आहारक व आहारक मिश्र बिना)

2. सासादन गुणस्थान में – 13 योग (आहारक व आहारक मिश्र बिना)

3. मिश्र गुणस्थान में – 10 योग (तीनों मिश्र, आहारक व कार्मण काययोग नहीं होते है) (इस गुणस्थान में मरण नहीं होता इसलिए कार्मण योग संभव नहीं)

4. असंयत गुणस्थान में – 13 योग (आहारक व आहारक मिश्र काय योग नहीं होते हैं)

5. संयमासंयम गुणस्थान में – 9 योग (तीनों मिश्र, वैक्रियक, आहारक, कार्मण बिना) (आहारक, आहारक मिश्र 5वें गुण. तक नहीं होते)

6. प्रमत्तविरत गुणस्थान में– 11 योग (वैक्रियक दोनों, औदारिक मिश्र, कार्मण बिना) (आहारक शरीर 6वें गुण. में ही होता है)

7. अप्रमत्तविरत गुणस्थान में – 9 योग (तीनों मिश्र, वैक्रियक, आहारक व कार्मण काय योग नहीं होते हैं।)

8. अपूर्वकरण गुणस्थान में – 9 योग (तीनों मिश्र, वैक्रियक, आहारक व कार्मण काय योग नहीं होते हैं।)

9. अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में 9 योग (तीनों मिश्र, वैक्रियक, आहारक व कार्मण काय योग नहीं होते हैं।)

10. सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में 9 योग (तीनों मिश्र, वैक्रियक, आहारक व कार्मण काय योग नहीं होते हैं।)

11. क्षीणकषाय गुणस्थान में 9 योग (तीनों मिश्र, वैक्रियक, आहारक व कार्मण काय योग नहीं होते हैं।)

12. क्षीणमोह गुणस्थान में 9 योग (तीनों मिश्र, वैक्रियक, आहारक व कार्मण काय योग नहीं होते हैं।)

13. सयोग केवली गुणस्थान में 7 योग (असत्य, उभय मनायोग, असत्य, उभय वचनयोग, वैक्रियक दोनों, आहारक दोनों ये योग नहीं होते हैं।)

तैजस शरीर – तैजस शरीर से बंध, निर्जरा और उपभोग नहीं होता इसलिए इसे काययोग नहीं माना।

✻✻✻✻✻

जीवकाण्ड
विषय – गति–आगति

श्रमणी आर्यिका विमुदश्री माताजी

संघस्थ– उच्चारणाचार्य 108 श्री विनम्रसागर जी महामुनिराज

मंगलाचरण

सिद्धं सुद्धं पणमिय, जिणिंद वर णेमिचंद मकलंकं ।
गुण रयण भूसणुदयं, जीवस्स परूवणं वोच्छं ।।

सर्वप्रथम नेमिनाथ भगवान के चरणों में तथा आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती महामुनिराज के चरणों में और गुरुदेव के चरणों में बारम्बार नमस्कार करती हूँ।

मंच पर विराजित अभीक्ष्ण ज्ञान के धारी गुरुदेव और महान् संतों और विद्वानों के बीच में मैं अल्पज्ञानी क्या विवेचन कर सकती हूँ, फिर भी गुरु आज्ञा से, उनके आशीर्वाद से इनके चरणों में रहकर जो कुछ भी सीखा है उसमें से ही कुछ बोलने का प्रयास कर रही हूँ, जो कुछ भी अच्छा लगे वो गुरुदेव का ही समझना और जो बुरा लगे/गलत लगे उससे मुझे अवगत कराना जिससे कि सुधार किया जा सके।

यह जीव अनादिकाल से चारों गतियों में भ्रमण कर रहा है। भ्रमण करते–करते जब अनन्तकाल व्यतीत हो जाते हैं तब जाकर कोई भव्य जीव इन गतियों के दुःखों का अनुभव कर पाता है। इनसे छुटकारा पाने की सोच पाता है, कोई विरले ही जीव होते हैं जो इन गतियों के दुःखों से बचने का, इनसे बाहर निकलने का पुरुषार्थ करते हैं और लाखों–करोड़ों में से कोई एक जीव ही इन गतियों से छुटकारा पाकर अन्त में पंचम गति को प्राप्त कर लेता है।

आज हम भी यही उद्देश्य लेकर, यही भावना लेकर इस अखिल भारतीय विद्वत संगोष्ठी में एकत्रित हुए हैं और गतियों के बारे में जानने का प्रयास कर रहे हैं जिससे कि हम भी इन गतियों के दुःखों से भयभीत होकर, इनसे छुटकारा पाने का अथक प्रयास करके चारों गतियों से छुटकारा पाकर अंत में सिद्ध गति को प्राप्त हो जायें।

गम्यत इति गतिः – जो प्राप्त की जाये उसे गति कहते हैं। (धवला पु.–1)

भवादभवसंक्रान्तिर्वा गतिः – एक भव से दूसरे भव में जाने को गति कहते हैं। (धवला पु.–1)

देशाद्देशान्तर प्राप्ति हेतुर्गतिः – एक देश से दूसरे देश के प्राप्त करने का जो साधन है, उसे गति कहते हैं। (सर्वार्थ सिद्धि)

गमनं गति – गमन करने को गति कहते हैं।

इस प्रकार अलग–अलग शास्त्रों में गति की अनेक परिभाषाएँ दी हुई हैं।

सामान्य से गति – एक प्रकार की, सिद्ध व असिद्ध की अपेक्षा दो प्रकार की।

कर्मोदय कृत और क्षायिक की अपेक्षा – 2 प्रकार की।

कर्मोदय कृत गति है – नरक, तिर्यंच, देव, मनुष्य व क्षायिक गति–सिद्ध गति।

देव गति, अदेवगति, सिद्ध गति की अपेक्षा से – 3 प्रकार की।

देव, मनुष्य, तिर्यंच, नरक की अपेक्षा से – 4 प्रकार की।

देव, मनुष्य, तिर्यंच, नरक, सिद्ध की अपेक्षा से – 5 प्रकार की।

यहाँ हमारा विषय गति–आगति है – गति–आगति का अर्थ है कि जीव मरण करके किस–किस गति में जा सकता है और किस–किस गति से आ सकता है। सर्वप्रथम नारकी जीवों की बात करते हैं–

नारकी जीवों में गति–आगति

* नारकी जीव देव व नारकी नहीं बनते। नारकी केवल कर्मभूमि के गर्भज मनुष्य व गर्भज संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही बनते हैं, भोगभूमि के नहीं बनते क्योंकि नरकों में दान व दान की अनुमोदना का अभाव है और भोगभूमि दान के फल से प्राप्त होती है।

* नारकी जीव एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सम्मूर्च्छन, अपर्याप्तकों में भी नहीं जाते।

* सातवीं पृथ्वी के नारकी मिथ्यात्व सहित ही उत्पन्न होते हैं और मिथ्यात्व सहित ही निकलते हैं। भले ही वहाँ जाकर सम्यक्त्व पैदा कर ले पर निकलते समय नियम से मिथ्यात्व में आ जाते हैं।

* सातवीं पृथ्वी से निकलने वाला नारकी क्रूर पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही होते हैं। संक्लिष्ट परिणामों के कारण पुनः सातवीं अथवा किसी भी पृथ्वी में एक बार अवश्य जाते हैं। सातवीं पृथ्वी से निकले हुए नारकी मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व व संयमासंयम इन छः को उत्पन्न नहीं करते हैं। मनुष्य, महामत्स्य व तंदुल मत्स्य सातवीं पृथ्वी तक आ जा सकते हैं। जिन जीवों के वज्रवृषभ नाराच संहनन होताहै वही सातवीं पृथ्वी में जा सकता है।

* छठवीं पृथ्वी में भी नारकी जीव मिथ्यात्व सहित ही उत्पन्न होते हैं, लेकिन वहाँ जाकर दूसरा, तीसरा, चौथा गुणस्थान प्राप्त कर सकते हैं और मरते समय तीसरे गुणस्थान को छोड़कर पहले, दूसरे, चौथे गुणस्थान सहित निकल सकते हैं, क्योंकि तीसरे गुणस्थान में मरण नहीं होता है। छठवीं पृथ्वी से निकलने वाला नारकी संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज तिर्यंच, गर्भज मनुष्य बन सकते हैं और मति, श्रुत, अवधि ज्ञान, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व व देशसंयम को ग्रहण कर सकते हैं पर सकल संयम ग्रहण नहीं कर सकते, छठवीं पृथ्वी में लगातार तीन बार उत्पन्न हो सकते हैं, **स्त्री छठवीं पृथ्वी** से आगे नहीं जा सकती।

* पाँचवीं पृथ्वी के नारकी की विशेषता छठवीं पृथ्वी के समान ही है पर विशेषता यह है कि इस पृथ्वी से निकलने वाले जीव सकल संयम को ग्रहण कर सकते हैं पर मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते, सिंह आदि क्रूर तिर्यंच जीव पाँचवीं पृथ्वी से आगे नहीं जा सकते हैं, ये जीव एक से पाँचवीं पृथ्वी तक ही जाते हैं।

* चौथी पृथ्वी के नारकी की विशेषता भी पाँचवीं–छठवीं पृथ्वी के समान है, विशेषता यह है कि इस पृथ्वी से निकलने वाले जीव सकल संयम ग्रहण करके उसी भव से मोक्ष भी जा सकते हैं परन्तु तीर्थंकर आदि पद को धारण नहीं कर सकते। चौथी पृथ्वी में ही लगातार पाँच बार उत्पन्न हो सकता है, सर्प (अजगर) आदि चौथी पृथ्वी तक ही जा सकते हैं, इससे आगे नहीं जा सकते।

नोट – सातवीं से चौथी पृथ्वी तक के नारकी त्रेसठ श्लाका पुरुषों में से कोई भी पद धारण नहीं करते हैं।

* पहली–दूसरी–तीसरी पृथ्वी के नारकीयों की विशेषता भी चौथी–पाँचवीं–छठवीं के समान ही है, विशेषता यह है कि ये जीव तीर्थंकर पद भी धारण कर सकते हैं और सकल संयम ग्रहण करके उसी भव से मोक्ष जा सकते हैं। तीसरी पृथ्वी में असंख्यात जीव ऐसे हैं जो तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर रहे हैं, इनसे भी असंख्यात गुणे जीव दूसरी पृथ्वी में है और इनसे भी असंख्यात गुणे जीव पहली पृथ्वी में है जो तीर्थंकर प्रकृति के सत्त्व वाले है।

नोट – दूसरी से सातवीं पृथ्वी तक के नारकी मिथ्यात्व के साथ ही उत्पन्न होते है परन्तु पहली पृथ्वी के नारकी मिथ्यात्व व सम्यक्त्व दोनों ही सहित उत्पन्न हो सकते हैं।

* जो सम्यक्त्व सहित उत्पन्न होता है वह सम्यक्त्व सहित ही निकलता है। **गिद्ध, भैरुण्ड आदि पक्षी प्रथम** पृथ्वी से तीसरी पृथ्वी तक ही उत्पन्न हो सकते हैं और तीसरी पृथ्वी में ही लगातार उत्पन्न होवें तो अधिक से अधिक 6 बार उत्पन्न हो सकते हैं। **सरीसृप अर्थात पेट के बल चलने वाले तिर्यंच जीव** दूसरी पृथ्वी तक उत्पन्न हो सकते हैं, इससे आगे नहीं, दूसरी पृथ्वी में ही लगातार अधिक से अधिक सात बार उत्पन्न हो सकते हैं। **असैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंच प्रथम** नरक से आगे नहीं जा सकते क्योंकि मन न होने से दूसरी आदि सातवीं पृथ्वी तक जाने के पाप नहीं कर सकता, पहली पृथ्वी में ही अधिक से अधिक लगातार 8 बार उत्पन्न हो सकते हैं।

* इस संबंध में पण्डित द्यानतराय जी द्वारा रचित चर्चा शतक में कहा है कि –

साततैं निकसि पशु, छठें नर व्रत नाहीं, पाँचैं महाव्रत, चौथे सेती मोक्ष सार हैं ।
तीजे, दूजे, पहले ते आय जिनराय होय, चक्री, बलदेव, वासुदेव नाही होत है ।।

इसका अर्थ है कि सातवें नरक से निकला नारकी, क्रूर संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही होता है, मनुष्य नहीं होता, छठें नरक से निकला नारकी, संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज तिर्यंच व गर्भज मनुष्य हो सकता है किन्तु मनुष्य बनकर महाव्रत धारण नहीं कर सकता, पाँचवें नरक से निकला नारकी, तिर्यंच व मनुष्य बन सकता है, मनुष्य बनकर महाव्रत धारण कर सकता है पर मोक्ष नहीं जा सकता, चौथे नरक से निकला नारकी, तिर्यंच व मनुष्य

बन सकता है और मनुष्य बनकर महाव्रत धारण करके मोक्ष भी जा सकता है। परन्तु तीर्थंकर नहीं बन सकता। पहली, दूसरी, तीसरी पृथ्वी से निकला नारकी तीर्थंकर भी हो सकता है। परन्तु नरक से निकलने वाले चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि नहीं बनते हैं। जैसे – श्रीकृष्ण का जीव तीसरी पृथ्वी से निकलकर आगामी चौबीसी में निर्मल नामक तीर्थंकर होंगे। श्रेणिक का जीव प्रथम पृथ्वी से निकलकर आगामी चौबीसी में महापद्म नामक प्रथम तीर्थंकर होंगे।

* **अल्पबहुत्व –** सबसे कम नारकी सातवीं पृथ्वी में है जिनकी संख्या असंख्यातासंख्यात है। सातवीं पृथ्वी से दूसरी पृथ्वी तक असंख्यातासंख्यात गुणे-गुणे नारकी है और दूसरे से सातवें नरक तक जितने नारकी हैं उनसे भी असंख्यातासंख्यात गुणे जीव प्रथम नरक में पाये जाते हैं। माना जैसे – सम्पूर्ण नारकी जीवों की संख्या 100 हैं, तो 90 नारकी पहली पृथ्वी में है, शेष 10 नारकी दूसरी से सातवीं पृथ्वी में है।

* नरकों में इतना दुःख है कि एक नेत्र की टिमकार जितने दुःखों का करोड़ों वर्षों तक करोड़ों मुखों द्वारा भी वर्णन नहीं किया जा सकता, इतनी प्रतिकूलताओं में भी जब जीव सम्यक्त्व पैदा कर लेता है तो यहाँ मनुष्य गति के जीवों को सम्यक्त्व प्राप्त करने में क्या कठिनाई है? अर्थात् बहुत सुलभ है/सरल है यदि चाहे तो –

क्योंकि योगसागर के दोहे नं. 50 में कहा है कि–

जेम रमतु मन विषय मां, तेम जे आतम लीन।
शीघ्र मिले निर्वाण पद, धरै न देह नवीन।।

इसमें कहा है कि – जिस तन्मयता से यह जीव विषयों में रमण करता है, उसी तन्मयता के साथ यदि आत्मा में रमण करे तो यह जीव शीघ्र ही निर्वाण पद को प्राप्त कर ले।

हिन्दू दर्शन में भी कहा है –

जैसी नीत हराम पै तैसी हरि पै होय।
चलो जाय वैकुंठ कू पल्लो न पकड़े कोय।।

अर्थात् जैसी रुचि विषय भोगों में है, वैसी रुचि यदि भगवान से लगा ले तो शीघ्र ही वैकुंठ पद को प्राप्त कर ले, उसे कोई नहीं पकड़ सकता।

किसी ने शंका कि – नारकी जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही बनते हैं, एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय में उत्पन्न नहीं होते, जबकि वहाँ तो अशुभ लेश्या ही होती है, तीव्र संक्लेश परिणाम ही रहते हैं फिर भी वे एकेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होते हैं, ऐसा क्यों? जबकि भवनत्रिक से दूसरे स्वर्ग तक के देव एकेन्द्रिय में भी उत्पन्न होते हैं, इनके तो पर्याप्त अवस्था में शुभ लेश्याएँ ही होती हैं ऐसा क्यों?

आचार्यों ने समाधान करते हुए कहा है कि – मूल भाव मोह है नारकी जीव नरकों में रहना नहीं चाहते, वहाँ से जल्दी निकलना चाहते हैं, इसलिए मोह की मंदता होने के कारण नारकी जीव एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय,

असैनी पंचेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होते, जबकि दूसरे स्वर्ग तक के मिथ्यादृष्टि देव मंदार माला के मुर्झाने से यह जानकर कि अब यहाँ से मुझे च्युत होना पड़ेगा, भोग आदि छोड़ना पड़ेगा इस प्रकार मोह की आसक्ति से एकेन्द्रियों में उत्पन्न हो जाते हैं।

अब तिर्यंच गति के जीवों की बात करते हैं – तिर्यंच गति में गति–आगति

* तिर्यंच गति के जीव चारों गतियों में उत्पन्न हो सकते हैं विशेषता यह है कि –

* एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक के जीव नरक गति व देव गति में उत्पन्न नहीं हो सकते, मात्र पंचेन्द्रिय जीव ही चारों गतियों में उत्पन्न हो सकते हैं, इनमें भी असैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंच प्रथम नरक तक ही और देव गति में भवनवासी व्यंतरवासी में ही उत्पन्न हो सकते हैं इनसे आगे नहीं। सैनी पंचेन्द्रिय, देव गति में 16वें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकते हैं, इससे आगे नहीं। नरक में सातों पृथ्वीयों में, मनुष्यों में सम्मूर्च्छन व गर्भज दोनों में, तिर्यंचों में सभी तिर्यंचों में उत्पन्न हो सकते हैं यह कथन कर्मभूमि की अपेक्षा से था।

* भोगभूमि के तिर्यंच सिर्फ देव गति में ही उत्पन्न होते हैं विशेषता यह है कि मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच भवनत्रिक में ही जन्म लेते हैं, वैमानिकों में नहीं लेते और सम्यग्दृष्टि तिर्यंच पहले युगल सौधर्म–ईशान स्वर्ग में ही उत्पन्न होते हैं इसके आगे उत्पन्न नहीं होते।

* कर्मभूमि के मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच 12वें स्वर्ग तक ही उत्पन्न होते हैं, इससे आगे नहीं। चतुर्थ व पंचम गुणस्थानवर्ती तिर्यंच मात्र देव गति में ही जाते हैं, वो भी 16वें स्वर्ग तक इसके ऊपर नहीं जाते। सम्यग्दृष्टि तिर्यंच किल्विषिक व आभियोग्य देवों में उत्पन्न नहीं होते हैं, शेष 8 प्रकार के देवों में ही उत्पन्न होते हैं।

* सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंचों में जन्म लेते हैं तो सूक्ष्म एकेन्द्रियों में, साधारण वनस्पति, बादर अग्नि व वायु कायिकों में तथा लब्ध्यपर्याप्तकों में उत्पन्न नहीं होते, बादर पृथ्वी, जल व प्रत्येक वनस्पति कायिक पर्याप्तकों में ही जाते हैं।

* सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच नरक गति में नहीं आते हैं, शेष तीन गतियों में ही जाते हैं अग्निकायिक, वायुकायिक जीव मात्र तिर्यंच गति में ही जाते हैं।

आगति – चारों ही गति से तिर्यंच गति में आ सकते हैं। विशेषता यह है कि –

* सातों पृथ्वीयों के नारकी जीव मरण करके तिर्यंच गति में उत्पन्न हो सकते हैं।

* देव गति में 12वें स्वर्ग तक के देव ही तिर्यंच गति में उत्पन्न हो सकते हैं, भवनत्रिक देव व प्रथम युगल के देव ही एकेन्द्रियों में उत्पन्न हो सकते हैं, अन्य देव उत्पन्न नहीं होते।

* मनुष्य गति के सम्मूर्च्छन व गर्भज दोनों ही प्रकार के जीव तिर्यंच गति में उत्पन्न हो सकते हैं।

* कर्मभूमि के मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच भी तिर्यंच गति में उत्पन्न हो सकते हैं परन्तु चतुर्थ व पंचम गुणस्थान वाले तिर्यंच, चतुर्थ गुणस्थान से ऊपर वाले मनुष्य, सम्यग्दृष्टि देव–देवियाँ, सम्यग्दृष्टि नारकी तिर्यंच गति में उत्पन्न नहीं होते हैं।

✲ तिर्यंच गति से मरण करके देव व नरक गति में उत्पन्न होने वाले जीव मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं।

✲ तिर्यंच गति से मरण करके तिर्यंच गति में उत्पन्न होने वाले जीव मति, श्रुत, अवधिज्ञान, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व व संयमासंयम भी उत्पन्न कर सकते हैं पर सकल संयम धारण नहीं कर सकते।

✲ तिर्यंच गति से मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले जीव सकल संयम धारण करके मोक्ष भी जा सकते हैं, परन्तु तीर्थंकर, बलदेव, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि पद को उत्पन्न नहीं कर सकते।

✲ तिर्यंच गति, चारों गतियों में सबसे विशाल है अर्थात् तिर्यंच गति में अक्षय अनन्त जीव है, जबकि शेष तीन गतियों में असंख्यातासंख्यात प्रमाण ही जीव है।

98 जीवसमासों में से 85 जीवसमास तिर्यंच गति के ही है, 84 लाख योनियों में से 62 लाख योनियाँ तिर्यंच गति में ही है, 199½ लाख करोड़ कुल कोटि में से 134½ लाख करोड़ कुल कोटि तिर्यंच गति में ही है।

✲ भव भी तिर्यंच गति के सबसे अधिक है। जब जीव असंख्यात बार नरक गति में, उससे भी असंख्यात गुणे बार देव गति में, उससे भी अनंत गुणे बार तिर्यंच गति में चला जाता है तब जाकर एक बार मनुष्य बन पाता है, तिर्यंच की अनंत पर्यायों का छेद करके मनुष्य पर्याय प्राप्त करना बहुत दुर्लभ है।

शंका – क्या कोई जीव नित्य निगोद से मरण करके मनुष्य बनकर उसी भव से मोक्ष जा सकता है?

समाधान करके कहा गया है कि – हाँ।

✲ प्रतिशंका – नित्य निगोद दो होते हैं। – सूक्ष्म व बादर। क्या दोनों ही प्रकार के जीव मनुष्य बनकर उसी भव से मोक्ष जा सकते हैं।

इस संबंध में दो विचारधाराएँ मिलती हैं – (1) गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा नं.–540 की सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका टीका एवं धवला पु. 10 के अनुसार – सूक्ष्म नित्य निगोद व सूक्ष्म इतर निगोद के जीव अगले भव में मनुष्य बनकर देशसंयम को ग्रहण कर सकते हैं परन्तु सकल संयम को ग्रहण नहीं कर सकते, इसलिए उसी भव से मोक्ष नहीं जा सकते। इस मत के अनुसार बादर नित्य निगोदिया जीव ही मनुष्य बनकर उसी भव से मोक्ष जा सकते हैं।

(2) तिलोयपण्णति भाग–3 गाथा नं. 316 में पृ.सं.–177 पर लिखा है कि –

चोत्तीस–भेद–संजुद–तिरिया हु अबंतरम्मि जम्मम्मि ।
ण हुंति सलाग–णरा, भजणिज्जा णिव्वुदि–पवेसे ।।

एकेन्द्रियों के 24 + दो, तीन, चार इन्द्रिय के 2–2, पंचेन्द्रिय के 4 इन 34 भेदों से संयुक्त तिर्यंच जीव निश्चय ही अनन्तर जन्म में शलाका पुरुष नहीं होते परन्तु मुक्ति प्रवेश में भजनीय है। अर्थात् अनंतर जन्म में

ये कदाचित मुक्ति भी प्राप्त कर सकते हैं। अत: सूक्ष्म नित्य निगोद व सूक्ष्म इतर निगोद, बादर नित्य निगोद व बादर इतर निगोद ये चारों ही प्रकार के जीव अगले भव में मनुष्य बनकर उसी भव से मोक्ष भी जा सकते हैं।

अब मनुष्य गति के जीवों के बारे में चर्चा करते हैं मनुष्य गति में गति-आगति- मनुष्य गति के जीव मरण करके चारों गतियों में उत्पन्न हो सकते हैं और समस्त कर्मों को नष्ट करके पंचमगति (सिद्ध गति) को भी प्राप्त कर सकते हैं।

❊ मनुष्य गति के जीव दो प्रकार के होते हैं – सम्मूर्च्छन व गर्भज।

❊ सम्मूर्च्छन मनुष्य तो लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं अर्थात् एक श्वास के 18वें भाग में ही मरण कर जाते हैं। इनके अधिक से अधिक 8 भव होते हैं। इनके एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। सम्मूर्च्छन मनुष्य मरण करके मात्र दो गति में ही जाते हैं – तिर्यंच व मनुष्य। ये सभी प्रकार के मनुष्य व सभी प्रकार के तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं लेकिन भोगभूमि में उत्पन्न नहीं होते क्योंकि इनके पात्र दान व दानानुमोदना का अभाव पाया जाता है।

❊ गर्भज मनुष्य पर्याप्तक ही होते हैं। इनमें सभी गुणस्थान पाये जाते हैं।

❊ कर्मभूमि के गर्भज मिथ्यादृष्टि मनुष्य मरण करके चारों गतियों में जा सकते हैं, सभी नरकों में, सभी तिर्यंचों में, सभी मनुष्यों में, देवों में भवनत्रिक देवों से नव ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकते हैं। दिव्य संयम के बल पर।

❊ सासादन सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरण करके नरक गति में नहीं जाते हैं, शेष तीन गतियों में जा सकते हैं।

❊ ये जीव तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं तो एकेन्द्रियों व पंचेन्द्रियों में ही उत्पन्न होते हैं, विकलेन्द्रियों में नहीं होते।

❊ ये जीव सूक्ष्म एकेन्द्रियों में, बादर अग्नि, वायुकायिकों में, साधारण वनस्पति अर्थात् निगोद में, अपर्याप्तकों में उत्पन्न नहीं होते हैं। सिर्फ बादर पृथ्वी व जलकायिकों में, प्रत्येक वनस्पति में, पर्याप्तकों में ही उत्पन्न होते हैं।

❊ पंचेन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं तो गर्भज संज्ञी पंचेन्द्रियों में ही उत्पन्न होते हैं, कर्मभूमि व भोगभूमि दोनों में ही उत्पन्न हो सकते हैं।

❊ एकेन्द्रियों में उत्पन्न होने वाले सासादन सम्यग्दृष्टि जीव सासादन सम्यक्त्व छोड़कर ही उत्पन्न होते हैं, जबकि पंचेन्द्रियों में सासादन सम्यक्त्व सहित व रहित दोनों अवस्था में उत्पन्न हो सकते हैं। यह एक मत है किंतु दूसरे मत से सासादन गुणस्थान वाले भी एकेन्द्रियों में उत्पन्न हो सकते हैं।

❊ मनुष्य गति में उत्पन्न होने वाले सासा. सम्यग्दृष्टि मनुष्य गर्भज मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं। सम्मूर्च्छनों में नहीं और कर्मों को नष्ट करके मोक्ष भी जा सकते है, परन्तु शलाका पुरुषों में उत्पन्न नहीं होते हैं।

* देवों में उत्पन्न होने वाले सासा. सम्यग्दृष्टि मनुष्य भवनवासी देवों से नवग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकते हैं दिव्य संयम के बल-पर।

* तीसरे गुणस्थान में मरण नहीं होता है।

* चतुर्थ गुणस्थानवर्ती मनुष्य सिर्फ देव गति में ही उत्पन्न होते हैं। वो भी वैमानिक देवों में ही उत्पन्न होते हैं, भवनत्रिक में नहीं। ऐसे जीव संयम रहित है तो 16वें स्वर्ग तक और संयम सहित है तो द्रव्य संयम के बल पर नवग्रैवेयक तक भी जा सकते हैं।

* सम्यक्त्व प्राप्ति से पूर्व आयु बंध नहीं किया है तो देव गति में ही जाते हैं। पहले आयु बंध कर लिया हो बाद में क्षयोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न किया हो तो सम्यक्त्व का वमन करके अन्य गतियों में भी जा सकता है। और यदि आयु बंध करके बाद में क्षायिक सम्यक्त्वी या कृतकृतवेदक हो जाते हैं तो नरक में प्रथम पृथ्वी के प्रथम पटल में ही उत्पन्न होते हैं। तिर्यंच और मनुष्य में उत्पन्न होते हैं तो भोग भूमि में ही उत्पन्न होते हैं।

* पंचम गुणस्थानवर्ती मनुष्य संयम रहित है तो 16वें स्वर्ग तक तथा द्रव्य संयम के बल से नव ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकते हैं। जैसे कि छहढाला में पं. दौलतराम जी ने कहा भी है कि – **''यों श्रावक व्रत पाल स्वर्ग सोलम उपजावें।''**

* सकल संयमी द्रव्य व भाव दोनों प्रकार से संयम धारण करने वाले मनुष्य पहले स्वर्ग से अन्तिम सर्वार्थ सिद्धि तक उत्पन्न हो सकते हैं। यदि चरम शरीर हो तो उसी भव से मोक्ष प्राप्त करते हैं। यह सब कथन कर्मभूमि की अपेक्षा से था।

* भोग भूमि में आदि के 4 गुणस्थान ही होते हैं। मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि मनुष्य मात्र भवनत्रिक देवों में ही उत्पन्न होते है, इससे आगे नहीं, सम्यग्दृष्टि मनुष्य मात्र प्रथम युगल में ही उत्पन्न होते हैं।

* सौधर्म आदि दक्षिण दिशा के इन्द्र, सौधर्म इन्द्र की शचि इन्द्राणी, सौधर्म इन्द्र के चारों लोकपाल सोम, यम, वरुण, कुबेर, लौकान्तिक देव, सर्वार्थ सिद्धि के देव ये सभी मनुष्य बनकर नियम से उसी भव से मोक्ष जाते हैं।

* **आगति** – मनुष्य गति में जीव कौन-कौन सी गति से आता है, इस पर प्रकाश डालते हैं –

* चारों गतियों से आकर कर्म भूमिज मनुष्यों में उत्पन्न हो सकते हैं।

* प्रथम पृथ्वी से छठवीं पृथ्वी तक के नारकी गर्भज कर्मभूमिज मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि सातवीं पृथ्वी का नारकी तो मनुष्यों में उत्पन्न होता ही नहीं है सिर्फक्रूर संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में ही उत्पन्न होते हैं। विशेषता यह है कि पहली से तीसरी पृथ्वी तक से आने वाले नारकी जीव तीर्थंकर भी बन सकते हैं, परन्तु अन्य शलाका पुरुष चक्रवर्ती, बलदेव आदि नहीं बनते हैं।

* अग्निकायिक व वायुकायिक जीवों को छोड़कर सभी तिर्यंच मनुष्यों में उत्पन्न हो सकते हैं। और सकल संयम धारण करके मोक्ष भी जा सकते हैं। लेकिन शलाका पुरुषों में उत्पन्न नहीं हो सकते हैं।

* असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के तिर्यंच मात्र कर्मभूमिज के मनुष्य ही बन सकते हैं जबकि संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच कर्मभूमिज व भोगभूमिज दोनों प्रकार के मनुष्यों में उत्पन्न हो सकते हैं।

* मनुष्य गति से मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले जीव गर्भज व सम्मूर्च्छन दोनों में उत्पन्न हो सकते हैं, सकल संयम धारण करके उसी भव से मोक्ष भी जा सकते हैं। किन्तु शलाका पुरुषों में उत्पन्न नहीं होते हैं। विशेषता यह है कि लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों से आने वाले जीव कर्मभूमिज मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं, भोगभूमिज में नहीं क्योंकि अपर्याप्तकों में दान व दानानुमोदना का अभाव पाया जाता है।

* देवगति से मनुष्यों में आने वाले जीव कर्मभूमि में ही उत्पन्न हो सकते हैं, भोगभूमि में नहीं। गर्भज ही बनते हैं, सम्मूर्च्छन नहीं।

* भवनत्रिक देव-देवियाँ, प्रथम युगल की देवियाँ, 63 शलाका पुरुषों को छोड़कर शेष सभी गुण प्राप्त कर सकते हैं और उसी भव से मोक्ष भी जा सकते हैं।

* प्रथम युगल से नव ग्रैवेयक तक के देव शलाका पुरुष भी बन सकते हैं और उसी भव से मोक्ष भी जा सकते हैं।

* नव अनुदिश व 5 अनुत्तर के देव, नारायण-प्रतिनारायण पदों को छोड़कर शेष सभी पद धारण करके मोक्ष भी जा सकते हैं।

अब अन्त में देव गति के बारे में चर्चा करते हैं – देवगति में गति-आगति- देव गति के जीव मरण करके कर्मभूमि के पर्याप्त तिर्यंचों व गर्भज मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं। क्योंकि देव से देव में, देव से नारकी में गमनागमन नहीं होता है।

* तिर्यंचों में उत्पन्न होने वाले जीव एकेन्द्रियों में व पंचेन्द्रियों में ही उत्पन्न होते हैं, विकलेन्द्रियों में नहीं।

* एकेन्द्रियों में उत्पन्न होने वाले देव गति के जीव बादर जलकायिक, बादर पृथ्वीकायिक प्रत्येक वनस्पतिकायिक पर्याप्तकों में ही उत्पन्न होते हैं। शेष सूक्ष्म एकेन्द्रियों में, बादर अग्निकायिक, बादर वायुकायिक पर्याप्त में तथा सभी अपर्याप्तकों में उत्पन्न नहीं होते हैं।

* भवनत्रिक से प्रथम युगल तक के देव-देवियाँ ही एकेन्द्रियों में उत्पन्न हो सकते हैं।

* पंचेन्द्रियों में उत्पन्न होने वाले देव गर्भज संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही होते हैं असंज्ञी पंचेन्द्रिय नहीं।

* भवनत्रिक के देव-देवियाँ, वैमानिक देवों की देवियाँ मनुष्यों में उत्पन्न होकर शलाका पदों को छोड़कर अन्य सर्वगुणों को उत्पन्न कर सकते हैं, मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं।

❋ दूसरे युगल से 12वें स्वर्ग तक के देव कर्मभूमि के गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंच व गर्भज मनुष्य ही बन सकते हैं। ये मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं तो 63 शलाका पुरुष पद धारण करके मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं।

❋ 13वें स्वर्ग से नव ग्रैवेयक तक के देव एकमात्र मनुष्य गति में ही उत्पन्न होते हैं। सकल संयम ग्रहण करके मोक्ष भी जा सकते हैं। 63 शलाका पुरुष पद भी धारण कर सकते हैं।

❋ नव ग्रैवेयक से ऊपर के देव नारायण-प्रतिनारायण पद को छोड़कर शेष शलाका पद धारण करके मोक्ष भी जा सकते हैं। इनमें से सर्वार्थ सिद्धि के देव अवधिज्ञान को साथ लेकर ही मनुष्यों में उत्पन्न होकर नियम से उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

क्योंकि सर्वार्थ सिद्धि के देवों के अनुगामी, हीयमान, प्रतिपाति अवधि ज्ञानों का अभाव पाया जाता है।

आगति – देवगति में तिर्यंच व मनुष्य गति से ही आ सकते हैं।

❋ एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय तिर्यंच देव गति में उत्पन्न नहीं होते हैं।

❋ असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच भवनवासी व वाण व्यन्तरों में ही उत्पन्न होते हैं। इससे आगे नहीं।

❋ संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच हरिवंश पुराण की अपेक्षा 12वें स्वर्ग तक तथा त्रिलोकसार व षट्खण्डागम की अपेक्षा 16वें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकते हैं।

❋ मनुष्य गति के जीवों में सम्मूर्च्छन मनुष्यों को छोड़कर गर्भज मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि व संयतासंयत के जीव द्रव्य संयम के बल से नव ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकते हैं। और संयम के बिना 16वें स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकते हैं। हरिवंश पुराण की अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य 12वें स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकते हैं, इससे आगे नहीं।

❋ अन्यमतावलम्बी के साधु हरिवंश पुराण की अपेक्षा 12वें स्वर्ग तक तथा त्रिलोकसार व षट्खण्डागम की अपेक्षा 16वें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकते हैं।

❋ भोगभूमिया मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच व मनुष्य एकमात्र भवनत्रिक देवों में ही उत्पन्न होते हैं और असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच व मनुष्य एकमात्र प्रथम युगल में ही उत्पन्न होते हैं, इससे आगे नहीं।

इस गति-आगति के विषय में जानकर हमें चिन्तन, मनन करना चाहिए और इस भव भ्रमण से बचने का प्रयास करना चाहिए, इससे परिणामों में विशुद्धि बढ़ती है, कर्मों की निर्जरा होती है और इन सबका चिंतन करने से हम उर्ध्व गति को प्राप्त करते है।

आप सभी विद्वतजनों ने मुझे अल्पज्ञ को सुना, इसमें कोई त्रुटि रह गई हो तो अवगत कराना जिससे कि सुधार किया जा सके।

अंत में पूज्य गुरुदेव के श्री चरणों में बारम्बर नमोऽस्तु-3

कषाय मार्गणा

बा.ब्र. श्रिया (प्राची) दीदी
संघस्थ-सिद्धान्तज्ञ, उच्चारणाचार्य 108 श्री विनम्रसागर जी महामुनिराज

प्रकाशमान बिन्दु

* कषाय एक सामान्य परिचय
* कषायों के भेद व प्रभेद
* भेद, प्रभेदों की परिभाषाएँ
* स्वभाव
* वासना काल
* कार्य/किसका घात?
* अकषाय
* गुणस्थानों में कषाय
* गतियों में कषाय
* उपसंहार

श्री नेमिचन्द्र आचार्य प्रवर ने जीवकांड शुभ ग्रंथ रचा-ऽऽ
विज्ञान पे खरा यहाँ उतरा, ग्रंथों में जो सरताज कहा
उसमें से थोड़ा अंश यहाँ-सुंदर सा तुम्हें दिखाती हूँ
गुरुदेव ने जो उपदेश दिया मैं गाती और सुनाती हूँ।।

जय हो...

Jainism is like a beautiful pound. There are many lotus some bigger and smaller and I'am one of the little-little smallest lotus among the all lotus so is no any ability to speakes some things about the beautiful pound means Jainism. But I'm also follow the Janism so that's my duty to obey the order of my preceptor **"P. Pujya Uchcharnacharya 108 Shri Vinamra Sagar Ji Gurudev"** so I'm trying to speak about Jainism and under the main topic of the seminar Jeevkand my subject is discovery of Passions.

सर्वप्रथम त्रयभक्तिपूर्वक आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी सिद्धान्तदेव को नमस्कार करती हूँ। तत्पश्चात् जैसे-मछली जल में अपने अंडे को थोड़ी-थोड़ी देर में देखती रहती है और उसके देखने मात्र में अण्डा पक जाता है। ठीक वैसे ही गुरु कृपा से शिष्य को ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ऐसी दिव्य दृष्टि से मुझे सिद्धान्त के ज्ञान से शिक्षित करने वाले पूज्य गुरुदेव के चरणों का वंदन करती हूँ व मंच पर विराजमान समस्त विद्वत साधु गणों को यथायोग्य नमोऽस्तु व वंदामि कर मंचासीन सभी विद्वानों को अपने विषय से अवगत कराती हूँ।

हैं भेद स्वभाव कषायों के, उनका जो होता काल यहाँ–ऽऽ
सम्यग्दर्शन–व्रत घात करें, ये नहीं दिखायें लाल यहाँ–ऽऽ
जिन–गुरु की कृपा दृष्टि से ही–2 हो ज्ञान–3 यहाँ समझाती हूँ–
गुरुदेव ने जो उपदेश दिया...
जय हो...

Passion lessness is base of devotyee

कषाय रहितता भक्ति का आधार हैं।

सुहदुक्खसुवहुसस्सं कम्मेक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसार दूर मेरं तेण कसाओ त्ति णं वेंत्ति।।282।। (गो.जी.)

जीव के सुख–दुःख रूप अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाली तथा जिसकी मर्यादा असंयत दूर हैं, ऐसे कर्म रूपी खेत का कर्षण (जोतना) करती हैं, इसलिए इसको कषाय कहते हैं। जैसे:– जिस प्रकार कोई किसान खेत को जोतकर मृदु बनाता हैं और उसमें अनेक प्रकार के फल लगते हैं, उसी प्रकार कषाय भी कर्म रूपी फल जिसमें दुःख सुखादि अनेक प्रकार के फल लगते हैं, और कहा भी हैं–

✲ जो आत्मा को कसे अर्थात् दुःख दे, उसे कषाय कहते हैं। यह बात धवला जी ग्रंथ में भी कही गयी है और अन्य–अन्य ग्रन्थों में भी कहा है– ✲ आ. अमितगति जी मुनिराज कहते हैं– जो मोक्ष के कारणभूत चारित्र परिणामों को नष्ट करें, उसे कषाय कहते हैं। (प.सं.अ. 1 श्लोक नं. 203)

✲ आत्मा के भीतरी कलुषित परिणामों को कषाय कहते हैं। (जै.सि. को. भाग–2 पृ. 33)

✲ आचार्य भगवन् शुभचन्द्र स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा नामक ग्रंथ में कहते हैं–

अप्प–पसंसण–करणं पुज्जेसु वि दोस–गहण–सीलत्तं।
वेर–धरणं च सुइरं तिव्व–कसायाण लिंगाणि।।92।।(का.अनु.)

अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषों में दोष निकालने का स्वभाव होना और बहुत काल तक बैर धारण करना ये तीव्र कषायी जीवों के चिन्ह हैं। (92/का.अनु.)

✲ जिन कषायिक भावों से वर्तमान की शांति भंग हो रही है, उससे भविष्य का सुख कैसे मिलेगा, जैसे:– खोलते पानी में चेहरा नहीं दिखता वैसे ही तीव्र कषाय में आत्मा की परिणति नहीं दिखती।

एक वैज्ञानिक परीक्षण– एक तीव्र क्रोधी कषायिक व्यक्ति का रक्त निकाल कर एक खरगोश की गाजर पर लगा दिया गया। जैसे ही रक्त उस खरगोश के अन्दर प्रवेश किया। कुछ ही क्षण में वह खरगोश चिड़चिड़ाने लगा इधर से उधर भागने लगा, अपने बाल नोचने लगा और कुछ ही मिनट में वह मृत्यु को प्राप्त हो गया जब कषायिक व्यक्ति का रक्त किसी और कि हिंसा कर सकता है, तब यह तो निश्चित हुआ कि स्वयं का घात तो होगा ही।

कषाय ही हिंसा है– आत्मस्वरूप का घात करने से कषाय ही हिंसा हैं, क्योंकि किसी का घात करना हिंसा कहलाता है। यह चार प्रकार की होती हैं– स्वद्रव्य, परद्रव्य, स्वभाव, परभाव।

1. **स्वभाव हिंसा–** कषाय उत्पन्न होने पर जो आत्म परिणामों का घात हो रहा है, वह **स्वभाव हिंसा** है।

2. **परभाव हिंसा–** कषाय उत्पन्न होने पर जो दूसरे के परिणामों का घात करता है, वह **परभाव हिंसा** है।

3. **परद्रव्य हिंसा–** कषाय उत्पन्न होने पर जो दूसरों के द्रव्य (मारना, पीटना, शस्त्रों से घात करना) का घात होता है, वह **परद्रव्य हिंसा** है।

4. **स्वद्रव्य हिंसा –** कषाय उत्पन्न होने पर अपना ही घात करना **स्वद्रव्य हिंसा** है।

अत: एक कषाय में चारों प्रकार की हिंसा समाहित हैं, इसलिए कषाय ही हिंसा है।

कषायिक व्यक्ति कषाय के उदय में अपना घात तो करता ही हैं, और दूसरों का भी करता है, जैसे– कषाय हाथ में पकड़े गर्म कोयले की तरह होती है जो किसी ओर का नुकसान करे या न करे परन्तु पकड़ने वाले के हाथ पहले जला देती है।

पूज्य गुरुदेव कहते हैं– दुनियाँ में कोई भी चीज शुद्ध नहीं है, सबको शुद्ध किया जाता है, जैसे–सोना, चाँदी, पानी आदि। सभी वस्तुएँ अशुद्ध हैं, इन्हें तपन से शुद्ध किया जाता है। वस्तु को तपन से व आत्मा को तप से शुद्ध किया जाता है। आत्मा भी कषाय रूपी कर्म मल से मलिन है। यद्यपि आत्मा स्वतंत्र रूप से शुद्ध है परन्तु व्यक्ति (पर्याय) रूप से अशुद्ध है।

प्रकरण चल रहा था कषाय ही हिंसा है, कषाय कैसे स्वघात के साथ–साथ परघात और परघात के साथ स्वघात कराती हैं सुनिएगा–

क्रोध करे मरे और मारे ताये फाँसी होत,
किंचित हूँ क्रोध करो पड़ो जेल खाने में।
जो कबहूँ निबल भये हाथ–पाँव टूट गये,
ठोर–ठोर पट्टी बंधी, पडो सफाखाने में।
पीछे से कुटुम्बी जन हाय–हाय करत फिरे,
जाए–जाए पैरों पड़े तहसील और थाने में।
किंचित हूँ क्रोध कर इते दु:ख होत भ्रात,
होते हैं अनेक गुण जरा गम खाने में।।

क्रोध अर्थात् कषाय जो आत्म स्वभाव जो जला देती है यदि अत्यधिक क्रोध कर व्यक्ति परद्रव्य हिंसा करता है तो फाँसी की सजा हो जाने से उसके स्वद्रव्य की भी हिंसा हो जाती है। यदि व्यक्ति स्वयं निर्बल होता है, तो सबल से पीटकर अस्पताल पहुँच जाता है। जहाँ जगह–जगह उसके पट्टियाँ बँधती हैं। फिर परिवारी जन उसे खोने के डर से तथा न्याय की अपील लिये तहसील व थानों में जा–जाकर परेशान होते हैं। जब किंचित कषाय करने का ये परिणाम है तो क्यों न हम जरा सी क्षमा धारण करके इन सभी से छूट जाए।

कषयंतिति कषाय:

कषाय के भेद

मोह+अज्ञान=कषाय। मोह पेड़ है तो अज्ञान पानी, मोह पेट्रोल है, तो अज्ञान ऑक्सीजन। मोह के कारण अज्ञान होता है और मोह व अज्ञान मिलकर जन्म देते हैं कषाय को। आचार्य भगवन् कहते हैं सारी समझ तभी तक कायम है, जब तक कषाय का उदय नहीं आया। आइये इस कषाय के मुख्य भेद और प्रभेदों के विषय में संक्षेप में जानते हैं-

कषाय (क.पा.)

- **मुख्य कषाय (ष.ख./रा.वा./धवला-6)**
  - **क्रोध**
  - **मान**
  - **माया**
  - **लोभ**
  - **प्रत्येक कषाय के 4-4 भेद (सा.सि./रा.वा.)**
    - ✻ **अनंतानुबंधी**
    - ✻ **प्रत्याख्यानावरण**
    - ✻ **अप्रत्याख्यानावरण**
    - ✻ **संज्वलन**
- **नो कषाय (ता.सूत्र/8/9/स.सि.)**
  - **हास्य**
  - **रति**
  - **अरति**
  - **शोक**
  - **भय**
  - **जुगुप्सा**
  - **स्त्री वेद**
  - **पुरुष वेद**
  - **नपुंसक वेद**

✻ अनंतानुबंधी 4 + अप्रत्याख्यानावरण 4 + प्रत्याख्यानावरण 4 + संज्वलन 4 =16+9 नो कषाय = 25 कषाय (सा.सि./रा.वा./ध.-8/क.पा.)।

समत्तदेससयल, चरित्तजहक्खादचरणपरिमाणे।
घादंति वा कसाया, चउसोल असंखलोगमिदा।।

सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकल चारित्र, यथाख्यात चारित्र रूपी परिणामों को जो कषे, घाते वो कषाय कहलाती है। इसके अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन इस प्रकार चार भेद हैं। अनंतानुबंधी आदि चारों के क्रोध, मान, माया, लोभ इस तरह चार-चार भेद होने से कषाय के उत्तर भेद सोलह होते हैं किन्तु कषाय के उदय स्थानों की अपेक्षा से असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं। कषाय और आँधी दोनों एक जैसी होती हैं दोनों के शांत होने पर ही पता चलता है कि कितना नुकसान हुआ है। एक उदाहरण याद आता है-कि एक बच्चा खेल रहा था। खेलते-खेलते उसने 2000 का नोट उठा लियाऔर उसे जलते

चूल्हे में डाल दिया। माँ को बहुत तीव्र क्रोध आ गया। उसने पुत्र को उठाकर चूल्हे में डाल दिया पुत्र जल गया। मृत्यु को प्राप्त हो गया। पिता ने देखा उसे भी तीव्र क्रोध आ गया। उसने माँ को उठाया और उसी आग में डाल दिया। जब माँ और पुत्र दोनों की मृत्यु हो गयी तो वह स्वयं भी अग्नि लगाकर मृत्यु को प्राप्त हो गया। ओ हो क्षणमात्र की कषाय ने पूरे परिवार का सर्वनाश कर दिया। कषाय जलती अग्नि सदृश है। आइये इसको वर्गीकृत कर जानते हैं–

कषाय के भेद

※ सामान्य से	एक (1)
※ विशेष से	चार अनंतानुबंधी आदि (4)
※ क्रोधादि चौकड़ी की अपेक्षा	सोलह (16)
※ चौकड़ी नो कषाय सहित	पच्चीस (25)
※ उदय स्थान के विशेष की अपेक्षा	असंख्यात लोक प्रमाण

कषायों की तीव्रता या मन्दता का संबंध लेश्याओं से है, अनंतानुबंधी आदि अवस्थाओं से नहीं। कुछ आचार्यों का मत यह भी है कि छठवें गुणस्थान में भी कृष्णलेश्या होती है और उदाहरण स्वरूप द्वीपायन मुनिराज का कथन आता है। अब कथन करते हैं किंचित कषाय का।

नो कषाय : चारों कषायों को उत्तेजित नौ नो कषाय करती हैं। कषायों से कर्म और कर्म से कषाय होती हैं अत: दोनों का विनाश होने पर परम द्रव्य (शुद्धि) सम्पन्न होती है। कषाय से आकुलित हुआ जीव परद्रव्य में प्रवृत्त होता है। जो पर द्रव्य में प्रवृत्त होता है, उसका स्वात्मज्ञान क्षीण हो जाता है और जिसका स्वात्मज्ञान क्षीण हो जाता है, उसका मिथ्यात्व और भी अधिक पुष्ट हो जाता है। अत: किंचित कषाय अर्थात् नो कषाय से उत्पन्न कषाय हँसी-हँसी में क्रोध आ जाना भी सर्वनाश का ही कारण बनता है।

※ कषायिक परिणाम वो जहर है जो एक मिनट में सारे जप-तप को नष्ट कर देता है। आइये इनके भेदों को कई ग्रंथों व विषयिक ग्रंथ के आधार से विश्लेषण रूप से जानते हैं।

भेदों की परिभाषाएँ

कषाय की तीव्रता से कर्मों का तीव्र आस्रव बंध होता है। ये कषायें विवेक को खा जाती हैं। अत: अन्तिम श्वास निकलने से पहले कषाय का धुआँ निकाल देना। शरीर से धुआँ निकलने से पहले कषायों का धुआँ निकाल देना चाहिए क्योंकि कषाय ही संसार में जीव को कस के रखती है,मुक्त नहीं होने देती। आइये इन्हें जानते हैं।

क्रोध कषाय– क्रोध एक प्रकार का क्षणिक पागलपन है। क्रोध हवा का वह झोंका है, जो बुद्धि के दीपक को बुझा देता है। जो व्यक्ति पल-पल में क्रोध करे, दूसरों से लड़े-झगड़े तो यह उसकी श्वानवृत्ति का प्रतीक है। जो मैत्री से न रहे ऐसा पुरुष श्वान है अर्थात् क्रोध मानव को नीच गति का पात्र बनाता है।

मान कषाय– मान महाविषरूप मान जहर के सदृश है "Proud is the roots of all suffrings" आपके संबंध मधुर तभी तक है, जब तक मान नहीं आया, मान के आते ही सारे संबंध एक क्षण में विलीन हो जाते हैं। जब तक कषाय नहीं परिवार में एकता बनी है। कषाय के जागते ही महाभारत शुरु हो जाती है। भरत, बाहुबली का युद्ध मान कषाय के कारण ही हुआ। राम का वनवास भी कषाय के कारण ही हुआ था। संसार में जितने भी युद्ध हुए, होते हैं, उनका एक मात्र कारण कषाय ही है। कहते हैं–

मान करना के कारणे, रह्यो न इनको वंश।
तीनों को तुम देख लो, रावण–कौरव कंस।।

माया:– माया की छाया सर्वनाशी है। मायाचारी करने वाला तिर्यंच गति को प्राप्त करता है। छलपूर्वक चारित्र, कपटपूर्ण हीनाधिक नापतौल, जीवों को ठगना, धोखा देना, मन में कुछ, वचन में कुछ और काया से कुछ करना आदि मायाचारी है। कहते हैं–

माया मरी न मन मारा, मर–मर गया शरीर।
आशा तृष्णा न मरी, कह गये दास कबीर।।

लोभ :– लोभ पाप को बाप बखानो लोभ समस्त पापों का बाप है, क्योंकि लोभ के कारण समस्त पाप होते हैं, लोभ के कारण से ही काम, क्रोध, मान, माया आदि उपजते हैं। संसार में समस्त दु:खों का कारण लोभ पाप है। लोभी मनुष्य मरकर नरक जाता है या खजाने में सर्प छिपकली होता है।

आचार्य भगवंत उमास्वामी जी तत्त्वार्थ में कहते हैं–

नो कषाय :– हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद ये नौ नो कषाय कहलाती हैं। किंचित कषाय को नो कषाय कहते हैं।

❊ जो कषाय तो नहीं, परन्तु कषाय की व्युत्पत्ति में सहायक हो, उसे नो कषाय कहते हैं। (कर्म विज्ञान भाग–1)

❊ ये कषायवत् व्यक्त नहीं है, इसलिए नो कषाय कहलाती है। (जै.सि.को.भा.–2पृ.–35)

❊ इन सभी से ही राग–द्वेषादि परिणामों का निर्माण होता है, ये इन्हीं में गर्भित होकर तीव्र क्रोधादि कषायों का रूप ले लेती हैं।

❊ जिस प्रकार छोटी–सी फास पूरे शरीर में वेदना उत्पन्न कर देती है, ठीक उसी प्रकार यह नो कषाय किंचित मात्र कषाय होते हुए भी आत्मस्वरूप का घात कर देती हैं। इन कषायों को विस्तृत जानना सर्वज्ञ देव का विषय है पर आचार्य भगवंतों द्वारा अध्ययन से ज्ञात स्पष्टीकरण इस प्रकार है–

अनंतानुबंधी– जो कषाय भव्यों के सम्यक्त्व एवं सम्यक्त्वाचरण चारित्र का घात करती है, उसे अनंतानुबंधी कषाय कहते हैं। (सि.प्रबो.टी.)

✻ जो अनंत संसार का, अनंत जन्मों का, अनंत मरणों का अनुबंध कराये वो अनंतानुबंधी कषाय कहलाती है। जो जिन भगवान को न मानन दे, वो अनंतानुबंधी कषाय है।

इसके चार भेद हुआ करते हैं– अनंतानुबंधी कषाय

क्रोध मान माया लोभ

✻ इस कषाय को द्विमुखी कषाय भी कहते हैं। यह सदैव मिथ्यात्व के साथ काम करती है। यह कषाय आत्म तत्त्व को मानने को तो मना करती ही है, साथ ही जानने भी नहीं देती है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय:– अप्रत्याख्यानावरण कषाय जीव के गुणों का घात तो करती ही है, साथ ही उसे त्रस हिंसा का त्याग भी नहीं करने देती है।

✻ अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जीव किंचित भी संयम धारण नहीं कर पाता। इसके उदय से प्रत्याख्यान नहीं होता इसलिए इसका नाम अ+प्रत्याख्यान+आवरण हैं (जो त्याग पर परदा डाले)

इसके भी चार भेद हैं– अप्रत्याख्यानावरण कषाय

क्रोध मान माया लोभ

जब तक कषायों का दमन नहीं तब तक संयम संभव नहीं हो सकता है।

✻ **प्रत्याख्यानावरण कषाय :–** यह कषाय जीव को देशव्रती तो बनने देती है परन्तु महाव्रत धारण नहीं करने देती। इस कषाय के उदय से जीव त्रस हिंसा का त्यागी तो हो जाता है, परन्तु स्थावर हिंसा का त्याग करने के भाव नहीं कर पाता है। इसके भी चार भेद हैं–

संजवलन कषाय

क्रोध मान माया लोभ

✻ **संज्वलन कषाय:–** जो कषाय आत्मा के यथाख्यात चारित्र गुण का घात करे, वह संज्वलन कषाय है। इस कषाय के उदय में जीव धीमी आंच में तपता सा रहता है। यह कषाय अधिक घात तो नहीं करती परन्तु इसके रहते केवलज्ञान प्रकट नहीं हो पाता है। (सि.प्रबो.टीका.)

✻ जो व्यक्ति तीव्र कषायिक होता है, उसका स्वभाव चिड़चिड़ा सा होता है और शास्त्रकारों ने कहा हैं **न रत: इति नरक:** जो प्रेम, वात्सल्य क्षमा का व्यवहार न करता हो, वह व्यक्ति मनुष्य पर्याय में भी नारकी सदृश ही हुआ करता है।

✻ कषायों की मंदता में सब बातें अच्छी लगती हैं, कषाय की तीव्रता में तो सामने खड़े भगवान भी नहीं दिखते और कषायों में मन्दता आये बिना भव-भ्रमण विराम नहीं ले सकता।

वासना काल

✻ कषाय की एक कणिका पूरे जीवन की साधना को जलाकर भस्म कर देती है। आपके उद्वेग के काल का भाषण और लिया गया निर्णय अन्त में पश्चाताप देकर ही जायेगा।

अनंतानुबंधी कषाय :- मिथ्यात्व के साथ इसका काल जघन्य से एक समय उत्कृष्ट से 6 आवली है।

✻ इसका वासना काल छः माह से लेकर अनंतकाल तक है।

उदाहरण- कमठ का बैर जो 10 वर्ष तक चला यह अनंतानुबंधी कषाय के फलस्वरूप ही हुआ।

✻ भाभी का बैर सुकुमाल मुनि की पर्याय तक।

✻ कोई व्रती, महाव्रती अगर इस कषाय को बांध लें तो वह द्रव्य से व्रती व भावों से अव्रती सदृश हैं। यह कथन आचार्य देव कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा प्रणीत व जिनवाणी से प्रमाणित है क्योंकि अनंतानुबंधी के साथ मिथ्यात्व का भी उदय आ जाता है और यदि मिथ्यात्व के साथ कोई साधु है, तो वह द्रव्यलिंगी कहलाता है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय :- इसका वासना काल छः माह के भीतर है। यदि छः माह के भीतर/पूर्व में ही कषाय समाप्त हो जाए तो वह, अप्रत्याख्यानावण कषाय कहलाती है।

✻ इस कषाय से जीव भावों से अव्रती हो जाता है, द्रव्य से भले ही व्रती कहलाये।

नोटः- यदि कोई अव्रती सम्यग्दृष्टि है, और उसकी कषाय अन्तर्मुहूर्त में समाप्त हो जाती है, तो वहाँ भी अप्रत्याख्यानावरण कषाय ही रहेगी।

प्रत्याख्यानावरण कषाय :- इसका वासना काल 15 दिन तक का रहता है।

✻ यदि किसी महाव्रती की कषाय 15 दिन तक बनी रहे तो वह महाव्रती भी अणुव्रती अर्थात् देशव्रती सदृश हो जाता है। क्योंकि **प्रत्याख्यानावरण कषाय सकल चारित्र का घात करती है।**

संज्वलन कषाय :- जो कषाय अन्तर्मुहूर्त में समाप्त हो जाए, उसे संज्वलन कषाय कहते हैं।

✻ जो संयम के साथ प्रज्वलित रहे, उसे संज्वलन कषाय कहते हैं1

नोट- कोई मिथ्यादृष्टि जीव है उसकी कषाय भी अन्तर्मुहूर्त में समाप्त हो जाती है, तो वह भी अनंतानुबंधी कषाय ही है, क्योंकि अनंतानुबंधी कषाय मिथ्यात्व की सहचारिणी (संगिनी) होती है।

✻ जहाँ मिथ्यात्व का उदय वहाँ अनंतानुबंधी का भी उदय होता है,ऐसा सिद्धांत है।

✻ प्रत्येक कषाय का काल 48 मिनट होता है, यदि आप अन्तर्मुहूर्त तक बच जाये तो विकार अपने आप शांत हो जायेंगे।

आचार्य भगवन् व्रतोद्योतन श्रावकाचार की कारिका नं. 52 में कह रहे हैं:-

जो स्पर्धा करता हुआ बड़े-बड़े तपस्वियों के समान तप करता है, वह यदि मन में कषाय को नहीं छोड़ता तो वह अन्य भव में वेश्या होता है।

* कोई भी कषाय अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा नहीं ठहरती अन्तर्मुहूर्त के बाद कषाय बदल जाती है, वासना काल अधिक समय का होता है।

* क्रोध, मान, माया, लोभ में से एक समय में एक का ही उदय होता है परन्तु बंध चारों का हो सकता है।

* कषायों के उदय नियम से अन्तर्मुहूर्त में बदल जाते हैं। अब एक प्रश्न उठता है कि-

शंका- जब प्रत्येक कषाय का काल अन्तर्मुहूर्त है तो छः महीने कैसे रहती हैं?

समाधान-उदय काल की अपेक्षा से प्रत्येक कषाय अन्तर्मुहूर्त तक रहती है, परन्तु वासना काल की अपेक्षा 6 महीने या उससे ज्यादा रहती हैं।

वासना= संस्कार। कषाय का कुसंस्कार अधिक समय तक रहता है। उदय बदलता रहता है। आइये अब इनके उदय/वासना से क्या-क्या हानियाँ होता हैं, ये जानते हैं-

कार्य/किसका घात

कषाय जीव का गुण नहीं है, विकार है- (ध.5/1,7, 44/223/5)

ज्ञान और दर्शन के विनाश होने पर जीव का विनाश भले ही हो जावे, क्योंकि वे जीव के लक्षण हैं, किंतु कषाय जीव का लक्षण नहीं है, क्योंकि कर्म जनित कषाय को जीव का लक्षण मानने में विरोध उत्पन्न होता है और न कषायों का कर्म से उत्पन्न होना असिद्ध है, क्योंकि कषायों की वृद्धि होने पर जीव के लक्षणभूत ज्ञान की हानि होती है। इसलिए कषाय कर्म से उत्पन्न होना सिद्ध है और कषाय से नवीन कर्म उपार्जित होना भी तथा गुण-गुणान्तर का विरोधी नहीं बनता क्योंकि अन्यत्र वैसा देखा नहीं जाता।

जब कषाय की मंदता और मिथ्यात्व की समाप्ति होती है, तभी ज्ञान का शुभोपयोग होता है। तीव्र कषाय के उदय में मारीच भी भगवान ऋषभदेव के समवशरण को छोड़कर भाग गया और मन्द कषाय में उसी जीव ने शेर की क्रूर हिंसक पशु पर्याय में भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया। अणुव्रती हो गया। कहाँ तो कषायों के तीव्र उदय में महाव्रत छोड़ दिये और वहीं दूसरी और मन्दोदय में अणुव्रती हो गया।

आइये विभिन्न ग्रंथों के आधार से इसका तुलनात्मक अध्ययन करते हैं।

तैराघै दृष्टिचारित्रे द्वितीयै देशसंयमः।
तृतीयैः संयमस्तुर्यैर्यथाख्यातश्च हन्यते।। (पं.सं.-1 गा.205)

* **अनंतानुबंधी कषाय :-** सम्यक्त्व, सम्यक्त्वाचरण चारित्र का घात करती है और अनंत संसार का अनुबंध कराती है।

*** अप्रत्याख्यानावरण कषाय :-** देशचरित्र, पंचम गुणस्थान का घात करती है और किंचित त्याग नहीं होने देती है।

*** प्रत्यख्यानावरण कषाय :-** सकल चारित्र का घात, 6 गुणस्थान का घात और पूर्ण त्याग न होने दे।

*** संज्वलन कषाय :-** यथाख्यात चारित्र का घात, जो केवलज्ञान न होने दे।

*** सम्यक्त्वाचरण चारित्रः-** जो सम्यक्त्व के साथ चारित्र (आचरण) होता है, वो सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहलाता है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड में आचार्य भगवन् कहते हैं:-

कोहादिकसायाणं, चउ चउदस वीस होंति पद संखा।
सत्ती लेस्साआउगबंधाबंधगददेहिं ।।290।। (गो.जी.)

शक्ति लेश्या तथा आयु के बंधाबंधगत भेदों की अपेक्षा से क्रोधादिक कषायों के क्रम से चार, चौदह और बीस स्थान होते हैं।।290।। आइए गोम्मटसार गाथा नं. 291, 292, 293, 294, 295 के आधार से इसे अर्थ संद्दिष्टि से और जानते हैं।

कषायों के उत्कृष्ट-जघन्य स्थान के दृष्टान्त (गो.जी.)

कषाय	**उत्कृष्ट**	**अनुत्कृष्ट**	**अजघन्य**	**जघन्य**
* क्रोध	शिला भेद	पृथ्वी भेद	धूलि रेखा	जल रेखा
* मान	शैल	अस्थि	काष्ठ	बेल
* माया	बाँस की जड़	मेढ़े के सींग	गोमूत्र	खुरपा
* लोभ	किरामिची रंग	चक्रमल	शरीर का मैल	हल्दी का रंग

*** किस गति में प्रधानता किस कषाय की :-**

क्रोध :-नरक गति

मान :- मनुष्य गति

माया :-तिर्यंच गति

लोभः- देव गति

* शंका:- संज्वलन क्रोध चार प्रकार का कैसे? क्योंकि जीवकाण्ड में इसे चार प्रकार का कहा है।

समाधान- संज्वलन कषाय में दोनों प्रकार के स्पर्धक पाये जाते हैं, सर्वघाती व देशघाती। सर्वघाती स्पर्धकों में शक्ति अपेक्षा पाषाण, पृथ्वी और धूलि और देशघाती में जल रेखा के समान शक्ति पायी जाती है। असंयतादि गुणस्थान में संज्वलन कषाय के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय होता है अतः वहाँ संज्वलन कषाय में चारों प्रकार की शक्ति पायी जाती है। (र.म.व्य.कृ.भाग-1)

* कषाय का उदय छह प्रकार का होता है, वह इस प्रकार है– तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम। इन छह प्रकार के कषाय के उदय से उत्पन्न हुई परिपाटी क्रम से लेश्या भी छ: प्रकार की होती हैं– कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। (ध.पु.)

कषायों की तीव्रता और मन्दता का सम्बन्ध लेश्याओं से हैं अनंतानुबंधी आदि अवस्थाओं से नहीं। कुछ आचार्य छठवें गुणस्थान में भी कृष्ण लेश्या मानते हैं। उदा.– द्विपायन मुनि।

कषाय का उदय जीव को व्रत, नियम, संयम नहीं लेने देता जिससे वह तप, त्याग नहीं कर पाता और चारित्र के अभाव में उसकी निराकुल सुख–शांति की शक्तियाँ दबी रह जाती हैं। अत: जलने से पूर्व जलना छोड़ देना चाहिए।

अकषायी जीव

गोम्मटसार जीवकाण्ड के कषाय अधिकार में अब प्रकरण आता है कषाय से निवृत्त अकषायी जीवों का–

आचार्य भगवन् सिद्धान्त देव नेमिचन्द्राचार्य कारिका क्र. 289 में कह रहे हैं–

अप्पपरोभयबाधणबंधासंजमणिमित्तकोहादी।
जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवो।।289।।गो.जी.

जिनके स्वयं को, दूसरों को तथा दोनों को ही बाधा देने और बंधन करने तथा असंयम करने मे निमित्त –भूत क्रोधादिक कषाय नहीं है तथा जो बाह्य और अभ्यंतर मल से रहित हैं, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी अकषायी जानना चाहिए।

* जैसे दूध पानी को खोता हैं तो अन्तिम अवस्था घी बन जाता है, वैसे ही जो कषायों को खोता है, वह जीव भी अन्तिम अवस्था सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है।

आचार्य देव अमितगति स्वामी योगसार 5/6,7 में कह रहे हैं–

निष्कषायो निरारंभ:, स्वान्यद्रव्यविवेचक:।
धर्माधर्मनिराकांक्षो, लोकाचारनिरुत्सुक:।।6।।

विशुद्धदर्शन ज्ञान चारित्र मयमुज्ज्वलं।
यो ध्यायत्यात्मनात्मानं कषायं क्षपयत्यसौ।।7।।

जो योगी कषाय हीन है; आरम्भ रहित है; स्व–परद्रव्य के विवेक को लिए हुए है पुण्य पाप रूप धर्म अधर्म की आकांक्षा नहीं रखता, लोकाचार के विषयों में निरुत्सुक है और विशुद्ध दर्शन ज्ञान चारित्रमय निर्मल आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है, वह सम्पूर्ण कषायों को विनष्ट कर शीघ्र ही परमात्म दशा को प्राप्त करता है।

गुणस्थानों में कषाय

गुणस्थान	कषाय
मिथ्यात्व	25
सासादन	25
मिश्र	25-4 (अनंतानुबंधी)=21
अविरत सम्यग्दृष्टि	21
देशविरत	17
प्रमत्त संयम	13
अप्रमत्त संयत	13
अपूर्वकरण	13
अनिवृत्तिकरण	13.........2
सूक्ष्म साम्पराय	1 (सूक्ष्म लोभ)
क्षीण कषाय	अकषाय
क्षीण मोह	अकषाय
सयोग केवली	अकषाय
अयोग केवली	अकषाय

गतियों में कषाय –

गति	कषाय
नरक	25 से 21 तक
देव	25 से 17 तक
तिर्यंच	25 से 21 तक
देव	25 से अकषाय

कषाय जब भी मंद होगी आत्मज्ञान से ही होंगी। मौन इत्यादि से नहीं।

विषय कषायों की ज्वाला आत्मा को दग्ध करती है। अन्दर ही झुलसाती है, बाहर धुआँ भी नहीं दिखाई देता। सारी समझदारी तब तक ही कायम है जब तक कषाय का उदय नहीं। क्योंकि कषाय विवेक को खा जाती है और आत्मा को पवित्र नहीं होने देती विषयों की उम्र तो होती है परन्तु कषायों की नहीं। शिशु को विषय नहीं सताते पर कषाय डराती है आप भोग भोग पा रहे नहीं है परन्तु भोगने की कषाय को छोड़ भी नहीं पा रहे।

कषायों की तीव्रता से कर्मों का तीव्र आस्रव बंध होता है, अतः हमें अपनी कषायों को पतला बनाना चाहिए क्योंकि मोटा तवा देर से ठण्डा होता है और पतला तवा शीघ्र ही ठण्डा हो जाता है। दूसरों का बुरा करने की सोचते हो तो ध्यान रखना दूसरे का बुरा हो या न हो परन्तु आपका बुरा हो सकता है। जिसका आप बुरा विचार रहे हैं, उस समय वह कोई पुण्य कार्य कर रहा हो तो वह तो पुण्यार्जन करेगा और आप कषायाग्नि में जलकर राख हो रहे होंगे। कषाय सदैव कष्टकारी हैं, अतः हमें कषायों को त्याग आत्मनिधि की और अभिमुख होना चाहिए।

आज सारा विश्व वाणी के बल पर संचालित होता है, यह अकाट्य सत्य है। अभ्यास हमें बलवान बनाता है, दुःख हमें इंसान बनाता है, हार हमें विनम्रता सिखाती है, जीत हमारे व्यक्तित्व को निखारती है लेकिन सिर्फ विश्वास ही है जो हमें आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है, ऐसे ही

पूज्य सिद्धान्त सागर के महोदधि गुरुदेव के शुभाशीष से मैंने ये कषायों के ऊपर छोटा सा अध्ययन किया है गुरु मुख से जो सीखा उस गुरु ज्ञान के सागर को गागर में भरने का अशक्य प्रयास मेरे द्वारा किया गया है। यदि मुझ अल्पज्ञ से कोई त्रुटि हो गई हो तो धी जन मुझे दिशा बोध प्रदान करें: अन्त में:-

क्रोध जलाता अपना घर, यहाँ काटता अपने पर,
जिस्म काँपता है थर-थर-2
क्षमा गुणों को लाती है, जीवन को महकाती है,
क्रोधी की बुद्धि हो-3 घटती ही जाए रे...
जीवन है पानी की बूँद...

(साभार-श्रुत मंथन महाकाव्य)

जीवकाण्ड

गुणस्थानों में पंचभाव

पं. महेश चन्द्र शास्त्री
30 पुष्प कुंज सरला बाग
दयाल बाग, आगरा-5

इस राष्ट्रीय विद्वत संगोष्ठी में आचार्य श्री नेमीचन्द्र जी महाराज विरचित गोम्मटसार जीवकाण्ड इस संगोष्ठी का मुख्य विषय है। इसके अन्तर्गत मेरा विषय है ''गुणस्थानों में पंचभाव''

जीव काण्ड की गाथा नं. 11 में आचार्य भगवंत ने लिखा है।

''मिच्छे खलु ओदइओ, विदिए पुण पारिणामियो भावो ।
मिस्से खओव समिओ, अविरद सम्मम्मि तिण्णेव ।।

अर्थ – मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में दर्शन मोह के उदय से उत्पन्न औदयिक भाव होता है। दूसरे सासादन गुणस्थान में पारिणामिक भाव होता है। यहाँ दर्शन मोह के उदय आदि की अपेक्षा न होने से पारिणामिक भाव कहा है। तीसरे मिश्र गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव होता है।

चतुर्थ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक (वेदक) सम्यक्त्व तथा क्षायिक सम्यक्त्व ये तीन भाव होते हैं क्योंकि इस गुणस्थान में दर्शन मोह का उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय होता है। जीव काण्ड की गाथा नं. 12 में आचार्य भगवंत कहते हैं-

एदे भावा णियमा, दंसण मोहं पडुच्च भणिदाहु।
चारित्तं णत्थि जदो, अविरद अन्तेसु ठाणेसु।।12।।

अर्थ – औदयिक आदि भाव नियम से दर्शन मोह की अपेक्षा से ही होते हैं। क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि पर्यन्त चार गुणस्थानों में चारित्र नहीं होता। इस कारण से वे भाव चारित्र मोह का आश्रय लेकर नहीं कहे हैं। इस कारण से सासादन गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ में से किसी एक कषाय का उदय होते हुए भी उसकी विवक्षा न होने से आगम में पारिणामिक भाव कहा है। अनन्तानुबन्धी में से किसी एक कषाय के उदय की विवक्षा से तो औदयिक भाव भी सम्भव है। जीवकाण्ड की 13वीं गाथा में आचार्य महाराज कहते हैं

देस विरदे पमत्ते, इदरे य खओव समिय भावोदु।
सो खलु चरित्र मोहं, पडुच्च भणियं तहा उवरिं।।13।।

अर्थ – देशविरत गुणस्थान में, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में क्षायोपशमिक संयम रूप

भाव होता है। देशसंयत में प्रत्याख्यानावरण कषायों के क्षयोपशम से चारित्र मोह की अपेक्षा देशसंयम क्षायोपशमिक भाव है तथा प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में संज्वलन कषायों के क्षयोपशम से चारित्र मोह की अपेक्षा सकल संयम भी क्षायोपशमिक भाव है तथा अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में भी चारित्र मोहनीय की अपेक्षा से भाव जानना चाहिए।

तत्तो उलरिं उवसम, भावो उव सामगेसु खवगेसु ।
खइओ भावो णियमा, अजोगि चरिमोत्ति सिद्धेय।।14।।

अर्थ – अप्रमत्त गुणस्थान से ऊपर उपशम श्रेणी सम्बन्धी अपूर्वकरण आदि चार गुणस्थानों में औपशमिक भाव होता है। क्योंकि उनमें होने वाला संयम चारित्र मोह के उपशम से ही होता है। तथा क्षपक श्रेणी सम्बन्धी अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में और सयोग केवली और अयोग केवली गुणस्थान में क्षायिक भाव होता है, क्योंकि नियम से उनमें होने वाला चारित्र, चारित्र मोह के क्षय से उत्पन्न होता है तथा सिद्ध परमेष्ठी में भी क्षायिक भाव होता है क्योंकि सिद्ध पद समस्त कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है।

तत्त्वार्थ सूत्र के दूसरे अध्याय में आचार्य श्री उमास्वामी महाराज ने सूत्र दिये हैं –

1. औपशमिक क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व मौदयिक पारिणामिकौ च।

2. सम्यक्त्व चारित्रे ।

3. ज्ञान–दर्शन–दान–लाभ–भोगोपभोग वीर्याणि च ।

4. ज्ञानाज्ञान दर्शन–लब्धयश् चतुस्, त्रि–त्रि–पंच भेदा: सम्यक्त्व चारित्र संयमासंयमाश्च।

5. गति–कषाय–लिंग–मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध–लेश्याश् चतुश् चतुस् त्र्ये–कै–कै–कैक–षड् भेदा:।

6. जीव भव्याभव्यत्वानि च ।

औदयिक भाव को प्रथम गुणस्थान में कहा है। अब समझने की कोशिश करना कि क्या औदयिक भाव प्रथम गुणस्थान में ही होता है या अन्य गुणस्थानों में भी होता है। दर्शन मोहनीय कर्म की अपेक्षा से तो औदयिक भाव ही होता है परन्तु अन्य कर्मों की अपेक्षा हम चिन्तन करें कि औदयिक भाव किन–किन गुणस्थानों में पाया जाता है। यथा – गति नाम कर्म के चार भेद हैं। नरक गति में प्रथम चार गुणस्थान होते हैं। तिर्यञ्च गति में प्रथम पाँच गुणस्थान होते हैं। मनुष्य गति में चौदह गुणस्थान होते हैं। देव गति में प्रथम आदि चार गुणस्थान होते हैं।

अनन्तानुबंधी क्रोध–मान–माया–लोभ कषाय का उदय प्रथम, द्वितीय गुणस्थान में होता है।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध–मान–माया–लोभ कषाय का उदय प्रथम आदि चार गुणस्थानों में होता है।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध–मान–माया–लोभ कषाय का उदय प्रथम आदि पाँच गुणस्थानों में होता है।

संज्वलन क्रोध-मान-माया कषाय का उदय प्रथम आदि नौ गुणस्थानों में होता हैं।

संज्वलन लोभ कषाय का उदय प्रथम गुणस्थान आदि दस गुणस्थानों में होता हैं।

लिंग भी चारित्र मोहनीय कर्म का भेद है। नोकषाय के अन्तर्गत वेद के तीन भेद कहे हैं। द्रव्य वेद की अपेक्षा स्त्रीवेद और नपुंसक वेद के प्रथम आदि पाँच गुणस्थान होते हैं। भाव वेद की अपेक्षा प्रथम आदि नौ गुणस्थान होते हैं। पुरुष वेद का उदय भाव और द्रव्य की अपेक्षा प्रथम आदि नौ गुणस्थान होते हैं।

मिथ्यादर्शन औदयिक भाव प्रथम गुणस्थान में ही होता है।

अज्ञान औदयिक भाव प्रथमादि बारहवें गुणस्थान तक होता है। असंयत औदयिक भाव प्रथम आदि चार गुणस्थान में होता है। लेश्या औदयिक भाव प्रथम आदि तेरह गुणस्थानों में होता है।

प्रथम आदि चार गुणस्थानों में छहों लेश्याएँ होती हैं। पंचम छठे-सातवें गुणस्थान में पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या रुप औदयिक भाव होता है। आठवें गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक शुक्ल लेश्या औदयिक भाव होता है।

औपशमिक सम्यक्त्व भाव चतुर्थ गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है।

औपशमिक चारित्र भाव छठे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है।

सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापना चारित्र औपशमिक भाव छठे गुणस्थान से लेकर नौवें गुणस्थान तक होता है।

सूक्ष्म साम्पराय चारित्र औपशमिक भाव दसवें गुणस्थान में होता है।

यथाख्यात चारित्र औपशमिक भाव ग्यारहवें गुणस्थान में होता है।

क्षायिक भाव के नौ भेद हैं जिनकी पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में होती है।

क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद हैं। मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान और अवधि ज्ञान क्षायोपशमिक भाव चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होता है।

मन: पर्ययज्ञान क्षायोपशमिक भाव छठे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के जीवों के होता है।

कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधि ज्ञान क्षायोपशमिक भाव प्रथम-द्वितीय गुणस्थान में होता है।

चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन, क्षायोपशमिक भाव प्रथम गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होता हैं।

अवधिदर्शन क्षायोपशमिक भाव चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होता है।

दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य - ये क्षायोपशमिक भाव प्रथम गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होता हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भाव चतुर्थ गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक होता है।

क्षायोपशमिक चारित्र भाव छठे-सातवें गुणस्थान में होता है।

क्षायोपशमिक संयमासंयम चारित्र पाँचवें गुणस्थान में होता है।

जीवत्व पारिणामिक भाव प्रथम गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के जीवों के तथा सिद्ध जीवों के होता है।

भव्यत्व भाव प्रथम गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

अभव्यत्व भाव प्रथम गुणस्थान में ही होता है।

इस प्रकार संक्षेप से मेरे द्वारा इन पंच भावों की चर्चा की गई है। समय का अभाव होने के कारण में अपने आलेख को यही विराम देता हूँ। नमोऽस्तु आचार्य श्री।

*****

जैन दर्शन में उपयोग

(गोम्मटसार जीवकाण्ड के सन्दर्भ में)

शिक्षा गौरव विद्यारत्न डॉ. विमलकुमार जैन
'प्रतिष्ठाचार्य' जयपुर

चेतना की परिणति विशेष का नाम उपयोग है। चेतना सामान्य गुण है और ज्ञान, दर्शन ये दो इसकी पर्याय या अवस्थाएँ हैं। इन्हीं को उपयोग कहते हैं। इनमें दर्शन तो अन्तर्चित्प्रकाश का सामान्य प्रतिभास है जो निर्विकल्प होने के कारण वचनातीत व केवल अनुभव गम्य है। और ज्ञान बाह्य पदार्थों के विशेष प्रतिभास को कहते हैं। सविकल्प होने के कारण व्याख्येय है। इन दोनों ही उपयोगों के अनेकों भेद-प्रभेद हैं। यही उपयोग जब बाहर में शुभ या अशुभ पदार्थों का आश्रय करता है तो शुभ-अशुभ विकल्पों रूप हो जाता है और जब केवल अन्तरात्मा का आश्रय करता है तो निर्विकल्प होने के कारण शुद्ध कहलाता है। शुभ-अशुभ संसार का लक्षण है अत: परमार्थ से हेय है और शुद्धोपयोग मोक्ष व आनन्द का कारण है। इसलिए उपादेय है।

उपयोग का सामान्य लक्षण करते हुए श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्त चक्रवर्ती गोम्मसार जीवकाण्ड में कहते हैं-

वत्थुणिमित्तं भावो, जादो जीवस्स जो दु उवजोगो ।
सो दुविहो णायव्वो, सायारो चेव णायारो ।।[1] अर्थात्

जीव का जो भाव वस्तु के ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है उसे उपयोग कहते हैं। जो अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के निमित्तों से होता है और चैतन्य का अन्वयी है अर्थात् चैतन्य को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता वह परिणाम उपयोग कहलाता है।[2] इसी प्रकार का भाव नियमसार, तात्पर्य वृत्ति टीका, पंचास्तिकाय संग्रह, तत्त्व प्रदीपिका व समयसार टीका में भी व्यक्त किया गया है।

आगे पूज्यपाद स्वामी कहते हैं - ''यत्संनिधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिंप्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आत्मन: परिणाम उपयोग: इति उपदिश्यते।[3] अर्थात् जिसके सन्निधान से आत्मा द्रव्येन्द्रियों की रचना के प्रति व्यापार करता है ऐसे ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। उस पूर्वोक्त निमित्त (लब्धि) के अवलम्बन से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं।

''प्राणिधानम् उपयोग: परिणाम: इत्यनर्थान्तरम्''[4] प्राणिधान, उपयोग और परिणाम ये सब एकार्थवाची हैं।

धवलाकार ने उपयोग की परिभाषा निम्नरूपेण की है - ''स्वपरग्रहणपरिणम्भ: उपयोग:[5] स्व व पर को ग्रहण करने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं।

इस प्रकार साकार (सविकल्प) और निराकार (निर्विकल्प) के भेद को निरूपित करते हुए जीव का लक्षण उपयोग है।इसके उत्तर भेदों को निम्न गाथा में व्यक्त किया है।

णाणं पंचविहं पिय अण्णाणतियं च सागरुवजोगो ।
चदुदंसणमणगारो, सव्वे तल्लक्खणा जीवा ।।[6]

अर्थात् पाँच प्रकार का सम्यग्ज्ञान – मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय तथा केवलज्ञान, तीन प्रकार का अज्ञान–कुमति, कुश्रुत व कुअवधि ये आठ साकार उपयोग के भेद हैं तथा चार प्रकार का दर्शन – चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन अनाकार उपयोग के भेद हैं। यह उपयोग ही समस्त जीवों का लक्षण है, क्योंकि उपयोग के इन 12 प्रकारों में से जीव के कोई न कोई उपयोग अवश्य रहता है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने प्रकारान्तर से इन्हीं भेदों को सर्वार्थसिद्धि में निम्न प्रकार से व्याख्यापित किया है – स द्विविधोऽष्ट चतुर्भेद: ''स उपयोगो द्विविध: – ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेति।'' ज्ञानोपयोगोऽष्टभेद: – मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मन:पर्ययज्ञानं केवलज्ञानं, मत्याज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गाज्ञानं चेति। दर्शनोपयोगश्चतुर्विध: चक्षुदर्शनमक्षुदर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनं चेति। तयो: कथं भेद:। साकारानाकार भेदात्। साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनामिति।[7] अर्थात् वह उपयोग दो प्रकार है – ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार – मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, केवलज्ञान, मत्यज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभङ्गज्ञान। दर्शनोपयोग चार प्रकार का – चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन व केवलदर्शन।

शंका – इन दोनों उपयोगों में किस कारण से भेद हैं?

समाधान – साकार और अनाकार भेद से इन दोनों उपयोगों में भेद हैं। साकार–ज्ञानोपयोग है और अनाकार दर्शनोपयोग रूप है।

साकार उपयोग की विशेषता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि

मदिसुदओहिमणेहि य, सगसगविसये विसेसविण्णाणं ।
अंतोमुहुत्तकालो, उवजोगो सो दु सायारो ।।[8]

अर्थात् मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय इनके द्वारा अपने–अपने विषय का अंतर्मुहूर्तकाल पर्यन्त जो विशेष ज्ञान होता है उसको ही साकार उपयोग कहते हैं। इनमें से मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ये चार उपयोग छद्मस्थ जीवों के होते हैं। उपयोग चेतना का एक परिणमन है। तथा एक वस्तु के ग्रहण रूप चेतना का यह परिणमन छद्मस्थ जीव के अधिक से अधिक अंतर्मुहूर्तकाल तक ही रह सकता है। इस साकार उपयोग की यही विशेषता है कि यह वस्तु के अंश को ग्रहण करता है।

अनाकार उपयोग का स्वरूप

इंदियमणोहिणा वा, अत्थेअविसेसिदूण जं गहणं ।
अंतोमुहुत्त कालो, उवजोगो सो अणायारो ।।[10]

अर्थात् – इन्द्रिय, मन और अवधि के द्वारा अंतर्मुहूर्तकाल तक पदार्थों का जो सामान्य रूप से ग्रहण होता है उसको निराकार (अनाकार) उपयोग कहते हैं।

दर्शन के चार भेदों में से (चक्षु, अचक्षु, अवधि व केवलदर्शन) प्रथम तीन चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन छद्मस्थ जीवों के होते हैं। नेत्र के द्वारा पदार्थ का जो सामान्य अवलोकन होता है उसको चक्षुदर्शन कहते हैं और नेत्र को छोड़कर शेष चार इन्द्रिय तथा मन के द्वारा जो सामान्य अवलोकन होता है वह अचक्षुदर्शन कहा जाता है। अवधिज्ञान के पूर्व इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्म मात्र से जो रूपी पदार्थ विषयक सामान्यावलोकन होता है वह अवधिदर्शन है। यह दर्शन रूप निराकार उपयोग भी साकार उपयोग की भाँति छद्मस्थ जीवों के अधिक से अधिक अंतर्मुहूर्त तक होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत नियमसार गाथा दस से चौदह तक उपयोग के लक्षण में स्वभाव-विभाव रूप से प्रतिपादित कर और अधिक सरल कर दिया गया है।

षट्खण्डागम ग्रंथ की उत्थानिका में उपयोग के निम्न भेदों को निरूपित किया गया है – जा तत्थ वायणा वा पृच्छणा वा पडिच्छणावा परिपट्ठणा वा अणुपेक्खणा वा थय थुदि धम्मकहा वा जे चामण्णे एवमादिया।[12] अर्थात् इन आगम निक्षेपों में उपयोग के भेदों की प्ररूपणा के लिये उत्तर सूत्र प्राप्त होता है। उन नौ आगमों में वाचना, पृच्छना, प्रतिपृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति, धर्मकथा आदि को भी उपयोग रूप में स्वीकार किया गया है।

धवलाकार उपयोग और ज्ञानदर्शन मार्गणा में अन्तर करते हैं, वे कहते हैं – ''स्वपरग्रहणपरिणाम उपयोग:। न स ज्ञानदर्शनमार्गणयोरत्त – भवति: ज्ञानदृगावरणकर्मक्षयोपशमस्य तदुभयकारणस्योपयोगत्वविरोधात्।''[13] अर्थात् स्व व पर को ग्रहण करने वाले परिणाम विशेष को उपयोग कहते हैं। वह उपयोग ज्ञान मार्गणा और दर्शन मार्गणा में अंतर्भूत नहीं होता है, क्योंकि ज्ञान और दर्शन इन दोनों के कारण रूप ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षयोपशम को उपयोग मानने में विरोध आता है।

''साकारोपयोगो ज्ञानमार्गणायामनाकारोपयोगो दर्शनमार्गणायां (अन्तर्भवति) तयोर्ज्ञानदर्शनस्वरूपत्वात्।''[14] अर्थात् साकार उपयोग ज्ञान मार्गणा में और अनाकार उपयोग दर्शनमार्गणा में अंतर्भूत होते हैं, क्योंकि ये दोनों ज्ञान व दर्शन रूप ही हैं। इसी प्रकार उपयोग लब्धि आदि में अन्तर प्रदर्शित कर विभिन्न आचार्यों ने शुद्धोपयोग की चर्चा के माध्यम से शुद्धोपयोग को साक्षात् मोक्ष का कारण स्वीकार किया है। यही जीव मात्र को अभीष्ट है। सभी प्राणी अपने शुद्धोपयोग के आश्रय से निर्विकल्प अवस्था प्राप्त कर मुक्ति के राही बनें। इसी पवित्र भावना के साथ –

1137 संघी जी का रास्ता

चौड़ा रास्ता, जयपुर-3

च. 9414460694

1. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा-672, श्री नेमिचन्द्राचार्य कृत

2. उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानु विधायी परिणाम उपयोग:। सर्वार्थ सिद्धि-पूज्यपादस्वामी पृ. 117 सू. 8 अ.2

3. राज.वा. अध्याय-2, सूत्र-18, पृ. 127/पं.का.ता. 43/86

4. राजवार्तिक - 1/1/133

5. ध. 2/1/1/4/3/6

6. गोम्मटसार जी.का.गा. 673

7. तत्त्वार्थसूत्र - अ. 2, सूत्र- आ. उमास्वामी

8. नि.सा.,-10-12/पं.का.मू. 40/रा.बा.2/ए/117/न.च.बृ. 14 द्र.सं./मू. 4-5/गो.जी. 673 मू.

9. गो.सा.जी.मू. 674

10. गो.सा. जीव का. 675 मू. श्रीनेमिचन्द्रचार्य जी

11.

जीवोउवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होई ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विहावणाणं ति ।।10।।

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं ति ।
सण्णादिरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ।।11।।

सण्णाणं चउभेयं मदिसुद ओही तहेव मणपज्जं ।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेद दो चेव ।।12।।

तहसदंसण उवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो ।
केवलमिंदिरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं ।।13।।

चक्खु अचक्खु ओही तिण्णि वि भणिदं विहावदिट्ठि त्ति ।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ।।14।।

नियमसार मूल गाथा

12. षट् खं. ए/4, 1 सू. 55/262

13. धवला-2/1, 1/413/5

14. धव. 2/1, 1/415/1

काय मार्गणा

–पं. सुदर्शन जैन पिंडरई
मण्डुला भज
मो.9407318651, 7000562719

मार्गणा का स्वरूप –

जाहि व जासु व जीवा, मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोद्दस जाणे सुदणाणे मग्गणा होंति।।14।।

अर्थात् जीवादि पदार्थों का, जिनभावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में विचार–अन्वेषण किया जाता है उनको मार्गणा कहते हैं। लेकिन ये परिणाम और पर्याय भगवान के प्रवचनानुरूप होना चाहिये। ये मार्गणा 14 होती हैं। (1) गति (2) इन्द्रिय (3) काय (4) योग (5) वेद (6) कषाय (7) ज्ञान (8) संयम (9) दर्शन (10) लेश्या (11) भव्यत्व (12) सम्यक्त्व (13) संज्ञा (14) आहार–

काय मार्गणा का स्वरूप –

जाई अविणाभावी तस थावर उदय जो हवे काओ ।
सो जिणमदम्हि भणिओ पुढवी कायादि छब्भेओ।।

अर्थात् जातिनाम कर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को काय कहते हैं। अथवा आत्मा की वह पर्याय जो जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होती है उसे काय कहते हैं। इनके पृथ्वी आदि 5 स्थावर और 1 त्रस कुल छ: भेद हैं।

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि शरीर नामकर्म के उदय से होने वाला कार्य यहाँ पर काय शब्द से अभीष्ट नहीं है अपितु शरीर में स्थित जीव की पर्याय ही संबंधित काय शब्द से अभिप्रेत है। यदि काय की परिभाषा को शरीर रूप से मुख्य माना जायेगा तो अनेक विषय विसंगत हो जायेंगे। फिर वायुकायिक आदि स्थावर जीवों को स्थावर नहीं कहा जा सकेगा। क्योंकि वे स्थानशील न होकर सदैव गतिमान होते हैं और उद्वेग को प्राप्त हैं। अत: काय की परिभाषा जो गाथा के माध्यम से बताई गई है वह ही उपयुक्त है।

साधारणत: जातिकर्म के 5 भेद कहे गये हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय। जिन जीवों के एकेन्द्रिय नामकर्म का उदय होता है उनके स्थावर नामकर्म का ही उदय होता है अत: उन्हें स्थावर जीव कहा जाता है ये पृथ्वी आदि पाँच हैं।

किसी जीव का, जाति नाम कर्म का उदय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के रूप में होता है उन्हें त्रसजीव कहते हैं।

पाँच स्थावरों में से वनस्पति काय को छोड़कर पृथ्वी आदि की उत्पत्ति का कारण बताते हुये आचार्य कहते हैं कि–

पुढवी आऊतेऊवाऊ कम्मोदयेण तत्थेव।
णियवण्ण चउक्कजुदो ताणं देहो हवे णियमा।।

अर्थात् पृथ्वी, अप (जल) अग्नि (तेज) और वायु। इनका शरीर नियम से अपने नामकर्म के उदय से, अपने अपने योग्य रूप रस गंध स्पर्श से युक्त पृथ्वी आदिक में ही बनता है।

ये पाँच स्थावर जीव बादर और सूक्ष्म की अपेक्षा से 2-2 भेद वाले होते हैं।

बादर – जो शरीर घातरूप है, जो स्वयं दूसरे से रुकता है और दूसरे को रोकता है उसे बादर कहते हैं।

सूक्ष्म – जो न किसी से रुकता है और न किसी को रोकता है वह सूक्ष्म जीव है।

ये बादर और सूक्ष्म स्थावर जीव पर्याप्तक और अपर्याप्तक भी होते हैं।

वनस्पति काय की परिभाषा

उदये दु वणप्फदिकम्मस्स य जीवा वणप्फदि होंति।
पतेयं सामण्णं पदिट्ठिदिदरेत्ति पत्तेयं।।

अर्थात् वनस्पति नामकर्म के उदय से वनस्पति होते हैं, इनके दो भेद हैं– प्रत्येक और साधारण। प्रत्येक के भी दो भेद हैं – (1) सप्रतिष्ठित और (2) अप्रतिष्ठित। यहाँ एक विशेष बात यह है कि यह जो वनस्पति स्थावर है यह स्थावर नामकर्म के अनुसार विशेष भेद से निसपन्न है। सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि साधारण और प्रत्येक वनस्पति ही जिसका शरीर है उसे वनस्पति काय कहते हैं।

साधारण वनस्पति – जिस शरीर के स्वामी अनेक जीव होते हैं उन्हें साधारण वनस्पति कहते हैं। जैसे – आलू, मूली, शकरकंद, ग्वारपाठा आदि। साधारण वनस्पति 2 प्रकार की हैं – बादर और सूक्ष्म। ये बादर और सूक्ष्म भी पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद वाले होते हैं। अपर्याप्तक पर्याप्ति पूर्ण करने के पूर्व ही मरण को प्राप्त कर लेता है अत: वह लब्ध्यपर्याप्तक कहलाता है। साधारण वनस्पति को ही निगोद की संज्ञा प्राप्त है। जैसे – आलू, अदरक, शकरकंद, गाजर, मूली आदि। कहा जाता है कि आलू में, अभी तक जितने सिद्ध हो चुके हैं उसमें अनंत का गुणा करने पर जितना गुणनफल निकल आता है उतने जीव एक आलू में होते हैं। जरा विचार करो कहीं हम ऐसे साधारण वनस्पति रूप आलू आदि का अपने स्वाद के लिए प्रयोग तो नहीं करते।

प्रत्येक वनस्पति – जिस वनस्पति के एक शरीर का स्वामी एक ही जीव होता है उसे प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। (1) सप्रतिष्ठ प्रत्येक और (2) अप्रतिष्ठ प्रत्येक। सप्रतिष्ठ प्रत्येक वनस्पति में एक शरीर के आश्रित अनेक जीव रहते हैं। जैसे – कोपल आदि। जिस वनस्पति को तोड़ने पर समान भाग बन जाते हैं वह सप्रतिष्ठ वनस्पति है जैसे – विभिन्न प्रकार की कद्दू भाजी आदि। तुषार फल भी इसी श्रेणी में आते हैं जिनमें

धारियाँ नहीं बनी, जिसके ऊपर रोम होते हैं व जिसमें बीज नहीं होते वे सब तुषार फल हैं। ये सर्व सप्रतिष्ठ वनस्पति हैं। इनके भक्षण को पूर्व विचार कर अहिंसक बनने का प्रयास तो किया ही जा सकता है। अप्रतिष्ठ प्रत्येक वनस्पति में उसके आश्रित कोई जीव नहीं रहता। इसके सचित्त और अचित्त ये दो भेद हैं। जैसे – अमरूद व सेब फल आदि। ये फल वृक्ष से टूटने के बाद अचित्त हो जाते हैं। जब तक वृक्ष में लगे रहते हैं तब तक सचित्त होते हैं अचित्त होने पर ही भक्ष्य होते हैं। तो फिर प्रश्न उठता है कि इन्हें व्रती कच्चा क्यों नहीं खा सकता। तो कहते हैं कि वह योनिभूत है यानी उसमें पुनः उत्पन्न होने की क्षमता है। इसलिए इनकी साग बनाकर या प्रासुक कर खाया जाता है। प्रासुक भी दो प्रकार से किया जाता है,छिन्न–भिन्न करके अथवा अग्नि में तपाकर।

अतः मैं काय मार्गणा के माध्यम से श्रावकों से यही कहना चाहता हूँ कि षट्काय की रक्षार्थ, जीव की मौजूदगी कहाँ–कहाँ किस रूप में होती है उसे जानकर अपने जीवन को व्यवहृत करते हुए पूर्ण अहिंसक बनने का सुप्रयास करें।

नोट – वनस्पति जो जमीन के अंदर पैदा होती है, जिसका दल मोटा होता है, ये साधारण वनस्पति हैं। गिलोय गुड़ची, गुड़वेल आदि अनंतकाय वनस्पति है–आलू के समान।

*****

गुणस्थानः आत्म–विकास दिग्दर्शक–गोम्मटसार जीवकाण्ड के परिप्रेक्ष्य में

प्रो. नलिन के. शास्त्री
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

प्रास्ताविक

जिस प्रकार शरीर का तापमान थर्मामीटर के द्वारा नापा जाता है, उसी प्रकार संसारी आत्मा का आध्यात्मिक विकास का पतन गुणस्थान रूपी थर्मामीटर के द्वारा नापा जाता है। जैन दर्शन में गुणस्थान उन चौदह चरणों के लिए प्रयोग किया गया है, जिनसे जीव आध्यात्मिक विकास के दौरान धीरे–धीरे गुजरता है, इससे पहले कि वह मोक्ष प्राप्त करे। जैन दर्शन के अनुसार यह पुद्‍गल कर्मों पर आश्रित होने से लेकर उनसे पूर्णता पृथक होने तक आत्मा की भाव दशा है। यहाँ शब्द के आधार पर इसका मतलब एक साधारण नैतिक गुणवत्ता नहीं है, अपितु यह आत्मा की प्रकृति ज्ञान, विश्वास और आचरण के लिए उपयोग किया गया है। मोह और योग के निमित्त से आत्मा के परिणामों में प्रति क्षण होने वाले उतार चढ़ाव गुणस्थान से अभिहित होते हैं। दर्शन, मोहनीय आदि कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय के निमित्त से होने वाले जीव के आंतरिक भावों को गुणस्थान कहते हैं।

जीवों के परिणाम यद्यपि अनन्त हैं परन्तु उन सभी को चौदह श्रेणियों में विभाजित किया गया है। चौथें कर्म मोहनीय को कर्मों का राजा कहा गया है। दर्शन और चारित्र मोहनीय के भेद से दो प्रकार के हैं। प्रथम दृष्टि या श्रद्धा को और दूसरा आचरण को विरूप देता है। जब जीवादि सात तत्वों और पुण्य पापादि में इस जीव का विश्वास नहीं होता तब यह प्रथम (मिथ्यात्व) गुणस्थान में रहता है। दर्शन मोहनीय और अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ के उपशम या क्षय से सम्यक्त्व (चौथा गुणस्थान) होता है। श्रद्धा के डिगने पर तथा अनंतानुबंधी के उदय होने पर दूसरा (सासादन) और मिली श्रद्धा रूप तीसरा (मिश्र) गुणस्थान होता है। सम्यक्त्व के साथ आंशिक त्याग होने पर पाँचवाँ (देशविरत) और पूर्ण त्याग होने पर भी प्रमाद रहने से छठा (प्रमत्त विरत) तथा प्रमाद हट जाने पर सातवाँ (अप्रमत्त विरत) होता है। संसारचक्र में अब तक न हुए शुभ भावों के होने से आठवाँ (अपूर्वकरण) तथा नौवाँ (अनिवृत्तिकरण) होता हैं। बहुत थोड़ी लोभ की छाया शेष रहने से दसवाँ (सूक्ष्मसांपराय) और मोह के उपशम अथवा क्षय से 11वाँ (उपशांत मोह) या 12वाँ (क्षीण मोह) होता है। कैवल्य के साथ योग रहने से 13वाँ (सयोग केवली) और योग भी समाप्त हो जाने से 14वाँ (अयोग केवली) होता है और कुछ क्षणों में ही मोक्ष चला जाता है।

1. मिथ्यादृष्टि

पहले चरण का प्रतीक सकल अज्ञान है। अगर इस स्तर पर, एक व्यक्ति अपने अस्तित्व का ध्यान करता

है, उसमें निम्नलिखित ऊर्जाओं का अस्थायी निलंबन होता है, क्योंकि मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति दर्शन मोहनीय कर्म के उदय के कारण सम्यक् विश्वास को अवरूद्ध करती है। दर्शन मोह के मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जहाँ अतत्त्व श्रद्धान रूप परिणाम रहता है उसे मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। अनादिकाल से यह जीव इसी गुणस्थान में रहता चला आया है।

एकान्त, विपरीत, संशय, अज्ञान और वैनयिक मिथ्यात्व रूप परिणामों के कारण यह वर्तमान में दुःखी रहता है और नवीन कर्म बाँधकर आगामी पर्यायों में भी दुःखी रहने के साधन जुटाता रहता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव को सच्चा उपदेश भी अरुचिकर मालूम होता है। जिस प्रकार मलेरिया ज्वर से पीड़ित मनुष्य को मिष्ट दुग्ध भी कडुवा लगता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व से ग्रस्त जीव को सद्गुरुओं का उपदेश भी अरुचिकर लगता है।

इस मिथ्यात्व गुणस्थान के स्वस्थान और सातिशय की अपेक्षा 2 भेद हैं। जो अपनी मिथ्यात्व की ही अवस्था में रच पच रहा है, वह स्वस्थान मिथ्यादृष्टि कहलाता है और जो सम्यग्दर्शन धारण करने के सम्मुख हो अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप परिणाम कर रहा है, वह सातिशय मिथ्यादृष्टि कहलाता है। यह सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव अपनी विशुद्धता के द्वारा नवीन बध्यमान कर्मों की स्थिति को अन्त: कोड़ाकोड़ी सागर से अधिक नहीं बांधता और सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति को उसे संख्यात हजार सागर कम करता है। इसी विशुद्धता के द्वारा मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी चतुष्क इन पांच प्रकृतियों का उपशम कर सम्यग्दृष्टि होता हुआ चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त होता है। जिस सादि मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व प्रकृति तथा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की सत्ता है वह सात प्रकृतियों का उपशम कर उपशम सम्यग्दृष्टि बनता है। कदाचित् मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी चतुष्क इन छह सर्वघाति प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय और सदवस्थानरूप उपशम तथा सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघाति प्रकृति का उदय रहते हुए क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। यह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, सादि मिथ्यादृष्टि को ही प्राप्त होता है अनादि मिथ्यादृष्टि को नहीं। कोई निकट भव्य जीव, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन के बाद सत्ता में स्थित उपर्युक्त सात प्रकृतियों का क्षय कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि बनता है।

2. सासादन सम्यग्दृष्टि

चतुर्थ गुणस्थान में उपशम-सम्यक्त्व का काल जब कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवली प्रमाण बाकी रह जाता है, तब अनन्तानुबंधी क्रोध मान, माया, लोभ में से किसी एक प्रकृति का उदय आने पर यह जीव चतुर्थ गुणस्थान में भ्रष्ट हो जाता है और मिथ्यात्व के सन्मुख गमन करता है तथा जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ है तब तक की अवस्था को सासादन गुणस्थान कहते हैं। यह जीव नियम से मिथ्यात्व को ही प्राप्त होता है। अनन्तानुबंधी के उदय से इसका सम्यग्दर्शन आसादन-विराधना को प्राप्त हो जाता है इसे सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

3. मिश्र

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के यदि मिश्र प्रकृति का उदय आता है तो वह वहाँ से गिरकर मिश्र गुणस्थान में आता है। इस गुणस्थान में ऐसे भाव होते हैं जिन्हें न तो सम्यक्त्व रूप कह सकते हैं और न मिथ्यात्व रूप। इस गुणस्थान में किसी की मृत्यु नहीं होती, न मारणान्तिक समुद्घात होता है और न नवीन आयु का बन्ध ही होता है। इस गुणस्थान में रहने वाला जीव पतन करे तो प्रथम गुणस्थान में आता है और ऊपर चढ़े तो चतुर्थ गुणस्थान में जाता है।

4. अविरत सम्यग्दृष्टि

जो अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्र मोह की प्रकृतियों का उदय होने से चारित्र धारण नहीं कर सकता मात्र जिनेन्द्र प्रणीत तत्त्वों का श्रद्धान करता है उसे अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। यह यद्यपि पांच इन्द्रियों के विषयों तथा त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है तथापि पंचेन्द्रियों के विषयों को अन्याय पूर्वक सेवन नहीं करता। इसके प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव प्रकट होते हैं। यदि किसी सिंहादिक दुष्ट जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तो वह समाधिमरण कर देवगति को प्राप्त करता है। प्रारम्भ के चार गुणस्थान चारों गतियों में हो सकते हैं, परन्तु सासादन गुणस्थान अपर्याप्त नारकियों के नहीं होता और मिश्र गुणस्थान सभी गतियों की पर्याप्तक अवस्था में ही होता है अपर्याप्तक अवस्था में नहीं होता। चतुर्थ गुणस्थान वाला मनुष्य पतन की अपेक्षा तीसरे, दूसरे और पहले गुणस्थान में आ सकता है और ऊपर चढ़ने की अपेक्षा पांचवें और सातवें गुणस्थान में जा सकता है। छठवें गुणस्थान में सातवें से गिरकर ही आ सकता है। इस गुणस्थान में औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक तीनों सम्यग्दर्शन हो सकते हैं।

5. देशविरत

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ का क्षयोपशम होने पर जिस सम्यग्दृष्टि जीव के हिंसादि पांच पापों का एकदेश त्याग हो जाता है उसे देशविरत कहते हैं। प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय की हीनाधिकता के कारण देशविरत भाव के दर्शनादि प्रतिमारूप 11 भेद होते हैं। इसकी त्रस हिंसादि स्थूल पापों से विरति हो जाती है परन्तु स्थावर हिंसा आदि सूक्ष्म पापों से विरति नहीं हो पाती, इसलिये यह एक ही काल में विरता-विरत कहलाता है।

यह गुणस्थान मनुष्य और तिर्यंच गति में ही होता है, देव और नरक गति में नहीं। मनुष्य और तिर्यंच गति में भी कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंचों के ही होता है। भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यंचों के नहीं। यदि कोई मनुष्य उपरितन गुणस्थानों में चढ़ता है तो सातवें गुणस्थान में जाता है, वहाँ से गिरकर छठवें गुणस्थान में आता है और पतन की अपेक्षा चतुर्थादि गुणस्थानों में आता है।

करणानुयोग की पद्धति से यह देशविरत गुणस्थान उसी मनुष्य या तिर्यंच के होता है जिसके या तो नवीन आयु कर्म का बन्ध नहीं हुआ है और यदि हुआ है तो देवायु का ही बन्ध हुआ है। जिस जीव के देवायु के

सिवाय अन्य आयु का बन्ध हुआ है उस जीव के उस पर्याय में देशव्रत धारण करने का भाव नहीं होता है। यही बात महाव्रत धारण करने की भी है। यहाँ तीनों सम्यग्दर्शन हो सकते हैं।

6. प्रमत्त विरत

जहाँ प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होने से हिंसादि पाँच पापों का सर्वदेश त्याग हो जाता है परन्तु संज्वलन कषाय का अपेक्षाकृत तीव्र उदय रहने से प्रमाद विद्यमान रहता है उसे प्रमत्तविरत कहते हैं। इस गुणस्थान को धारण करने वाला मनुष्य निर्ग्रंथ मुद्रा का धारक होकर अट्ठाईस मूलगुणों का निर्दोष पालन करता है। यह गुणस्थान मात्र मनुष्य गति में ही होता है। मुनिव्रत धारण करने की इच्छा रखने वाला अविरत सम्यग्दृष्टि या देशविरत श्रावक पहले सप्तम गुणस्थान को प्राप्त होता है पश्चात् अन्तर्मुहूर्त के बाद पतन कर छठवें गुणस्थान में आता है, सीधा छठवें गुणस्थान को प्राप्त नहीं होता है।

मुनि दीक्षा धारण करने का जिसका अभिप्राय होता है उसके प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय उत्तरोत्तर मन्द होने लगता है। उसी मन्द उदय के काल में वह आचार्य महाराज से मुनि दीक्षा देने की प्रार्थना करता है, उसकी योग्यता की जांच कर आचार्य महाराज उसे आज्ञा देते हैं। उसी मन्द उदय के काल में वह वस्त्रादि बाह्य परिग्रह का परित्याग कर केशलोंच करता है। तदनन्तर विशुद्धता के बढ़ने से सप्तम गुणस्थान को प्राप्त होता है पश्चात् संज्वलन के उदय में अपेक्षाकृत अधिकता आ जाने से छठवें गुणस्थान में आ जाता है। वस्त्र सहित अवस्था में सप्तम गुणस्थान नहीं होता। सातवें से छठवें गुणस्थान में आना और छठवें से सातवें गुणस्थान में जाना, यह क्रिया हजारों बार होती रहती है। परिणामों की ऐसी ही विचित्रता होती है। इस गुणस्थान मे तीनों सम्यग्दर्शन हो सकते हैं।

7. अप्रमत्त विरत

संज्वलन क्रोध मान माया लोभ का उदय मन्द पड़ जाने पर जब प्रमाद का अभाव हो जाता है तब अप्रमत्त विरत नामक सातवां गुणस्थान प्रकट होता है। इसके स्वस्थान और सातिशय की अपेक्षा दो भेद हैं। जो छठवें और सातवें की भूमिका में ही झूलता रहता है वह स्वस्थान अप्रमत्त विरत है और जो आगे की श्रेणी चढ़ने का उपक्रम कर रहा है वह सातिशय अप्रमत्त विरत कहलाता है। उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी के भेद से श्रेणी के दो भेद हैं। चारित्र मोह का उपशम, जिसके फलस्वरूप होता है उसे उपशम श्रेणी कहते हैं और चारित्र मोह का क्षय, जिसके फलस्वरूप होता है उसे क्षपक श्रेणी कहते हैं। क्षपक श्रेणी की प्राप्ति क्षायिक सम्यग्दृष्टि को ही होती है परन्तु उपशम श्रेणी की प्राप्ति द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि दोनों को हो सकती है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि का श्रेणी में प्रवेश नहीं होता।

सप्तम गुणस्थान के सातिशय भेद में अध:करण नामक परिणाम होते हैं इसलिए इस गुणस्थान का दूसरा नाम अध:करण भी है। यहाँ विशुद्धि का वेग प्रति समय नवीन-नवीन नहीं होता है। अगले समय के परिणाम कुछ नये होते हैं और कुछ पिछले समय के परिणामों से मिलते-जुलते रहते हैं अतएव नाना जीवों की अपेक्षा

इस गुणस्थान में सम समयवर्ती और विषम समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता और असमानता दोनों ही रहती हैं। जैसे प्रथम समयवर्ती जीवों के परिणाम एक से लेकर दश तक होते हैं और दूसरे समयवर्ती जीवों के परिणाम पाँच से लेकर पन्द्रह तक होते हैं। यहाँ पाँच से लेकर दश तक के परिणामों में समानता और शेष परिणामों में असमानता होती है।

8. अपूर्वकरण

जहाँ प्रत्येक समय अपूर्व-अपूर्व नये-नये करण-परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। इस गुणस्थान में पिछले गुणस्थान की अपेक्षा विशुद्धता का वेग बढ़ता जाता है। यहाँ अपूर्वकरण के प्रथम समय के असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं द्वितीय समय के असंख्यात लोक गुणे तृतीय समय के उससे भी असंख्यात लोक गुणे इस प्रकार प्रत्येक समय के असंख्यात लोक गुणे अपूर्वकरण के समयों के परिणाम होते हैं। जैसे प्रथम समय में यदि एक से लेकर दश तक के परिणाम थे तो दूसरे समय में ग्यारह से लेकर तीस तक के परिणाम होंगे। यहाँ नाना जीवों की अपेक्षा सम समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता और असमानता दोनों होती है परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में नियम से असमानता रहती है।

9. अनिवृत्तिकरण

जहाँ एक काल में एक ही परिणाम होने से सम समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता ही रहती है और भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में असमानता ही रहती है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इन अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों के प्रभाव से यह जीव चारित्र मोह की प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग को उत्तरोत्तर क्षीण करता जाता है तथा एक संज्वलन लोभ को छोड़कर मोहनीय की सम्पूर्ण प्रकृतियों का क्षय कर देता है अथवा उपशम कर देता है। दशम गुणस्थान की अपेक्षा इस गुणस्थान में साम्पराय कषाय बादर-स्थूल रहती है इसका दूसरा नाम बादर साम्पराय भी है।

10. सूक्ष्म साम्पराय

जहाँ संज्वलन कषाय सम्बन्धी लोभ का ही सूक्ष्म उदय शेष रहने से अत्यन्त सूक्ष्म कषाय होती है उसे सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं। यह जीव यदि उपशम श्रेणी वाला है तो चारित्र मोह का उपशम कर चुकता है और यदि क्षपक श्रेणी वाला है तो बिल्कुल क्षय कर चुकता है। इन श्रेणियों के गुणस्थानों में शुक्ल ध्यान का प्रथम भेद पृथक्त्व वितर्कविचार होता है, ऐसा आचार्य उमास्वामी महाराज का कथन है। यद्यपि आचार्य वीरसेन स्वामी के मतानुसार दशवें गुणस्थान तक धर्म ध्यान होता है।

11. उपशान्त मोह

उपशम श्रेणी वाला जीव चारित्र मोह का उपशम कर उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है जिस प्रकार शरद ऋतु के तालाब पर पानी ऊपर स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार इस गुणस्थानवर्ती

जीव के परिणाम ऊपर स्वच्छ हो जाते हैं परन्तु सत्ता में मोह कर्म के विद्यमान रहने में अन्तर्मुहूर्त बाद नियम से मलिन हो जाते हैं। इस गुणस्थान में जीव के औपशमिक यथाख्यातचारित्र प्रकट होता है। उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की ही होती है उसके बाद जीव नियम से गिरकर नीचे आता है।

12. क्षीण मोह

जिसमें मोह कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है उसे क्षीण मोह कहते हैं। क्षपक श्रेणी वाला जीव दशवें गुणस्थान के बाद सीधा क्षीणमोह गुणस्थान को प्राप्त होता है। यहाँ जीव क्षायिक यथाख्यातचारित्र को प्राप्त होता है और दूसरे शुक्ल ध्यान-एकत्व वितर्क के प्रभाव से शेष घातिया कर्मों तथा नाम कर्म की तेरह प्रकृतियों का क्षय करता है। यह जीव अन्तर्मुहूर्त के भीतर नियम से केवलज्ञानी बनकर अरहन्त पद को प्राप्त होता है।

13. सयोग केवली जिन

जो योग से सहित केवली जिनेन्द्र हैं उन्हें सयोग केवली जिन कहते हैं। चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाने से यह गुणस्थान प्राप्त होता है। यहाँ से अरहन्त संज्ञा प्राप्त हो जाती है। तीर्थंकरों के समवसरण की रचना होती है तथा दिव्यध्वनि खिरती है सामान्य केवलियों की गन्ध कुटी की रचना होती है, और दिव्यध्वनि भी खिरती है। उपसर्ग केवलियों और मूक केवलियों की दिव्यध्वनि नहीं खिरती। केवली भगवान् की दिव्यध्वनि तथा विहाररूप क्रिया बिना इच्छा के होती है। इस गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नाम का तीसरा शुक्लध्यान होता है जिससे बहुत भारी निर्जरा होती है परन्तु क्षय किसी प्रकृति का नहीं होता है। श्री वीरसेनाचार्य के मतानुसार इस तीसरे पाये का फल योग निरोध है। इस गुणस्थान में जीव अन्तर्मुहूर्त से लेकर देशोन कोटी वर्ष पूर्व तक रहता है।

14. अयोग केवली जिन

जिसमें योगों का सर्वथा अभाव हो जाता है उसे अयोग केवली जिन कहते हैं। इस गुणस्थान में शुक्ल ध्यान का चौथा भेद व्युपरतक्रियानिवर्तीनि प्रकट होता है उसके प्रभाव से उपान्त्य समय में 72 और अन्त्य समय में 13 प्रकृतियों का क्षय करके यह जीव निर्वाणधाम को प्राप्त होता है। इस गुणस्थान का काल अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पांच लघु अक्षरों के उच्चारण काल के बराबर है। मध्यलोक से सिद्धालय तक पहुँचने में एक समय लगता है। लोक के अन्त में तनुवातवलय का उपरितन पांच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण क्षेत्र सिद्धालय कहलाता है, उसी में सब सिद्धों का निवास रहता है। सिद्धों की जघन्यतम अवगाहना साढ़े तीन हाथ की और उत्कृष्टतम अवगाहना पांच सौ पच्चीस धनुष की रहती है। इससे कम या अधिक अवगाहना वाले मनुष्यों को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। ये गुणस्थान संसारी जीवों की अशुद्ध परिणति रूप ही हैं, अत: सिद्ध भगवान इनसे परे होते हैं। वे संसार में कभी वापस नहीं आते हैं और अनंत काल तक सिद्धशिला पर शाश्वत सुख का अनुभव करते हैं।

आध्यात्मिक विकास के चौदह चरणों का सारभूत

मुख्य	गुणस्थान	अर्थ
दृष्टि या श्रद्धा	1. मिथ्यात्व	गलत श्रद्धान (सकल आना)
	2. सासादन सम्यक्-दृष्टि	सम्यक्त्व का विनाश
	3. मिश्र दृष्टि	मिश्रित-सही और गलत धारणा
	4. अवरित सम्यक्-दृष्टि	संयत रहित सम्यक्त्व
चरित्रिक विकास (सम्यक् चरित्र का प्रारंभ)	5. देश-विरत	सम्यक् दर्शन के साथ पाँच पापों का त्याग
सही आचरण : महाव्रत	6. प्रमत्त संयत	प्रमाद सहित महाव्रतों का पालन
	7. अप्रमत्त संयत	प्रमाद रहित आचरण
	8. अपूर्वकरण	नई सोच गतिविधि
	9. अनिवृत्तिकरण	स्थूल मोहनीय कर्म का क्षय, उन्नत सोच-गतिविधि
	10. सूक्ष्म-साम्पराय	लोभ कषाय का अत्यंत सूक्ष्म उदय
	11. उपशान्त मोह	मोहनीय कर्म का उपशम
	12. क्षीण मोह	समस्त मोह का क्षय
	13. सयोग केवली	सर्वज्ञता कंपन के साथ
	14. अयोग केवली	

गुणस्थान विवेचना

–इंजी. दिनेश जैन, भिलाई
अरिहन्त फर्नीचर्स
आजाद मार्केट, रिसाली, भिलाई–490006 (छग.)
मो. 9303806982

संसार में जितने जीव हैं, उन जीवों का कोई न कोई गुणस्थान होता है। जिस जीव के जिस प्रकार के परिणाम होते हैं, उन परिणामों के अनुसार गुणस्थान होता है। गुणस्थान अपने आपको नापने का थर्मामीटर है।

जैनागम में आत्मा के विकास की यात्रा को गुणस्थानों के द्वारा समुचित ढंग से विवेचित किया गया है।

गुण + स्थान : गुण का अर्थ है विकास और स्थान का अर्थ है सोपान। गुणस्थान अर्थात् विकास के सोपान।

आत्मा के स्वाभाविक गुणों की वृद्धि और आत्मा से संयुक्त कर्म पुद्‌गलों की हानि का दिग्दर्शन गुणस्थान से होता है।

गुणस्थानों के अनुसार जीव का कर्मबंध होता है।

मोह और योग (मन, वचन, काय) की प्रवृत्ति के कारण जीव के अंतरंग परिणामों में प्रतिक्षण होने वाले उतार–चढ़ाव को बताने वाले गुणस्थान हैं (जैनेन्द्र सि. कोष)

गुणस्थान कथंचित अजीव हैं, जड़ हैं। इन गुणस्थानों के निर्माण में सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र प्रधान है।

संखेओ ओघोत्ति य, गुणसण्णा सा च मोह जोग भवा......।। (3 गो.जी.) भावों से ही गुणस्थान बनता है और भावों से ही कर्म का बंध होता है। कर्मानुसार भाव और भावानुसार कर्म उसी तरह भावानुसार गुणस्थान और गुणस्थानावर्ती भाव होते हैं।

गुणस्थान का स्वरूप–

जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुण सण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं।। (8 गो.जी.का.)

कर्मों की उदयादि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन परिणामों से जीव लक्षित किये जाते हैं, उन्हें सर्वदर्शियों ने गुणस्थान संज्ञा से निर्दिष्ट किया है।

गुणस्थान 14 कहे गये हैं। उनका विवरण गाथा सं. 9 एवं 10 में (मिच्छो सासण .... चउदस जीव समासा कमेण सिद्धा य पादव्वा)

कौनसा गुणस्थान कौनसे कर्म के उदय में होता है

* मिथ्यात्व और सासादन– मोहनीय कर्म के उदय से
* मिश्र – दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम से
* अविरत सम्यग्दृष्टि – दर्शन मोह और अनंतानुबन्धी चतुष्क के उपशम, क्षयोपशम या क्षय से
* देशविरत – अप्रत्याख्यानावरण के उदयाभाव से
* प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण–प्रत्याख्यानावरण के उदयाभाव से
* सूक्ष्म सांपराय = सूक्ष्म संजवलन लोभ के उदय से
* उपशान्त मोह – चारित्रमोहनीय के उपशम से
* क्षीण मोह – चारित्रमोहनीय के क्षय से
* सयोग केवली – 4 घातिया कर्मों के क्षय से
* अयोग केवली – अघातिया कर्मों के क्षय से

13वें गुणस्थान में शरीर (नामकर्मोदय) के कारण योग है और 14वें गुणस्थान में शरीर (नामकर्मोदय) के अभाव के कारण योग भी नहीं है।

4 घातिया और 4 अघातिया रूप कर्म की आठों प्रकृति के सम्पूर्ण रूप से क्षय हो जाने पर मुक्तावस्था (सिद्धदशा) प्राप्त होती है। यह गुणस्थानातीत है क्योंकि कर्मों का सत्त्व नहीं रहा।

गुणस्थानों का स्वरूप

1. मिथ्यात्व गुणस्थान

वीरसेन स्वामी धवला टीका भाग–1 में मिथ्यादृष्टि की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं – मिथ्या वितथा तत्त्व दृष्टि : रुचि : श्रद्धा प्रत्ययो येषां ते मिथ्या दृष्टय: अर्थात् मिथ्या शब्द का अर्थ है वितथा, असत्य और दृष्टि का अर्थ है रुचि, श्रद्धा या विश्वास। मिथ्यात्व कर्म के उदय से जिन जीवों को मिथ्या श्रद्धा उत्पन्न हो जाता है, ऐसे जीवों को मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

रयणसार गाथा 106 में आचार्य कुंदकुंद स्वामी कहते हैं–

देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कसाय संजुत्ता ।
अप्प सहावे सुत्ता ते साहु सम्मपरिचत्ता ।।

बाह्य पदार्थों में अनुरक्त होने के कारण मिथ्याश्रद्धा से युक्त जीवों को बहिरात्मा कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि जीव अनेक प्रकार के कर्मों से बँधा हुआ संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

बंधई बहुविध कर्माणि येन संसार भ्रमति (77, परमात्म प्रकाश) राजवार्तिककार लिखते हैं कि मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव दर्शन मोहनीय के प्रगाढ़ बंधन के कारण तत्त्वार्थ से विमुख होता है। (पृ. 588)

तत्त्वार्थ श्रद्धान के अभाव में शुभाशुभ, कर्त्तव्याकर्त्तव्य तथा लक्ष्य का विवेक मिथ्यादृष्टि को नहीं होता।

विश्व की अधिकांश आत्मायें मिथ्यात्व गुणस्थान में हैं। इस गुणस्थान में मिथ्या श्रद्धान के कारण मोक्षोपयोगी संवर का अभाव होता है। ऐसा ब्रह्मदेव सूरी ने वृ.द्र.सं. टीका में कहा है – मिथ्यादृष्टि गुणस्थाने संवरो नास्ति (गाथा 34)। अर्थात् मिथ्यादृष्टि के संवर नहीं होता।

मिथ्यादृष्टि जीव एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान इन पाँच मिथ्या परिणामों से कलुषित होता है। (वा.पे. 48)

मिथ्यात्व के 363 भेद

1. क्रिया वादियों – 180
2. अक्रिया वादियों – 84
3. अज्ञान वादियों – 67
4. विनय वादियों – 32

मिथ्यात्व दशा की तुलना 'गीता' की तामस वृत्ति से की जा सकती है। जहाँ प्राणियों की ज्ञान शक्ति माया से कुंठित होने के कारण पापमय और आसुरी हो जाती है। (15/7 भगवद् गीता)

2. सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

सम्यक्त्व रूपी रत्नपर्वत के शिखर से च्युत मिथ्यात्व रूपी भूमि के सम्मुख, सम्यक्त्व के नाश को प्राप्त जीव सासादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है। यह गुणस्थान प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा जा सकता है परन्तु वास्तव में यह आत्मा की पतनोन्मुख अवस्था का प्रतीक है। कोई प्रथम गुणस्थान से विकास करके इसमें नहीं आता, परन्तु ऊपर की श्रेणी से पतित होकर पुन: मिथ्यात्व को प्राप्त होने के पूर्व इसको प्राप्त करता है (9/1 पंचसंग्रह प्राकृत)

इस गुणस्थान में गिरने वाले जीव का सम्यक्त्व आभास जैसा होता है। सम्यक्त्व का आसादन (अवहेलना) करने से इस गुणस्थान की प्राप्ति होती है। यह गुणस्थान मध्य की स्थिति है। इसका समय बहुत कम होता है (1 समय से 6 आवली पर्यन्त)। सासादन सम्यग्दृष्टि मरकर नरक में नहीं जाता।

जिस अनंतानुबंधी के उदय से इस गुणस्थान में जो समीचीनता नहीं होती है, वह दर्शन मोहनीय का भेद न होकर चारित्र मोहनीय का भेद है। इसीलिए इस गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि न कहकर सासादन सम्यग्दृष्टि कहा गया है।

3. मिश्र (सम्यक्–मिथ्यादृष्टि) गुणस्थान

दहि गुड मिव वा मिस्सं पुह भावं णेह कारिदुं सक्कं।
एवं मिस्सय भावो सम्मा मिच्छोति ण दव्वो।।(गो.जी.का. 22)

यह एक अनिश्चय अवस्था है जिसमें जीव सत्य-असत्य के मध्य झूलता रहता है। सम्यक्त्व को प्राप्त जीव (4 गुण स्थान) को सम्यक्बोध के प्रति संशय होता है तो पतित होकर इस अवस्था को प्राप्त होता है। जीव उपरिम चतुर्थ, पंचम, षष्ठम गुणस्थान प्रथम गुणस्थान में आता है।

आचार्य वीरसेन स्वामी (धवला-4 खंड-1 सूत्र 9) में कहते हैं इस गुणस्थान से जीव प्रथम या चतुर्थ गुणस्थान में ही जा सकता है।

इस गुणस्थान में जीव संयम/देश संयम को ग्रहण नहीं करता, आयु का बन्ध नहीं करता, मारणान्तिक समुद्घात भी नहीं होता, कोई बंध-व्युच्छिति नहीं होती।

4. अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान : (असंयत)

तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव जिस समय सम्यक् की ओर उन्मुख होता है तो वह चौथे में आ जाता है। इसमें जीव की श्रद्धा सम्यक् होती है परन्तु तदनुसार आचरण नहीं कर पाता। देशजिन-आ. ब्रह्मदेव सूरी कथित सम्यग्दृष्टि तीन प्रकार के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक होते हैं। ये तीन अवस्थायें दर्शनमोहनीय की 7 प्रकृतियों (दर्शनमोह की तीन व अनंतानुबंधी चतुष्क) के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से होती है (ज्ञानार्णव, 7/6)

औपशमिक – जल में बैठा हुआ कीचड़/मल

क्षायिक – आत्यन्तिकी निवृत्ति (स.सि. 1/2)। यह चतुर्थ गुण. से प्रारम्भ होकर अंतिम गुणस्थान तक स्थिर रहता है और वह जीव सर्व कर्म प्रकृतियों का विनाश करके परमात्म पद को प्राप्त कर लेता है।

क्षायोपशमिक – दर्शनमोहनीय के उदय से जो चल, मलिन, अवगाढ़ रूप, श्रद्धा होती है वह क्षायोपशमिक (वेदक) सम्यक्त्व है। इसमें अस्थायीत्व और मलिनता के कारण दमित वासनाओं के पुन: प्रकट होने की संभावना रहती है। यह चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान तक होता है। इससे आगे जीव का सम्यक्त्व क्षय अथवा उपशम श्रेणी को प्राप्त कर लेता है।

इस गुणस्थान के जीव एकेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होते।

अविरत सम्यग्दृष्टि जीव जिनदेव के वचनों पर आस्था करता है। किन्तु पंचेन्द्रिय और मन के विषयों में प्रवृत्ति और षट्काय जीवों की हिंसा में प्रवृत्ति। इन बारह अविरत का किंचित मात्र भी त्याग नहीं है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में असंयत होने पर पाँच व सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम की दशा में होने वाले जीव के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक भावों को अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान कहते हैं।

सम्माइट्ठी जीवों उवइट्ठ पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भाव अजाणमाणो गुरु णियोगा।। (धव. 1 पृ. 174)

जो इन्द्रियों के विषय से विरक्त नहीं है तथा त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से भी विरति रहित है, किन्तु जिनेन्द्र के उपदेश पर श्रद्धा करता है, वह अविरत सम्यग्दृष्टि है। (गो.जी.का. 29)

सम्यग्दृष्टि जीव बाह्य में मनुष्य भव में मूलगुण धारण करता है। (मद्य, माँस, मदिरा एवं पंच उदम्बरों का त्याग), फिर भी उनके अतिचार अवश्य ही लगते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव को श्रद्धा की अपेक्षा से सप्त भय नहीं है किन्तु चारित्र की अपेक्षा से भय है। सम्यग्दृष्टि जीव द्वारा मायाचारी का भाव भी हो सकता है। जैसे रामचन्द्र जी सीता को तीर्थयात्रा के बहाने जंगल में छुड़वाया। सम्यग्दृष्टि जीव से संकल्पी हिंसा भी हो जाती है जैसे भरत-बाहुबली।

अव्रती सम्यग्दृष्टि जीव के तीव्र कषाय भी होती है जिसे उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या कहा जाता है और मंदतम कषाय भी होती है जिसे पदम शुक्ल लेश्या कहते हैं। इसी प्रकार कषाय की तारतम्यता रहती है। सब सम्यग्दृष्टि जीव के चतुर्थ गुणस्थान में संवर समान है पर फिर भी भाव निर्जरा में महान् भेद है। सम्यग्दृष्टि जीव को धर्म ध्यान होता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव को कभी भी धर्म ध्यान नहीं होता।

चारों धर्मध्यान (आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय, संस्थान विचय) इन व्यवहार धर्मध्यान का पालन अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव भी करता है किन्तु उसे निश्चय धर्मध्यान नहीं हो सकता। इस प्रकार धर्मध्यान चौथे से सातवें गुणस्थान तक होता है। यही परमार्थ से धर्मध्यान है।

चतुर्थ गुणस्थान की विशेषताएँ -

1. इस गुणस्थान में ही विशेष प्रशस्त राग के कारण तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारंभ होता है।
2. इस गुणस्थान से ही निश्चय (आत्मीय सुख) की भूमिका प्रारंभ होती है।
3. इसी गुणस्थान से अन्तरात्मा संज्ञा प्रारंभ होती है।
4. इस गुणस्थान में अविरत शब्द अन्त्य दीपक है अत: यहाँ तक के सभी गुणस्थान अविरत रूप हैं।
5. भव्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति इसी गुणस्थान में होती है।
6. मिथ्यात्व क्रा अभाव हो जाने के कारण अविरत सम्यग्दृष्टि को दृष्टि मुक्त अर्थात् श्रद्धा की अपेक्षा से कहते हैं।

चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र नहीं होता है। यथाख्यात चारित्र को स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं।

रागद्वेषभाव लक्षणं परमं यथाख्यातरूपं स्वरूपे चरणं निश्चयचारित्रं (परमात्म प्रकाश 2/36)

अर्थात् राग-द्वेष के अभावरूप उत्कृष्ट यथाख्यात चारित्र ही स्वरूपाचरण चारित्र है वही निश्चय चारित्र है।

स्वरूपे चरणं चारित्रमिति वीतराग चारित्रमिति (परमात्म प्रकाश 2/40)

जो वीतराग चारित्र है वही स्वरूपाचरण चारित्र है। यदि यह कहा जाय कि चौथे गुणस्थान में जो निश्चल अनुभूति होती है, वही स्वरूपाचरण चारित्र है। भले ही वह एक क्षण के लिए हो, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि जो निश्चल अनुभूति है, वह वीतराग चारित्र है। चतुर्थ गुणस्थान में सराग चारित्र भी नहीं है वीतराग की बात तो दूर है।

5. देशविरत गुणस्थान (संयतासंयत)– एक ही जीव में संयम–असंयम दो विरोधी भावों के विषय में आचार्य वीरसेन स्वामी (धवला जी.पु.–1 सूत्र–13 में) कहते हैं–संयमासंयमीरेक द्रव्यवर्तिन अर्थात्

''त्रसस्थावर निबन्धनत्वात्'' त्रस प्राणियों की हिंसा से विरत–संयत तथा स्थावर जीवों की हिंसा से – अविरत।

इस गुणस्थान की प्राप्ति के लिए अप्रत्याख्यानवरणी चार कषायों पर नियंत्रण आवश्यक है। यह गुणस्थानवर्ती जीव 3 भव में या 5/7/8 भव में देव और मनुष्यों के सुख भोगकर सिद्धपद पा लेता है। (वसुनंदी श्रा. 539)

6. प्रमत्तविरत गुणस्थान : (प्रमत्त संयत)

सम्यक् प्रकार से विरक्त जीव को संयत कहते हैं। प्रमत्त होते हुए जो जीव संयम को पाता है उसे प्रमत्त संयत कहते हैं। जीव एकदेश नहीं पूर्ण संयम को धारण करता है, पाँच पापों का पूर्ण त्याग, जीव के अनंतानुबंधी चतुष्क, प्रत्याख्यान चतुष्क, अप्रत्याख्यान चतुष्क ये 12 चारित्र मोह के कषाय उपशमित हो चुके होते हैं। परन्तु संज्वलन एवं हास्यादि नोकषाय उदय में होते हैं, इनको ही प्रमाद कहा जाता है। यहाँ जो सकल संयम का उदय हुआ है वह संज्वलन के उदय से नहीं, प्रत्याख्यानवरण के क्षयोपशम से हुआ है। इस गुणस्थान में द्रव्य संयम की बजाय भाव संयम की अपेक्षा है। संज्वलन आदि मंद कषायों से संयम का घात नहीं होता परन्तु संयम में प्रमाद जनित दोष आ जाता है जिसके कारण कभी–कभी जीव आचरण से स्खलित हो जाता है।

7. अप्रमत्त विरत गुणस्थान

इस श्रेणी में जाकर जीव में प्रमादोत्पादित कर्मों का अभाव हो जाता है। 15 प्रमादों से रहित जीव अप्रमत्त संयत कहलाता है। (धवलाजी भाग 1 सूत्र 15)। अप्रमत्त संयत जीव में किसी कारणवश संक्लेश परिणाम की वृद्धि हो जाये तो प्रमत्त गुणस्थान में आता है तथा विशुद्ध परिणामों में वृद्धि हो जाये तो अग्रिम अपूर्वकरण (8) गुणस्थान में जाता है (लब्धिसार गाथा 45)।

इस गुणस्थान में जीव अंतर्मुहूर्त से अधिक समय नहीं रह सकता। इससे आगे देवायु का बंध नहीं होता।

मन:पर्यय ज्ञान अप्रमत्त गुणस्थान में ही उत्पन्न होता है फिर प्रमत्त के भी बना रहता है। इस गुणस्थान से आगे जीव दो रूपों (उपशम श्रेणी, क्षपक श्रेणी) में कर्म पर विजय प्राप्त करता है।

8. अपूर्वकरण गुणस्थान

इसमें कर्मावरण के अत्यन्त क्षीण हो जाने के कारण जीव को असीम आनंद की अनुभूति होती है जो

पहले कभी नहीं हुई थी। चारित्र मोह के आवरण के अत्यन्त मंद हो जाने से पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग बहुत कम हो जाता है। इस गुणस्थान में जीव कम से कम एक समय और अधिकतम एक अंतर्मुहूर्त तक रहता है।

उपशम श्रेणी में जीव मोहनीय कर्म का समूल नाश नहीं करते हुए कर्मों को दबाता हुआ आगे बढ़ता है। इस अल्पकालिक विशुद्धि के कारण यह जीव अपने कर्मों का उन्मूलन कर अंतिम श्रेणी तक नहीं जा सकता। ग्यारहवें गुणस्थान तक जाकर पुन: कर्मों के प्रकट होने पर (चारित्र मोह) पुन: नीचे गिर जाता है। उपशम श्रेणी में उपशम भाव होता है। क्षपक श्रेणी वाला चारित्र मोहनीय कर्म को समूल नष्ट करता हुआ आगे बढ़ता है। इसमें कर्मों के विध्वंस के कारण पुन: प्रकट नहीं होने से समस्त कर्मों का नाश कर अंतिम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। क्षपक श्रेणी–क्षायिक भाव।

9. अनिवृत्तिकरण गुणस्थान

जिन परिणामों की निवृत्ति नहीं होती उन्हें अनिवृत्तिकरण और स्थूल कषायों को बादर साम्पराय कहते हैं। इसमें संज्वलन नामक मंद कषायों का स्थूल रूप से उपशमन या क्षय होता है (जी.का–57)।

जीव अपनी ध्यानाग्नि द्वारा तीनों वेद, क्रोध मान माया और स्थूल लोभ का पूर्णरूपेण क्षय अथवा उपशम करता है। वेद और संज्वलन की चारों कषायों का बंध नहीं होता।

10. सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान

धुले हुए कसूम्भी वस्त्र में जिस प्रकार सूक्ष्म लालिमा रह जाती है, उसी प्रकार बादर कषाय का अभाव हो जाने पर भी सूक्ष्म कषाय से युक्त जीव होता है इस गुणस्थान में जीव कम से कम 1 समय अधिकतम एक अंतर्मुहूर्त तक रहता है। यह साम्परायिक आस्रव का अंतिम गुणस्थान है।

11. उपशान्त कषाय गुणस्थान

जिन जीवों की कषाय उपशान्त हो गई है और राग उपशांत हो गया है परन्तु ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणी कर्मों के सूक्ष्म आवरण से आवृत्त है। इसमें उपशम श्रेणी वाला जीव आरोहण करता है इसमें अधिक से अधिक एक अंतर्मुहूर्त तक रहता है, इसके पश्चात् कषायों के जाग्रत होने से पुन: नीचे गिर जाता है। पतन के बाद पुन: क्षायिक श्रेणी द्वारा विकास को उन्मुख हो मुक्ति को पाता है इस गुणस्थान से पतन का कारण आयुक्षय भी हो सकता है। यहाँ बंध–व्युच्छित्ति नहीं है।

12. (क्षीणकषाय) क्षीण मोह गुणस्थान

क्षपक श्रेणी वाला जीव 10वें से 11वें में न जाकर सीधे 12वें गुणस्थान में आता है। जिन जीवों की कषाय क्षीण हो गई है, वीतरागी है परन्तु ज्ञान और दर्शन के आवरण में रहते हैं। सूक्ष्म लोभ भी विलीन हो गया। कार्य परमात्मा होने में अल्प समय शेष है, कारण परमात्मा पूर्ण प्रकट हो गया।

चार घातिया कर्मों का अस्तित्व इस गुणस्थान से आगे नहीं रहने के कारण पुन: पतन का कोई भय नहीं रहता। यह चारित्र की अपेक्षित उच्चतम अवस्था है। सम्पूर्ण 24 परिग्रहों का अभाव यही होता है। 10 बाह्य परिग्रह का अभाव तो पहले था परन्तु अंतरंग 14 परिग्रह यहीं सर्वथा समाप्त होते हैं (पु.सि.)। 12वें गुणस्थान तक भावेन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय के साथ है। 12वाँ गुणस्थान कार्य परमात्मा के लिए 'साधकतम करणं' अर्थात् साधक करण है।

13. सयोग केवली गुणस्थान

शरीर सहित जीवमुक्त अवस्था, परमात्मा संज्ञा को प्राप्त, तीन योगों से सहित होने से सयोगी, ज्ञान दर्शन के समस्त आवरणों का क्षय होने से केवली, चार घातिया कर्मों से रहित होने से अनंत चतुष्टय के धारक, मोहादि घातिया कर्म शत्रुओं तथा जन्म-मरण का हनन करने के कारण अर्हन्त, बंध के पाँच कारणों (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग) में मात्र योग शेष, योगजन्य क्रियाएँ बंध का कारण नहीं क्योंकि राग-द्वेष का अभाव, योग जनित क्रिया ईर्यापथ आस्रव कही जाती है।

14. अयोग केवली गुणस्थान

योग का अभाव, शील की पूर्णता, अत्यल्प काल, पाँच लघु अक्षर (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के उच्चारण काल तक जीव इस गुणस्थान में रहता है, इसके पश्चात् उर्ध्वगमन कर जाता है।

अयोगी जीव चरम समय में आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय इन चार अघातिया कर्मों का विनाश कर द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के कर्मों से मुक्त होकर स्वाभाविक आठ गुणों (सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व) से संयुक्त होकर उर्ध्वगमन करता है (पंचास्तिकाय-73)। इस प्रकार द्रव्य मोक्ष को प्राप्त कर लोक के अंतिम भाग में सिद्धशिला (8वीं पृथ्वी, ईषत् प्राग्भार) पर सदैव के लिए स्थित हो जाता है।

गुणस्थानों को जानने का लाभ यह है कि किन-किन गुणस्थानों तक कर्म बंध की व्युच्छित्ति होती है, जिससे हम मिथ्यात्व को छोड़कर अपने भावों को पवित्र बना सके। सिद्ध भगवान गुणस्थानातीत होते हैं।

देह धरे को दंड है, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगते ज्ञान सो, मूरख भुगते रोय।।

*****

गोम्मटसार जीवकाण्ड के अनुसार

नरक गति मार्गणा

चीफ ई. सुमत प्रकाश जैन
अध्यक्ष अखिल
भारतीय जैन विद्वत शास्त्री परिषद्

पणमिय सिरसा णेमिं, गुण रयण विभूषणं महावीरं।
सम्मत रयण णिलयं, पयडि तणं वोच्छं ॥

बोलिए गोमटेस बाहुबली भगवान की जय,
सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमीचन्द्र स्वामी जी की जय,
उच्चारणाचार्य, प्रात: स्मरणीय विनम्र सागर जी
महाराज की जय। समस्त मुनि संघ की जय ।

गोम्मटसार नाम की सार्थकता

गोम्मटसार में प्रथम पद गोम्मट सुनने में कुछ अजीब सा लगता है।

यह शब्द न तो संस्कृत भाषा कोशों में मिलता है न ही हिन्दी भाषा के कोशों में। अत: यह शब्द विद्वानों के चर्चा एवं विवाद का विषय रहा है।

इस गोम्मट नाम से ही श्रवण बेलगोला में गंग नरेश के प्रधानमंत्री एवं सेनापति चामुण्डराय के द्वारा स्थापित भगवान बाहुबली जी उतंग मूर्ति जानी जाती है।

उसे भी गोम्मटजिन या गोम्मटस्वामी कहते हैं। मूल रूप से ये दो ही वस्तु ऐसी हैं जो गोम्मट नाम से जानी जाती हैं।

इस मूर्ति के नाम का अनुकरण कर कारकल एवं वैणूर में निर्मित मूर्तियाँ भी गोम्मट के नाम से जानी जाती हैं।

इस प्रकार गोम्मट नाम से कही गई मूलत: दो वस्तुएँ हैं।

1. गोम्मटसार नामक ग्रंथ,

2. दूसरी श्रवण बेलगोला में विंध्य गिरि पर स्थापित बाहुबली जी की उत्तंगमूर्ति।

इन दोनों का सम्बन्ध जिस एक व्यक्ति से है वह है गंग साम्राज्य के प्रधानमंत्री एवं सेनापति श्री चामुण्डराय। चामुण्डराय जी ने ही इस बाहुबली भगवान की मूर्ति की प्रतिष्ठा विधि आदि कराई।

गोम्मटसार ग्रन्थ के टीकाकार अभय चन्द, केशववर्णी हैं।

आचार्य नेमीचन्द्र जी अपने प्रारंभिक कथा में लिखते हैं – ''नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने चामुण्डराय के लिए प्रथम सिद्धान्त ग्रन्थ के आधार पर गोम्मटसार ग्रन्थ की रचना की।''

ग्रन्थ लेखन के संदर्भ में वर्णित है कि आचार्य श्री नेमीचन्द्र जी महाराज धवला आदि षटखंडागम ग्रन्थ का स्वाध्याय कर रहे थे। उसी समय चामुण्डराय जी आचार्य श्री के दर्शन हेतु आये तो आचार्य महाराज ने ग्रन्थ का स्वाध्याय रोक दिया। चामुण्डराय के पूछे जाने पर आचार्य श्री ने चामुण्डराय के स्वाध्याय के लिए गोम्मटसार ग्रन्थ को दो भागों में स्रजित किया।

1. गोम्मटसार जीवकांड

2. गोम्मटसार कर्मकांड

गोम्मटसार कर्मकांड ग्रन्थ में कर्म प्रकृति का विस्तृत विवेचन है।

गोम्मटसार जीवकांड ग्रन्थ में जीव प्ररूपणाओं का सार रूप कथन किया है।

आचार्य महाराज मंगलाचरण के माध्यम से बीस प्ररूपणाओं को कहने का संकल्प लेते हुए कहते हैं।

सिद्धं सुद्धं पणमिय जिणिंद वर णेमिचन्द मकलंकं ।
गुणरयण भूसणुदयं जीवस्स परूवणं वोच्छं ।।

मंगलाचरण में नेमिनाथ भगवान को नेमिचन्द कहकर नमस्कार किया है।

नेमिनाथ भगवान के संदर्भ में आचार्य महाराज लिखते हैं कि –

''जो सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं, जो समस्त तीनों लोकों में विख्यात हैं, जो शुद्ध हैं अर्थात् द्रव्य एवं भावात्मक कर्मों से रहित हैं, जो अकलंक हैं अर्थात् क्षुधा आदि अठारह दोष रूप कलंक से रहित हैं।

जो जिनेन्द्र अर्थात् गणधर आदि केवलियों में श्रेष्ठ हैं। ऐसे नेमिचन्द भगवान को मैं नमस्कार करके जीव की प्ररूपणाओं को कहूँगा। जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख आदि गुणरूप रत्नभूषणों से सहित हैं।

बीस प्ररूपणाओं का वर्णन –

1. गुणस्थान (चौदह)	2. जीव समास (अठानवे)	3. पर्याप्ति (छह)
4. प्राण (दस)	5. संज्ञा (चार)	6. गति मार्गणा (चार)
7. इन्द्रिय मार्गणा (पाँच)	8. काय मार्गणा (छह)	9. योग मार्गणा (पंद्रह)
10. वेद मार्गणा (तीन)	11. कषाय मार्गणा (पच्चीस)	12. ज्ञान मार्गणा (आठ)
13. संयम मार्गणा (सात)	14. दर्शन मार्गणा (चार)	15. लेश्या मार्गणा (छह)
16. भव्य मार्गणा (दो)	17. सम्यक्त्व मार्गणा (छह)	18. संज्ञी मार्गणा (दो)
19. आहार मार्गणा (दो)	20. उपयोग (बारह) **ये जीव की–**20. प्ररूपणा होती हैं।	

इन बीस में से छठे नम्बर की गति मार्गणा के चार भेदों में प्रथम भेद है ''नरक गति''

मैं गोम्मटसार जीवकांड की इस संगोष्ठी में नरक गति की विस्तृत चर्चा तिलोय पण्णत्ती:, त्रिलोकसार, गोम्मटसार जीवकांड आदि ग्रन्थों के आधार पर करूँगा।

सर्वप्रथम नरक गति में हम बीस प्ररूपणाओं की चर्चा करते हैं।

1. नरक गति में एक से चार तक गुणस्थान होते हैं।

2. नरक गति में पंचेन्द्रिय सैनी एक जीव समास होता है। 3. नरक गति में छहों पर्याप्तियाँ होती हैं।

4. नरक गति में दसों प्राण होते हैं। 5. नरक गति में चारों संज्ञाएँ होती हैं।

6. नरक गति में एक नरक गति होती है। 7. नरक गति में पंचेन्द्रिय होते हैं।

8. नरक गति में एक त्रसकाय होते हैं।

9. नरक गति में चार मनोयोग, चार वचनयोग, वैक्रियक काययोग, वैक्रियक मिश्र काययोग और कार्मण काययोग इस प्रकार 11 योग होते हैं।

10. नरक गति में एक वेद नपुंसक ही होता है।

11. नरक गति में पुरुषवेद कषाय और स्त्रीवेद कषाय रहित तेईस कषायें होती हैं।

12. नरक गति में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान ये छह ज्ञान होते हैं।

13. नरक गति में एक असंयम होता है।

14. नरक गति में चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन और अवधि दर्शन ये तीन दर्शन होते हैं।

15. नरक गति में कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं।

16. नरक गति में भव्यत्व एवं अभव्यत्व दोनों होते हैं।

17. नरक गति में पहले नरक में मिथ्यात्व, सासादन, सम्यग्-मिथ्यात्व, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ये छहों सम्यक्त्व होते हैं। द्वितीय आदि नरकों में क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है।

18. नरक गति में एक सैनी ही होते हैं।

19. नरक गति में पर्याप्त दशा में आहारक होते हैं और अपर्याप्त दशा में आहारक अनाहारक दोनों होते हैं।

20. नरक गति में नो उपयोग होते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन

अब नरक गति सम्बन्धी–

विशेष चर्चा आपके समक्ष करता हूँ।

नरकों की पृथ्वी (भूमि)

प्रथम नरक – रत्नप्रभा
दूसरा नरक – शर्करा प्रभा
तीसरा नरक – बालुका प्रभा
चौथा नरक – पंक प्रभा
पाँचवां नरक – धूम प्रभा
छठवाँ नरक – तम: प्रभा
सातवाँ नरक – महातम: प्रभा

नरकों के नाम–

प्रथम नरक – धम्मा
दूसरा नरक – वंशा
तीसरा नरक – मेघा
चौथा नरक – अंजना
पाँचवाँ नरक – अरिष्टा
छठवाँ नरक – मघवा
सातवाँ नरक – माघवी

नरकों की मध्यलोक से दूरी –

पहला नरक – 1 लाख 80,000 योजन
दूसरा नरक – 1 राजू
तीसरा नरक – दो राजू
चौथा नरक – तीन राजू
पाँचवाँ नरक – चार राजू
छठवाँ नरक – पाँच राजू
सातवाँ नरक – छह राजू

नरकों की पृथ्वी की मोटाई–

पहला नरक – 1 लाख 80,000 योजन
दूसरा नरक – 32 हजार योजन
तीसरा नरक – 28 हजार योजन
चौथा नरक – 24 हजार योजन
पाँचवां नरक – 20 हजार योजन
छठवाँ नरक – 16 हजार योजन
सातवाँ नरक – 8 हजार योजन

नरकों में पटलों की संख्या–

पहला नरक – 13 पटल
दूसरा नरक – 11 पटल
तीसरा नरक – 9 पटल
चौथा नरक – 7 पटल
पाँचवां नरक – 5 पटल
छठवाँ नरक – 3 पटल
सातवाँ नरक – 1 पटल, कुल 49 पटल

नरकों में बिलों की संख्या–

पहला नरक – 30 लाख
दूसरा नरक – 25 लाख
तीसरा नरक – 15 लाख
चौथा नरक – 10 लाख
पाँचवां नरक – 3 लाख
छठवाँ नरक – पाँच कम 1 लाख
सातवाँ नरक – 5

इस प्रकार कुल 84 लाख बिल होते हैं।

नरकों में उत्कृष्ट आयु–

पहला नरक – 1 सागर की
दूसरा नरक – 3 सागर की
तीसरा नरक – 7 सागर की
चौथा नरक – 10 सागर की
पाँचवां नरक – 17 सागर की
छठवाँ नरक – 22 सागर की
सातवाँ नरक – 33 सागर की उत्कृष्ट आयु होती है।

नरकों में जघन्य आयु–

प्रथम नरक – 10 हजार वर्ष की
दूसरा नरक – 1 सागर की
तीसरा नरक – 3 सागर की
चौथा नरक – 7 सागर की
पाँचवां नरक – 10 सागर की
छठवाँ नरक – 17 सागर की
सातवाँ नरक – 22 सागर की जघन्य आयु होती है।

नरकों में नारकीयों के शरीर की ऊँचाई–

पहला नरक – 7 धनुष 3 हाथ 6 अँगुल
दूसरा नरक – 15 धनुष 2 हाथ 12 अँगुल
तीसरा नरक – 31 धनुष 1 हाथ
चौथा नरक – 62 धनुष 7 हाथ
पाँचवां नरक – 125 धनुष
छठवाँ नरक – 250 धनुष
सातवाँ नरक – 500 धनुष

नरकों में लगातार उत्पत्ति–

प्रथम नरक – 8 बार
दूसरा नरक – 7 बार
तीसरा नरक – 6 बार
चौथा नरक – 5 बार
पाँचवाँ नरक – 4 बार
छठवाँ नरक – 3 बार
सातवाँ नरक – 2 बार

कौनसे जीव कौनसे नरक तक

पंचेन्द्रिय असंज्ञी जीव पहले नरक तक उत्पन्न हो सकता है। सरीसृप जीव दूसरे नरक तक जा सकते हैं। पक्षी तीसरे नरक तक जा सकते हैं। भुजंग आदि सर्प चौथे नरक तक जा सकते हैं। सिंह आदि जीव पाँचवें नरक तक जा सकते हैं। स्त्रियाँ छठवें नरक तक जा सकती हैं। पुरुष, मत्स्य सातवें नरक तक जा सकते हैं।

नरकों से आने वाला नारकी कौन सी पर्याय को प्राप्त कर सकता है।

नरकों से आने वाले नारकी नियम से संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच व मनुष्य ही होते हैं मनुष्यों में भी तीर्थंकर के अलावा अन्य शलाका पुरुषों में उत्पन्न नहीं होते हैं।

प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय नरक के नारकी तीर्थंकर पर्याय को भी प्राप्त कर सकते हैं।

चौथे नरक के नारकी तीर्थंकर पर्याय को प्राप्त नहीं कर सकते। किन्तु मोक्षगामी हो सकते हैं।

पाँचवें नरक के नारकी मोक्षगामी नहीं हो सकते। किन्तु मुनि पद को प्राप्त कर सकते हैं।

छठवें नरक के नारकी मुनि भी नहीं बन सकते। प्रतिमाधारी श्रावक हो सकते हैं।

सातवें नरक के नारकी नियम से मिथ्यादृष्टि तिर्यंच ही होते हैं।

नरकों में विरह काल (जन्म का अन्तर)

पहला नरक – 24 मुहूर्त	दूसरा नरक – 7 दिन
तीसरा नरक – 15 दिन	चौथा नरक – 1 माह
पाँचवां नरक – 2 माह	छठवाँ नरक – 4 माह
सातवाँ नरक – 6 माह	

नारकियों के उछलने की क्षमता (माप)

सभी नारकी अपने शरीर की ऊँचाई के बराबर उछल सकते हैं।

नारकियों का फैलाव

सभी नारकी अपनी शरीर की अवगाहना (ऊँचाई) का पाँच गुना तक फैलाव कर सकते हैं।

नरकों में मिट्टी की दुर्गन्ध

पहले नरक प्रथम नरक के प्रथम पटल की मिट्टी की दुर्गंध से एक कोस के जीव मर जाते है फिर आधा-आधा कोश प्रति पटल बढ़ाते जाना चाहिए अन्तिम पटल की मिट्टी की दुर्गंध से 24½ कोश के जीव मर जाते हैं। मिट्टी की दुर्गन्ध से 1 कोस के जीवों का मरण हो सकता है।

छटवें नरक की मिट्टी की दुर्गन्ध से 3.5 कोस के जीवों का मरण हो सकता है।

सातवें नरक की मिट्टी की दुर्गन्ध से 4 कोस के जीवों का मरण हो सकता है।

नारकियों में अवधि ज्ञान का विषय

पहले नरक के नारकी का अवधिज्ञान क्षेत्र - 4 कोस

दूसरे नरक के नारकी का अवधिज्ञान क्षेत्र - 3.5 कोस

तीसरे नरक के नारकी का अवधिज्ञान क्षेत्र 3 कोस

चौथे नरक के नारकी का अवधिज्ञान क्षेत्र - 2.5 कोस

पाँचवें नरक के नारकी का अवधिज्ञान क्षेत्र 2 कोस

छठवें नरक के नारकी का अवधिज्ञान क्षेत्र 1.5 कोस

सातवें नरक के नारकी का अवधिज्ञान क्षेत्र 1 कोस

नरकों में लेश्या

प्रथम नरक में जघन्य कापोत लेश्या होती है।

दूसरे नरक में मध्यम कापोत

तीसरे नरक में उत्कृष्ट कापोत एवं जघन्य नील

चौथे नरक में मध्यम नील

पाँचवें नरक में उत्कृष्ट नील एवं जघन्य कृष्ण

छठवाँ नरक में मध्यम कृष्ण

सातवाँ नरक में उत्कृष्ट कृष्ण लेश्याएँ होती है।

इस प्रकार इस संगोष्ठी में मेरे द्वारा नरक गति मार्गणा की विस्तृत चर्चा आपके समक्ष की गई। इस विषय को यदि आप और अच्छे से समझना चाहें तो मोबाइल के माध्यम से मुझसे समझ सकते हैं। मूल आचार्यों के ग्रंथों से मैंने जो समझा उसे आपके समक्ष और अच्छे से समझाने की कोशिश की है। इसमें यदि कहीं मेरे से समझाने में भूल हुई या मैं चूक गया हूँ तो विद्वत् वर्ग मुझे अवगत करावें। जय जिनेन्द्र।

*****

पर्याप्ति

पं. सुखमाल चन्द जैन
सहारानपुर (उ.प्र.)
मो. 9358758884

गोम्मटसार जीवकाण्ड-आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती

मंगलाचरण

सिद्धं सुद्धं पणमिय जिणिंदवर नेमिचन्द मकलंकं।
गुणरयण भूषणदयं जीवस्स परूवणं वोच्छं।।

पर्याप्ति- यह एक नाम कर्म की प्रकृति है, तत्त्वार्थ सूत्र के आठवें अध्याय के ग्यारहवें सूत्र में नाम कर्म की प्रकृतियां बताते हुए आचार्य उमास्वामी ने भी पर्याप्ति का उल्लेख किया है।

पर्याप्ति के भेदों का उल्लेख करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लिखा है-

आहार सरीरिंदिय पज्जती आण पाण भास मणो।
चत्तारि पंच छप्पि य एइंदिय वियल सण्णीणं।।गो.जी.का.119।।

अर्थात् पर्याप्ति छः होती है-1. आहार पर्याप्ति 2. शरीर पर्याप्ति 3. इंद्रिय पर्याप्ति 4. श्वासोच्छवास पर्याप्ति 5. भाषा पर्याप्ति 6. मनः पर्याप्ति।

पर्याप्ति का अर्थ- शक्ति की निष्पत्ति को पर्याप्ति कहते हैं। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीर और छः पर्याप्ति रूप पर्याय परिणमाने योग्य पुद्गल स्कन्धों को खल और रस भाग रूप से परिणमन के लिये पर्याप्ति नाम कर्म के उदय के साहाय्य से उत्पन्न आत्मा की शक्ति की निष्पत्ति को आहार पर्याप्ति कहते हैं।

खल और रस भाग रूप रक्त आदि द्रव्य रूप परिणमाने के शक्ति की निष्पत्ति को शरीर पर्याप्ति कहते हैं।

मतिश्रुत ज्ञानावरण, चक्षु अचक्षु दर्शनावरण और वीर्यान्तरण के क्षयोपशम से युक्त तथा योग्य देश में अवस्थित रूप आदि विषयों को ग्रहण करने रुप व्यापार से विशिष्ट आत्मा के स्पर्शन आदि द्रव्येन्द्रिय रुप से विवक्षित पुद्गल स्कन्धों को जाति नाम कर्म के उदय के अनुसार परिणमाने की शक्ति की निष्पत्ति को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं।

आहार वर्गणा के रूप में आये हुए पुद्गल स्कन्धों को उच्छवास-निश्वास रूप परिणमाने के लिए उच्छवास-निश्वास नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुई शक्ति की निष्पत्ति को उच्छवास पर्याप्ति कहते हैं।

स्वर नाम कर्म के उदय के वश से भाषा वर्गणा के रूप में आये हुए पुद्गल स्कन्धों को सत्य-असत्य आदि भाषा रूप परिणमाने की शक्ति की निष्पत्ति को भाषा पर्याप्ति कहते हैं।

मनोवर्गणा के रूप में आये हुए पुद्गल स्कन्धों को आंगोपांग नाम कर्म के उदय की सहायता से द्रव्य मनो रूप परिणमाने के लिए तथा उस द्रव्य मन की सहायता से नो इन्द्रियावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम विशेष से गुण दोष का विचार स्मरण, प्रणिधान लक्षण वाले भाव मनरूप से परिणमन करने की शक्ति की पूर्णता को मन: पर्याप्ति कहते हैं।

शरीर नाम कर्म के उदय के प्रथम समय में ही अपने अपने योग्य समस्त पर्याप्तियों का प्रतिष्ठापन अर्थात् प्रारम्भ एक साथ होता है किन्तु उसका निष्ठापन क्रम क्रम से होता है।

जैसे आहार पर्याप्ति की निष्पत्ति का काल सबसे छोटा अन्तर्मुहूर्त होता है इससे शरीर पर्याप्ति का काल आहार पर्याप्ति के काल से इसका असंख्यातवां भाग अधिक होता है। शरीर पर्याप्ति के काल से इन्द्रिय पर्याप्ति का काल असंख्यातवां भाग अधिक होता है इसी प्रकार श्वासोच्छवास, भाषा और मन: पर्याप्ति का काल असंख्यातवां–असंख्यातवां भाग अधिक–अधिक होता है। यहाँ प्रत्येक पर्याप्ति का काल भी अन्तर्मुहूर्त होता है और सभी पर्याप्तियों का काल भी अन्तर्मुहूर्त ही होता है।

एक समय कम शरीर पर्याप्ति के काल अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निर्वृत्यपर्याप्तक काल है। शरीर पर्याप्ति की निष्पत्ति के समय से लेकर इन्द्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा, मन:पर्याप्ति की निष्पत्ति नहीं होने पर भी जीव पर्याप्तक कहा जाता है क्योंकि उसके पर्याप्त नाम कर्म का उदय पाया जाता है।

लब्ध्यपर्याप्तक– जिन जीवों के अपर्याप्त नाम कर्म का उदय पाया जाता है ऐसे एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और संज्ञी जीव अपनी अपनी चार, पांच और छ: पर्याप्तियां पूर्ण नहीं करते और उच्छवास के अठारहवें भाग प्रमाण अन्तर्मुहूर्त में ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं। अन्तर्मुहूर्त काल में लब्ध्यपर्याप्तक जीवों का मरण 66336 बार हो जाते हैं तथा जघन्य भी इतनी ही बार हो जाता है। लब्ध्यपर्याप्तक जीवों को छोड़कर शेष किसी भी जीव का मरण श्वासोच्छवास के अठारहवें भाग अर्थात् क्षुद्र भव में नहीं होता। विस्तार की अपेक्षा एकेन्द्रिय जीवों में 66132 बार, दो इन्द्रिय में 80 बार, तीन इन्द्रिय में 60 बार, चार इन्द्रिय में 40 बार, पांच इन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक में 24 बार (8 बार मनुष्य लब्ध्यपर्याप्तक में, 8 बार असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक में तथा 8 बार संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक में)।

इस तरह पर्याप्ति नाम कर्म एक महत्वपूर्ण कर्म है क्योंकि पर्याप्तक नाम कर्म के बिना हमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता भी नहीं प्राप्त हो सकती मोक्ष प्राप्ति तो बहुत ही दुर्लभ है।

वेद मार्गणा

–पं. दामोदर प्रसाद जैन
सागर (म.प्र.)

गाथा – पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे।
णामोदयेण दव्वे, पाएण समा कहिं विसमा।।271।।

अर्थ – पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेद कर्म के उदय से भाव पुरुष, भाव स्त्री, भाव नपुंसक वेद होता है। और आंगोपांग नाम कर्म के उदय से द्रव्य पुरुष, द्रव्य स्त्री, द्रव्य नपुंसक वेद होता है। सो यह भाववेद और द्रव्यवेद प्राय: करके समान होता है, परन्तु कहीं-कहीं विषम भी होता है।

भावार्थ – वेद नाम नोकषाय के उदय से जीवों के भाववेद होता है और निर्माण नाम कर्म सहित आंगोपांग नामकर्म के उदय से द्रव्यवेद होता है। ये दोनों ही वेद प्राय: करके तो समान ही होते हैं अर्थात् भाववेद दूसरा और द्रव्यवेद दूसरा। यह विषमता देवगति और नरकगति में तो सर्वथा नहीं पाई जाती। मनुष्य और तिर्यञ्च गतियों में जो भोगभूमिज हैं उनमें भी नहीं पाई जाती है। बाकी के तिर्यञ्च एवं मनुष्यों में कदाचित् वैषम्य भी पाया जाता है।

वेदस्सुदीरणाए, परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो।
संमोहेण ण जाणदि, जीवो हि गुणं व दोषं वा।।202।।

अर्थ – वेद नोकषाय के उदय तथा उदीरणा होने से जीवों के परिणामों में बड़ा भारी मोह उत्पन्न होता है और इस मोह के होने से यह जीव गुण अथवा दोष का विचार नहीं कर सकता।

पुरुगुण भोगे सेदे करोदि लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं।
पुरुउत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो।।273।।

अर्थ – उत्कृष्ट गुण अथवा उत्कृष्ट भोगों का स्वामी हो, अथवा जो लोक में उत्कृष्ट गुणयुक्त कर्म को करें, तथा जो स्वयं उत्तम हो उसको पुरुष कहते हैं।

भावार्थ – उत्कृष्ट सम्यक्त्वादि गुणों का वह स्वामी होता है इन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदों को भोगता है। चारों पुरुषार्थों का पालन करता है। परमेष्ठी पद में स्थित रहता है, इसलिए इसको पुरुष कहते हैं।

छादयदि सयं दोसे णयदो छाददि परं वि दोसेण।
छादण सीला जम्हा तम्हा सा वण्णिया इत्थी।।274।।

अर्थ – जो मिथ्यादर्शन अज्ञान असंयम आदि दोषों से अपने को आच्छादित करे और मृदु भाषण, तिरछा चितवन आदि व्यापार से जो दूसरे पुरुषों को भी हिंसा, अब्रह्म आदि दोषों से आच्छादित करे, उसको आच्छादन-स्वभावयुक्त होने से स्त्री कहते हैं।

भावार्थ – यद्यपि तीर्थंकरों की माता, या सम्यक्त्वादि गुणों से भूषित दूसरी भी बहुत सी स्त्रियाँ अपने को तथा दूसरों को दोषों से आच्छादित नहीं भी करती है। उनमें यह लक्षण घटित नहीं भी होता है। फिर भी बहुलता की अपेक्षा यह निरुक्तिसिद्ध लक्षण कहा है। निरुक्ति के द्वारा मुख्यतया प्रकृति प्रत्यय से निष्पन्न अर्थ का बोधमात्र कराया जाता है।

णेवित्थी णेव पुमं णउंसओ उहयलिंगविदिरित्तो।
इट्ठावग्गि समाण गवेदणगरुओ कलु सचित्तो।।275।।

अर्थ – जो न स्त्री हो और न पुरुष हो। ऐसे दोनों ही लिंगों से रहित जीव को नपुंसक कहते हैं। इसके आवा (भट्टा) में पकती हुई ईंट की अग्नि के समान तीव्र कषाय होती है। अतएव इसका चित्त प्रतिसमय कलुषित रहता है।

वेदरहित जीवों को बताते हैं–

तिणकारिसिट्ठपागग्गि सरिसपरिणामवेदणुम्मुक्का।
अवगयवेदा जीवा, सगसं भवणंतवर सोक्खा।।276।।

अर्थ – तृण की अग्नि, करीष अग्नि, इष्टपाक अग्नि (अवाकी अग्नि) के समान वेद के परिणामों से रहित जीवों को अपगतवेद कहते हैं। ये जीव अपनी आत्मा से ही उत्पन्न होने वाले अनन्त और सर्वोत्कृष्ट सुख को भोगते हैं।

भावार्थ – तृण की अग्नि के समान पुरुषवेद की कषाय और करीष कंडे की अग्नि के समान स्त्रीवेद की कषाय तथा अवा–भट्टे की अग्नि के समान नपुंसक वेद की कषाय से जो रहित हैं वे दुःखी नहीं किन्तु आत्मोत्थ सर्वोत्कृष्ट अनन्त सुख के भोक्ता हुआ करते हैं।

वेद मार्गणा में पाँच गाथाओं द्वारा जीव संख्या का वर्णन करते हैं–

जोइसियवाण जोणिणि तिरिक्खपुरुसा या सण्णिणो जीवा ।
तत्तेउपम्मलेस्सा, संखगुणूणा कमेणेदे ।।277।।

अर्थ – ज्योतिषी, व्यन्तर, योनिनी तिर्यंच, तिर्यक् पुरुष, संज्ञी तिर्यंच, तेजो लेश्या वाले संज्ञी तिर्यंच तथा पद्म लेश्या वाले संज्ञी तिर्यंच जीव क्रम से उत्तरोत्तर संख्यात गुणे संख्यात गुणेहीन हैं।

भावार्थ – 256 प्रमाणांगुल x 256 प्रमाणांगुल का अथवा 65536 प्रमाणांगुल का भाग जगत्प्रतर में देने से जो लब्ध आवे उतना ही ज्योतिषी जीवों का प्रमाण है। इसमें क्रम से संख्यात गुणा संख्यात गुणा कम करने से आगे की राशि का प्रमाण निकलता है। अर्थात् ज्योतिषियों के प्रमाण से उत्तरोत्तर व्यन्तर तिर्यंचयोनिनि तिर्यक् पुरुष आदि का प्रमाण कम संख्यातवें भागमात्र है।

गाथा 278 का अर्थ – देवगति में एक देव की कम से कम बत्तीस देवियाँ होती हैं। इसलिए देव और देवियों के जोड़ रूप तेंतीस का समस्त देवराशि में भाग देने से जो लब्ध आवे उसका अपने–अपने गुणाकार के साथ गुणा करने से देव और देवियों का प्रमाण निकलता है।

भावार्थ – समस्त देवराशि में तेंतीस का भाग देने से जो लब्ध आवे उसका एक के साथ गुणा करने से देवों का और बत्तीस के साथ गुणा करने से देवियों का प्रमाण निकलता है। अर्थात् सम्पूर्ण देवराशि के 33 भागों में से एक भाग प्रमाण पुरुषवेदी और 32 भाग प्रमाण स्त्रीवेद जीव है। यद्यपि इन्द्रादिकों की देवियों का प्रमाण अधिक है तथापि प्रकीर्णक देवों की अपेक्षा इन्द्रादिकों का प्रमाण अत्यल्प है। अत: उनकी यहाँ पर विवक्षा नहीं की है।

गाथा 279 का अर्थ – देवों से कुछ अधिक, मनुष्य और तिर्यंच गति सहित पुरुषवेद वालों का प्रमाण है और देवियों से कुछ अधिक मनुष्य तथा तिर्यंच गति सहित स्त्रीवेद वालों का प्रमाण है। सवेद राशि में से पुरूषवेद तथा स्त्रीवेद का प्रमाण घटाने से जो शेष रहे वह नपुंसक वेदियों का प्रमाण है।

गाथा 280 का अर्थ – 1-2-3 गर्भज संज्ञी नपुंसक पुल्लिंगी तथा स्त्रीलिंगी, 4-5 सम्मूर्च्छन संज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त, 6 भोगभूमिया, 7-8-9 असंज्ञी गर्भज नपुंसक, पुल्लिंगी तथा स्त्रीलिंगी तथा 10 व्यन्तर और 11 ज्योतिषी – इन ग्यारह स्थानों को क्रम से स्थापना करना चाहिए। जिसमें पहला स्थान सबसे स्तोक है। और उससे आगे के तीन स्थान संख्यातगुणे हैं। पाँचवां स्थान आवली के असंख्यातवें भाग गुणा है, छठा स्थान पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा है। इससे आगे के पाँचों ही स्थान क्रम से संख्यातगुणे संख्यातगुणे हैं।

भावार्थ – चौथे और पाँचवें स्थान वाले जीव नपुसंक ही होते हैं। छठे स्थान वाले पुल्लिंग और स्त्रीलिंग ही होते हैं। 65536 से गुणित प्रतरांगुल का आठ बार संख्यातका, एक बार आवली के असंख्यातवें भाग का, एक बार पल्य के असंख्यातवें भाग का जगत् प्रतर में भाग देने से जो लब्ध आवे उतना ही पहले स्थान का प्रमाण है। इससे आगे के तीन स्थान क्रम से संख्यातगुणे संख्यातगुणे हैं। पाँचवां स्थान आवली के असंख्यातवें भाग गुणा, छठा स्थान पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा सातवाँ, आठवाँ, नौवाँ, दशवाँ, ग्यारहवाँ स्थान क्रम से संख्यातगुणा संख्यातगुणा है।

*****

अखिल भारतीय जैन विद्वत शास्त्री परिषद् संस्थान राज.

प्ररूपणाओं का अन्तर्भाव

–पं. कोमल प्रसाद जैन
कोटा (राज.)

आज दिनांक 5/10/19 को प्रारम्भ होने वाली अखिल भारतीय विद्वत शास्त्री परिषद् राज. के तत्त्वावधान में होने वाली संगोष्ठी आचार्य श्री उच्चारणाचार्य श्री विनम्रसागर जी संघ के सान्निध्य में श्री गोम्मटसार जीवकाण्ड पर अलवर राजस्थान में होने जा रही है।

सबसे पहिले मैं यह बताना चाहूँगा कि इस परिषद् की स्थापना उच्चारणाचार्य श्री विनम्रसागर जी के सान्निध्य में बाँसवाड़ा चातुर्मास के समय हुई थी। आज इस परिषद् के सान्निध्य में 29वीं संगोष्ठी प्रारम्भ होगी। आज इसकी सदस्य संख्या 370 हो चुकी है। जो कि ब्र. भाई प्रदीप जी पीयूष साहित्याचार्य के प्रयासों की सफलता का परिणाम है। इस परिषद् के माध्यम से भारत वर्ष के सभी सिद्ध क्षेत्रों अतिशय क्षेत्रों की यात्रा कई बार करा चुके हैं। अब मैं अपने मूल विषय जीवकाण्ड पर होने वाली संगोष्ठी में मेरा विषय है प्ररूपणाओं का अन्तर्भाव से प्रारम्भ करने जा रहा हूँ।

इससे संबंधित पहली गाथा –

सिद्धं सुद्धं पणमिय, जिणिंद, वर नेमीचन्द मकलंकं।
गुणरयण भूषणुदयं जीवस्स परूवणं वोच्छं।।

जो सिद्ध, शुद्ध एवं अकलंक है एवं जिनके सदा गुण रूपी रत्नों के भूषणों का उदय रहता है, ऐसे श्री जिनेन्द्रवर नेमीचन्द्र स्वामी को नमस्कार करके जीव प्ररूपणा को कहूँगा।

विशेषण –

आचार्य महाराज ने स्वयं के नाम का उल्लेख कर बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान को नेमीचन्द्र कहकर सम्बोधित किया है।

प्राकृत गाथा का अर्थ – प्राकृत गाथा की संस्कृत टीका में 24 तीर्थंकर, श्री वर्धमान भगवान, सिद्ध परमेष्ठी, आत्मा, सिद्ध समूह, पंच परमेष्ठी, नेमिनाथ भगवान, जीवकाण्ड ग्रंथ और श्री नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती इन सभी को नमस्कार किया गया है।

नेमिनाथ भगवान को चार गुणों से सहित दर्शाया है –

(1) सिद्ध – सिद्ध स्वरूप को प्राप्त यानी मोक्ष में रहने वाले।

(2) शुद्ध – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों से रहित है।

(3) अकलंक – भाव कर्मों को नष्ट कर दिया है।

(4) गुण रत्न भूषण – क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन और क्षायिक वीर्य। इन चार गुणों के भूषण स्वरूप हैं।

पणमिय – प्र उपसर्ग पूर्वक नम धातु से क्त्वा प्रत्यय कर तथा क्त्वा के स्थान पर ल्यप् प्रत्यय आदेश कर प्रणम्य शब्द बनता है। प्राकृत में पणमिय कहकर दर्शाया है। जीव की प्ररूपणा कहने का संकलन किया है।

प्ररूपणा यानी जीव को खोजने का स्थान। जीव कहाँ-कहाँ मिलेगा। जीव दो स्थानों पर मिलेगा। शुद्ध अवस्था में सिद्धालय में पाया जायेगा और अशुद्ध अवस्था में संसार में पाया जायेगा। संसार चार गति रूप है नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति।

नरक गति में जीवों के चार गुणस्थान होते हैं। अपर्याप्त अवस्था में दो गुणस्थान होते हैं। दूसरा व तीसरा गुणस्थान नहीं होता है।

नरक गति में पुरुष वेद और स्त्री वेद नहीं है। तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाला जीव तीसरे नरक तक जा सकता है।

प्रथम नरक में सम्यक् दर्शन के साथ जाता है। दूसरे और तीसरे नरक में मिथ्यादर्शन के साथ जाता है। दूसरे और तीसरे नरक में जाने के पूर्व तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाले जीव का सम्यक् दर्शन छूट जाता है। नरक में जाने के बाद पुन: सम्यक् दर्शन को प्राप्त कर लेता है, नरक में रहने वाले तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करने वाले जीव के जब नरकायु का छ: मास का समय शेष रहता है, तब उनके ऊपर नारकी कृत उपसर्ग नहीं होता है।

प्रथम, द्वितीय, तृतीय नरक से आने वाले जीव तीर्थंकर हो सकते हैं।

चतुर्थ नरक से आने वाले जीव तीर्थंकर नहीं हो सकते परन्तु मोक्ष जा सकते हैं।

पाँचवें नरक से आने वाला जीव मुनिपद को धारण कर संयमी हो सकता है, परन्तु उन्हें मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

नरक गति की चर्चा तत्त्वार्थ सूत्र के तीसरे अध्याय में विस्तार से की गई है। समय अभाव के कारण यहाँ वर्णन संभव नहीं है।

तिर्यंच गति में पाँच गुणस्थान होते हैं। तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाला जीव तिर्यंच गति में नहीं जा सकता है।

मनुष्य गति में चौदह गुणस्थान होते हैं।

(2) गुण जीवा पज्जति, पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवयोगो विय कमसो, वीसं तु परूवणा भणिदा।।2।।

(3) संखेओ ओघोत्तिय, गुण सण्णा सा च मोह जोग भवा।
वित्थारा देसोत्तिय, मग्गण सण्णा स कम्म भवा ।।3।।

गुणस्थान, जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा, और उपयोग इस प्रकार से बीस प्ररूपणा पूर्वाचार्यों ने कहीं हैं।

मोह और योग से होने वाली आत्मा की अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं।

जिन सदृश धर्मों के द्वारा अनेक जीवों का संग्रह किया जा सके उन सदृश धर्मों का नाम **जीव समास** है।

गृहीत आहार वर्गणाओं को खल, रस, भाग आदि के रूप में परिणत करने की शक्ति विशेष को **पर्याप्ति** कहते हैं।

जिनका संयोग रहने पर यह जीव 'जीता' है और वियोग रहने पर 'यह मर गया' इस तरह का व्यवहार जीव में हो उनको **प्राण** कहते हैं।

आहारादि की वांछा (इच्छा) को **संज्ञा** कहते हैं।

जिनके द्वारा अनेक अवस्थाओं में स्थित जीवों का ज्ञान हो उन्हें **मार्गणा** कहते हैं।

बाह्य और अभ्यंतर कारणों के द्वारा होने वाले आत्मा के चेतना गुण को सामान्य निराकार अथवा विशेष साकार परिणति विशेष को **उपयोग** कहते हैं।

इस गाथा में बीस प्ररूपणा कही है। ये वे ही हैं जिनके कि आशय को गर्भित करके श्री पुष्पदन्ताचार्य महाराज ने षट्खंडागम की रचना को प्रारम्भ किया था और जिन पालित को पहले दीक्षा देकर फिर अपने रचित 'संत परूवण' को पढ़ाकर अपने सहोदर मुनि पुंगव भगवान भूतबलि के पास भेजा था।

(3) **संक्षेप** रुचि वाले शिष्यों की अपेक्षा से उक्त बीस प्ररूपणाओं का अर्न्तभाव गुणस्थान और मार्गणा इन दो प्ररूपणाओं में ही हो सकता है। अतएव संग्रहनय से दो ही प्ररूपणा है। इस बात को ध्यान में रखकर दोनों ही प्ररूपणाओं की उत्पत्ति का निमित्त तथा उनके पर्यायवाचक शब्दों को दूसरी गाथा में दर्शाया है।

संक्षेप और ओघ यह गुणस्थान की संज्ञा है। यह मोह और योग के निमित्त से होती है। इसी तरह विस्तार और आदेश यह मार्गणा की संज्ञा है और यह भी अपने-अपने योग्य कर्मों के उदयादि से उत्पन्न होती है तथा चकार से गुणस्थान की सामान्य एवं मार्गणा की विशेष संज्ञा भी होती है।

(4) आदेसे संलीणा, जीवा पज्जति पाण सण्णाओ।
उवजोगो विय भेदे, वीसं तु परुवणा भणिदा ।।4।।

जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा और उपयोग इन सब भेदों का मार्गणाओं में ही भले से अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए अभेद विवक्षा से गुणस्थान और मार्गणा ये दो प्ररूपणा ही माननी चाहिए। किन्तु बीस प्ररूपणा जो कही है वे भेद विवक्षा से है।

(5) इन्द्रिय काये लीणा, जीवा पज्जति आण भास मणो।
जोगे काओ णाणे, अक्खा गदि मग्गणे आऊ ।।5।।

इन्द्रिय तथा काय मार्गणा में जीव समास एवं पर्याप्ति का तथा श्वासोच्छ्वास प्राण, वचन बल प्राण तथा मनोबल प्राणों का पर्याप्ति में अन्तर्भाव हो जाता है। तथा योग मार्गणा में काय बल प्राण का तथा ज्ञान मार्गणा में इन्द्रिय प्राणों का एवं गति मार्गणा में आयु प्राण का अन्तर्भाव हो जाता है।

(6) माया लोहे रदिपुव्वाहारं, कोहमाणगम्हि भयं ।
वेदे मेहुण सण्णा, लोहम्हि परिग्गहे सण्णा।।6।

माया और लोभ कषाय में रतिपूर्वक आहार संज्ञा का तथा क्रोध तथा मान कषाय में भय संज्ञा का अन्तर्भाव हो जाता है। तथा वेद कषाय में मैथुन संज्ञा का तथा लोभ कषाय में परिग्रह संज्ञा का अन्तर्भाव हो सकता है। क्योंकि लोभ कषाय तथा वेद कषाय कारण है तथा मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा उनके क्रम से कार्य हैं।

(7) सागारो उवजोगो, णाणे मग्गम्हि दंसणे मग्गे ।
अणगारो उवजोगो, लोगो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।।7।

साकार और अनाकार उपयोग दो प्रकार का है। साकार उपयोग का ज्ञान मार्गणा में तथा अनाकार उपयोग का दर्शन मार्गणा में अन्तर्भाव हो सकता है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने निर्दिष्ट किया है।

इत्यलम्आचार्य श्री विरागसागर जी महाराज की जय।

गुणस्थान

जीव के परिणामों का आरोहण तथा अवरोहण गुणस्थान कहलाता है। पूज्य आचार्य श्री नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गुणस्थान की परिभाषा करते हुए कहा है –

जेहिं दु लखिज्जंते उदयादिसु सम्भवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा, णिदिद्ट्ठा सव्व दरसीहिं।।8।।

अर्थात् – दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित किये जाते हैं उन्हें सर्व दर्शियों ने 'गुणस्थान' से निर्देश किया है।

सामान्यत: मोह और योग के निमित्त से परिणामों की तारतम्यता को गुणस्थान कहते हैं।

गुणस्थान चौदह होते हैं –

गुणस्थानों का विभाजन मोह और योग की मुख्यता से, अविरत व विरत की अपेक्षा से, अज्ञानी व ज्ञानी की अपेक्षा से छद्मस्थ और सर्वज्ञ की अपेक्षा से, योग और अयोग की अपेक्षा से प्रमत्त व अप्रमत्त अपेक्षा से, राग और वीतराग अपेक्षा से, बहिरात्मा व अन्तरात्मा की अपेक्षा से किया गया है।

1. मिथ्यात्व गुणस्थान

मिथ्यात्व कर्म के उदय से तत्वों के विपरीत श्रद्धान को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं।

मिथ्यात्व पाँच भेद रूप होता है। 1. विपरीत 2. एकान्त 3. विनय 4. संशय 5. अज्ञान।

जीव को अजीव मानना व अजीव को जीव मानना, आश्रव को श्रेष्ठ मानना, शुभ बंध से मुक्ति मानना, संवर निर्जरा को कष्टदायी मानना, मोक्ष सुख को सुख न मानना।

उक्त गुणस्थान का सम्बन्ध जीव के साथ अनादिकाल से है। पंचेन्द्रियों में रत, रागी देवी देवताओं की पूजन पाठ में लगा, पाँचों पापों में रत जीव सदा से मिथ्यात्व का पोषण करता रहा है।

इस गुणस्थान में बन्ध योग्य प्रकृति 117, अबन्ध-3, 16 की व्युच्छिति

2. सासादन गुणस्थान

स + आसादन = सासादन, जिस जीव ने सम्यक्त्व की विराधना कर दी है उसे यह गुणस्थान होता है।

पर्वत से गिरने पर भूमि पर गिरने से पहले का काल सासादन काल कहलाता है।

उक्त गुणस्थान में 101 प्रकृतियों का बंध, 145 की सत्ता, 111 का उदय यह गुणस्थान चारों गतियों में, पंचेन्द्रिय को, त्रस काय में, तीनों वेदों में, 25 कषाय सहित, तीन कुज्ञान सहित, असंयत, 6 लेश्या, भव्य को, संज्ञी को, आहारक व अनाहारक को, 6 पर्याप्ति सहित, 10 प्राण सहित व अपर्याप्तक 7 प्राण सहित होता है। इसमें जीवों की संख्या पल्य के असंख्यातवें भाग, मनुष्यों की अपेक्षा 52 करोड़ होती है।

3. मिश्र गुणस्थान

जिस प्रकार दही व गुड़ मिला देने से खट्टा-मीठा स्वाद आता है उसी प्रकार सम्यक् मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव के सम्यक व मिथ्यात्व रूप मिश्र परिणाम होते हैं।

सम्यक्त्व प्राप्ति के समय मिथ्यात्व कर्म के तीन टुकड़े हो जाते हैं। (1) मिथ्यात्व, (2) सम्यक् मिथ्यात्व (3) सम्यक्त्व प्रकृति

सम्यक्‌मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से मिश्र गुणस्थान बनता है। इस प्रकृति को 'जात्यान्तर प्रकृति' भी कहा गया है। अर्थात् सम्यक् दर्शन के एक देश का अभाव व एकदेश का सद्भाव।

उक्त गुण. में 74 प्रकृति का बंध, 111 का उदय, 147 की सत्ता।

यह गुणस्थान चारों गतियों में, पंचेन्द्रियों व त्रसकाय में, 3 वेद सहित, 21 कषाय सहित, 3 मिश्रज्ञान, 6 लेश्या सहित, भव्यों को, सैनी को, आहारक को, 6 पर्याप्ति सहित होता है।

विशेष – इसमें मरण नहीं होता। आयु बन्ध व मारणांतिक समुद्घात भी नहीं होता।

4. अविरत गुणस्थान

इस गुणस्थान का नाम अविरत है। इसमें जीव को 6 तत्त्व व 7 पदार्थों पर श्रद्धान होता है। 25 मलों को टालकर वह 8 अंगों का पालन करता है।

णो इन्द्रिये सु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहति जिणुत्तं, सम्माइट्ठी अविरदो सो।।29।।

अर्थात् जो इन्द्रियों से विरत नहीं है परन्तु जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए वचनों पर श्रद्धान् करता है, वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

सत्ता 148, क्षायिक के सत्ता-141 प्रकृतियों की, 43 अबंध, 77 का बंध, 10 की व्युच्छित्ति।

यह चारों गतियों में, छहों पर्याप्ति छः अपर्या. सामान्य से पल्य के असंख्यातवें भाग सहित, 4 संज्ञा, 10 प्राण 7 प्राण।

मनुष्यों की अपेक्षा इसमें जीवों की संख्या-700 करोड़ है।

नोटः- ✻ यह गुणस्थान मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी माना जाता है।

✻ इस गुणस्थान की प्राप्ति होने पर भव भ्रमण पर अंकुश लग जाता है।

✻ अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल रह जाता है।

5 देशसंयत गुणस्थान

अप्रत्याख्यान कषाय के अनुदय से उक्त गुणस्थान बनता है।

इसके नाम देश विरत, विरताविरत विरत, संयमासंयम, देशसंयम है।

यह गुणस्थान केवल मनुष्य व तिर्यंचों को ही होता है।

11 प्रतिमाओं का समावेश इस गुणस्थान में होता है।

इसमें संयम का अंश प्रकट हो जाता है।

यह जीव त्रस हिंसा का त्यागी होता है। परन्तु स्थावर हिंसा का त्याग नहीं कर पाता।

इसमें 5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत व 4 शिक्षा व्रतों का पालन होता है।

इस गुण. में 53 प्र. का अबन्ध, 67 का बन्ध, 4 की व्युच्छिति।

इसमें 3 वेद, 17 कषाय, 3 सुज्ञान, 3 शुभलेश्या, 3 सम्यक्त्व होते हैं।

6 प्रमत्तसंयत गुणस्थान

यह गुणस्थान प्रत्याख्यान कषायों के अनुदय से बनता है। इसका नाम प्रमत्त गुणस्थान है।

सातवें गुणस्थान से गिरकर यह गुणस्थान होता है।

28 मूल गुणधारी मुनिगण को यह गुणस्थान होता है।

तीनों सम्यक्त्वों में से कोई भी सम्यक्त्व मुनिराजों को हो सकता है।

इस गुणस्थान में 146 प्रकृतियों की सत्ता, 57 का अबन्ध, 63 का बन्ध, 6 की व्युच्छित्ति होती हैं।

7 अप्रमत्त संयत गुणस्थान

इस गुणस्थान में प्रमाद नहीं पाया जाता इसीलिए इसका नाम अप्रमत्त गुणस्थान है।

इसके दो भेद हैं – 1. स्वस्थान अप्रमत्त 2. सातिशय अप्रमत्त।

संज्वलन कषाय के मंद उदय से स्वस्थान अप्रमत्त मुनिराजों को 3 सम्यक्त्व में से कोई एक सम्यक्त्व रह सकता है। परन्तु सातिशय अप्रमत्त मुनिराजों को द्वितीयोपशम और क्षायिक सम्यक्त्व में से कोई भी एक सम्यक्त्व रह सकता है।

उक्त गुणस्थान में 59 का बंध, 61 अबन्ध, 1 की व्युच्छिति

इसके चारों ध्यान, 6 पर्याप्ति, 3 संज्ञा होती है।

8 अपूर्वकरण गुणस्थान

अध:प्रवृत्तकरण को व्यतीत कर जीव सातिशय अप्रमत्त में पहुँचकर विशुद्धिपूर्वक अपूर्वकरण में पहुँचता है।

21 प्रकृतियों के क्षय या उपशम से यह गुणस्थान होता है।

उपशम श्रेणी – जिसमें चारित्र मोहनीय कर्म की 21 प्रकृतियों का उपशम किया जाता है, वह उपशम श्रेणी कहलाती है। जिसके अन्तर्गत 8,9,10 व 11 गुणस्थान होते हैं।

क्षपक श्रेणी – जिसमें 21 प्रकृतियों का क्षय किया जाता है। जिसमें 8,9,10,12 गुणस्थान आते हैं। इन गुणस्थान में जीव के प्रत्येक समय के परिणाम पूर्व समय की अपेक्षा अपूर्व-अपूर्व होते हैं।

विशेष – इस गुणस्थान में स्थिति कांडक घात, अनुभाग कांडक घात, गुण श्रेणी निर्जरा व गुण संक्रमण होते हैं।

9 अनिवृत्तिकरण गुणस्थान

इस गुणस्थान में उपशमक या क्षपक के 1 समय में स्थित समस्त जीवों के परिणाम एक समान होते हैं।

निर्मल ध्यान अग्नि के द्वारा यहाँ प्रत्येक वृद्धिगत वीतराग परिणाम होते हैं।

मोहनीय कर्म की 21 प्रकृतियों का यहाँ उपशम या क्षपण होता है।

यहाँ 22 का बन्ध, 98 अबन्ध, 5 की व्युच्छिति

10 सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान

इस गुणस्थान में मात्र सूक्ष्म लोभ कषाय का उदय ही शेष रहता है।

साम्पराय का अर्थ कषाय का सूक्ष्म हो जाना है।

आ. नेमीचन्द्र जी ने गोम्मटसार (जीवकांड) गा. 60 में कहा है – धुले हुए कौसुंभी वस्त्र की सूक्ष्म लालिमा के समान सूक्ष्म लोभ का वेदन करने वाले उपशामक या क्षायक जीवों के यथाख्यात चारित्र से किंचित न्यून वीतराग परिणामों को सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान कहते हैं।

बन्ध 17, अबन्ध 103, 16 की व्युच्छिति।

विशेष – बन्ध होने का यह अंतिम गुणस्थान है।

इसमें मरण कर जीव कल्पवासी देव ही होते हैं।

11 उपशान्त मोह गुणस्थान

उक्त गुणस्थान में चारित्र मोहनीय कर्म का पूर्ण उपशम हो जाता है। इसलिए साधक वीतराग नाम से सुसज्जित हो जाता है। इसका काल अंतर्मुहूर्त है। अत: समय व्यतीत होने पर मोहनीय कर्म की प्रकृति का उदय होने लगता है और गुणस्थान क्रमश: गिरने लगते हैं। जीव गिरते हुए 6–7 गुणस्थान में भी रुक सकते हैं।

क्षायिक सम्यक्त्व है तो चौथे गुणस्थान तक आ सकते हैं। यदि उपशम सम्यग्दृष्टि है तो प्रथम गुणस्थान तक भी आ सकता है।

जीव उपशम श्रेणी एकभव में 2 बार ही चढ़ सकता है।

यहाँ 1 प्रकृति का बन्ध, 119 अबन्ध, 59 का उदय, 139 की सत्ता शुक्ल लेश्या, संज्ञातीत होते हैं।

12 क्षीण मोह गुणस्थान

जीव की मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के सर्वथा क्षीण हो जाने पर यह गुणस्थान होता है। क्षीण कषाय स्फटिक के पात्र में रखे स्वच्छ जल के समान होती है।

यह क्षपक श्रेणी का अंतिम गुणस्थान है। चारित्र मोहनीय, सर्वज्ञ, अरहन्त बनने के लिए तैयार रहते हैं।

यहाँ पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति हो जाती है।

इसमें 2 शुक्ल ध्यान होते हैं।

यहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अंतराय कर्म का क्षय हो जाता है।

यहाँ बंध – 1 प्रकृति का, 119 अबन्ध

13 गुणस्थान

चार घातिया कर्म नष्ट होने पर यह गुणस्थान होता है।

यहाँ केवली बनकर भगवान हितोपदेश करते हैं।

योग होने से इस गुणस्थान को सयोगी गुणस्थान कहा जाता है।

इस गुण. को सकल परमात्मा, सर्वज्ञ, सच्चे देव, आप्त आदि नामों से पुकारा जाता है।

यह गुण. 18 दोषों से रहित होता है तथा 46 गुणों से सुशोभित होता है।

पूज्य आ. नेमीचन्द्र जी ने जीवकांड में गा. 63-64 में कहा है – जिसका केवलज्ञान रूपी सूर्य की अविभाग प्रतिच्छेद रूप किरणों के समूह से अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है और जिनका 9 लब्धियों के प्रकट होने से परमात्मा संज्ञा प्राप्त हो गयी है।

यहाँ – 1 प्रकृति का बंध, 119 का अबन्ध व 1 की व्युच्छित्ति होती हैं।

सयोग केवली 7 प्रकार के हो सकते हैं –

5 कल्याणक वाले, तीन कल्याणक वाले, 2 कल्याणक वाले, मूक केवली, अन्तः कृत केवली, उपसर्ग केवली, सामान्यकेवली, समुद्घातकेवली व अनुबद्ध केवली।

14 गुणस्थान

योग के अभाव हो जाने से यह गुणस्थान बनता है। इस गुणस्थान का काल मात्र ह्रस्व 5 अक्षर (अ, इ, उ, ऋ, लृ) उच्चारण प्रमाण है। इस काल पश्चात् जीव सिद्ध शिला में प्रवेश करता है।

आ. नेमीचन्द्र देव ने गोम्मटसार जीवकांड में गा. 65 में कहा है।

सम्पूर्ण शील के ऐश्वर्य से सम्पन्न, सर्व आश्रव निरोधक, कर्मबन्ध रहित, जीव की योग रहित वीतराग सर्वज्ञ अवस्था 'अयोगी केवली' गुणस्थान है।

मुनिराज के 84 लाख उत्तर गुणों की तथा 18 हजार शील के भेदों की पूर्णता अयोग केवली गुण. में होती है।

इस गुणस्थान में जीवों की संख्या 598 है।

अंतिम शुक्ल ध्यान, संज्ञातीत, मात्र आयु प्राण व 6 पर्याप्तियाँ सहित होता है।

*****

कृति	– सिद्धांत दिग्दर्शिका (आलेखों का संग्रह)
आधार	– गोम्मटसार कर्मकाण्ड (आचार्य श्री नेमिचन्द्र)
आशीर्वाद	– परम पूज्य गणाचार्य श्री 108 विरागसागर जी मुनिराज
पावन सान्निध्य	– परम पूज्य उच्चारणाचार्य श्री 108 विनम्रसागर जी मुनिराज
संकलन एवं सम्पादन	– मुनि विज्ञसागर जी महाराज, आर्यिका विमलश्री माताजी
गोष्ठी निर्देशक	– मुनि विज्ञसागर जी, आर्यिका विमलश्री माताजी

आयोजक एवं निवेदक
सकल दिगम्बर जैन समाज, भिण्ड (म.प्र.)
2018 चातुर्मास के अवसर पर
अखिल भारतीय विद्वत शास्त्री परिषद के तत्त्वावधान में
लगभग 65 विद्वानों की उपस्थिति

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	शीर्षक	नाम	पृष्ठ सं.
1.	संक्रमण	मुनि विज्ञसागर जी	1
2.	अनुभाग बंध	मुनि विनतसागर जी	11
3.	चारो प्रकार का बंध	मुनि विनंदसागर जी	19
4.	दशकर का महत्त्व (कर्मों की दश अवस्थाऐं)	श्रमणी आर्यिका विमलश्री	28
5.	नाम कर्म के बंध स्थान	श्रमणी आर्यिका विनेहश्री	35
6.	मोहनीय कर्म के सत्त्व स्थान	श्रमणी आर्यिका विपुलश्री	42
7.	कर्मों का उदय, अनुदय व उदय व्युच्छित्ति	श्रमणी आर्यिका विश्रेयश्री	52
8.	मोहनीय कर्म के बंध स्थान	श्रमणी आर्यिका विमुदश्री	57
9.	कर्मों के भेद-प्रभेद	क्षु. विश्वकुन्द सागर जी	67
10.	अन्तराय कर्म का लक्षण	पं. शीतलचन्द जैन, ललितपुर	69
11.	गोम्मटसार में कर्म प्रकृति	डॉ. सुशील जैन, मैनपुरी	76
12.	मोहनीय कर्म के भेद एवं बंध के कारण	पं. खेमचन्द जैन, जबलपुर	82
13.	गुणस्थान		89

संक्रमण

– श्रमण मुनि विज्ञसागर

संघस्थ–प.पू. उच्चारणाचार्य 108 श्री विनम्रसागर जी महामुनिराज

संक्रमण के कई अर्थ हैं जब एक वस्तु को दूसरी वस्तु से मिलाया जाता है उसे संकर दोष कहते हैं। जब एक वस्तु दूसरे रूप हो जाती है उसे संक्रमण कहते हैं। जब कोई संक्रामक रोग फैलता है तो उसे भी संक्रमण कहते हैं। यहाँ कर्म प्रकृतियों का प्रकरण है उसी की अपेक्षा यहाँ संक्रमण का कथन है। पूर्व में कहा है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु रूप हो जाती है उसे संक्रमण कहते हैं जैसे दूध का दही रूप हो जाना इसी प्रकार एक प्रकृति का दूसरी अपनी समान जाति प्रकृति रूप परिणमित होना जैसे ऊपर उदाहरण दिया है दूध का दही रूप होना किन्तु दूध का अन्य तैलादि रूप नहीं होना समान जाति में ही होना क्योंकि दही भी उसी जाति का है इसी प्रकार एक प्रकृति अपनी अन्य समान जाति प्रकृति में परिणमन होना प्रकृति संक्रमण कहलाता है। हर प्रकृति अपनी समान जाति वाली प्रकृति में ही संक्रमित होती है असमान जाति में नहीं, जैसे दर्शनावरणी कभी ज्ञानावरणी रूप परिणमन नहीं करती ज्ञानावरणी ज्ञानावरणी ही अपने उत्तर भेदों में संक्रमण करती हैं।

मोहनीय कभी अन्य प्रकृति रूप से परिणमन नहीं करती मोहनीय, मोहनीय के उत्तर भेदों में परिणमन करती है उसमें भी चारित्र मोहनीय कभी दर्शन मोहनीय रूप नहीं होती दर्शन मोहनीय कभी चारित्र मोहनीय रूप से संक्रमित नहीं होती। मिथ्यात्व बन्ध प्रकृति है शेष सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति इनका बंध नहीं होता ये मिथ्यात्व प्रकृति का जब खण्डन होता है अर्थात् टूटती हैं तो सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व बन जाती है। शंका कैसे बनती है? समाधान–मिथ्यात्व अनंत शक्ति को लिए हुए सर्वघाति प्रकृति है जब उसका अनुभाग अनंत गुणाहीन हो जाता है तो द्विस्वभाव (देशघाती सर्वघाती) वाली सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति रूप हो जाती है और उससे भी अनंत गुणाहीन अनुभाग हो जाता है तो देशघाती रूप सम्यक्त्व प्रकृति रूप संक्रमित हो जाता है। जब वही सम्यक्त्व प्रकृति का अनुभाग अनंतगुणा बढ़ जाता है तो वही मिथ्यात्व रूप से परिणम जाता है इसी का नाम संक्रमण है।

शंका–यह परिणमन किसके बल से होता है?

उत्तर– यह परिणमन परिणामों के बल से होता हैं कभी विशुद्ध परिणामों से कभी संक्लेश परिणामों से संक्रमण होता है। किन्तु स्थिबुक संक्रमण उदय के समय जैसा परिणाम है प्रतिपक्षी प्रकृति को उसी रूप परिणमा कर उदय में देता है शेष संक्रमण ऊपर वाली स्थितियों में होते हैं। इस प्रकार दस करणों में संक्रमण भी एक करण है ओर यह आयु कर्म को छोड़कर शेष सातों कर्मों में होता है।

दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों में संक्रमण व्यवस्था

सर्वप्रथम संक्रमण का स्वरूप–संसारी जीवों को अपने जिन परिणामों से शुभ अशुभ कर्म संक्रमण करें अर्थात् पर प्रकृति रूप होते हैं उसे संक्रमण कहते हैं। संक्रमण के चार भेद होते हैं।

(1) प्रकृति संक्रमण (2) स्थिति संक्रमण (3) अनुभाग संक्रमण (4) प्रदेश संक्रमण प्रकृति।

प्रकृति संक्रमण भी पाँच प्रकार का है गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कहा भी है-

उव्वेलण विज्झादो अधापवत्तो गुणोम सव्वोय।
संकमदिजेहिं कम्मं परिणाम वसेण जीवाणं।।

गो.सा.क.का.गा. 409, ध.पु.16 पृ. 408, ज.ध.9 पृ. 172

(1) उद्वेलना संक्रमण (2) विद्‌यात संक्रमण (3) अध:प्रवृत्त संक्रमण (4) गुण संक्रमण (5) सर्व संक्रमण।

प्रकृति संक्रमण – एक प्रकृति का दूसरी अपनी ही सजाति प्रकृति में बदलना जैसे साता वेदनीय का असाता रूप होना। यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिए कि मूल प्रकृतियां आपस में संक्रमण नहीं करती उत्तर प्रकृतियाँ भी अपनी ही सजाति प्रकृति में संक्रमण करती हैं जैसे-मिथ्यात्व प्रकृति अपनी सजाति सम्यक्त्व अथवा सम्यग्मिथ्यात्व में ही संक्रमण करती है कषायादि रूप नहीं करती।

स्थिति संक्रमण – कर्मों की अपनी स्थिति नीचे अथवा ऊपर की स्थिति रूप परिणमना अर्थात् कम स्थिति वाला कर्म अधिक स्थिति वाले कर्म के साथ संक्रमण करना आदि स्थिति संक्रमण कहलाता है।

अनुभाग– कम शक्ति वाला कर्म अधिक वाले कर्म में संक्रमण करना अधिक शक्ति वाला कर्म कम शक्ति वाले कर्म में संक्रमण कराना।

प्रदेश संक्रमण – एक कर्म के परमाणु अन्य स्वजातीय कर्म परमाणु रूप से परिणमना प्रदेश संक्रमण है। किंतु यहाँ मात्र प्रकृति संक्रमण का प्रकरण है वह पाँच प्रकार का है उसका स्वरूप कहते हैं।

उद्वेलना संक्रमण – करण परिणामों के बिना रस्सी को उकेलने के समान कर्म प्रदेशों का पर प्रकृति रूप संक्रांत होना उद्वेलना संक्रमण कहलाता है इसका भागहार अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। इतनी विशेषता मालूम होती है कि जिसस्थान पर कर्म का बन्ध होता है उससे हीन स्थान पर यह संक्रमण पाया जाता है। जैसे आहारकद्विक की उद्वेलना असंयत के होती है जबकि बन्ध अप्रमत्त संयत के होता है इसी प्रकार अन्य कर्मों में लगा लेना चाहिए। (जय धवल पु.9 पृ. 170-171)

विध्यात संक्रमण – वेदक सम्यक्त्व काल के भीतर दर्शन मोहनीय की क्षपणा सम्बन्धी अध:प्रवृत्त करण के अंतिम समय तक सर्वत्र ही मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व का विध्यात संक्रमण होता है तथा उपशम सम्यग्दृष्टि के भी गुणसंक्रम काल के पश्चात् सर्वत्र विध्यात संक्रमण होता है। (इसका भागहार अङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। इतनी विशेषता है कि उद्वेलना भागहार से असंख्यात गुणहीन है।) यह संक्रमण मंद विशुद्धि परिणामों के द्वारा होता है तथा जिस गुणस्थान में बंध होता है उस गुणस्थान में नहीं होता। विध्यात संक्रमण होता है। (ज.ध.पु.9 पृ.171)

अध:प्रवृत्त संक्रमण – बन्ध प्रकृतियों का अपने बन्ध के सम्भव विषय में जो प्रदेश संक्रमण होता है उसे

अध: प्रवृत्त संक्रमण कहते है। उसका भागहार पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। चारित्र मोहनीय की 25 प्रकृतियों का अपने बन्ध के योग्य विषय में बध्यमान प्रकृति रूप से अध: प्रवृत्त संक्रमण होता है।

गुण संक्रमण – प्रत्येक समय में असंख्यात गुणित श्रेणि रूप से जो प्रदेश संक्रमण होता है उसे गुण संक्रमण कहते हैं। इसका भागहार भी पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण होकर भी अध: प्रवृत्त संक्रमण के भागहार से असंख्यातगुणाहीन है।

अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर दर्शन मोहनीय की क्षपणा में चारित्र मोहनीय की क्षपणा में उपशम श्रेणी में, अनन्तानुबंधी की विसंयोजना में, सम्यक्त्व की उत्पत्ति में तथा सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वेलना के अन्तिम काण्डक में गुण संक्रमण होता है। (ज.ध.पु. 9 पृ. 172)

सर्वसंक्रमण – सभी प्रदेशों का जो संक्रमण होता है उसे सर्व संक्रमण कहते हैं। कहाँ पर होता है– उद्वेलना, विसंयोजना और क्षपणा में अंतिम स्थिति काण्डक की अन्तिम फालि के संक्रमण के समय होता है। उसका भागहार एक अङ्ग प्रमाण है।

मिथ्यात्व प्रकृति के अन्य संक्रमण

मिथ्यात्व प्रकृति का अध:प्रवृत्त संक्रमण व उद्वेलना संक्रमण नियम से नहीं होते है।

शंका– अध:प्रवृत्त संक्रमण क्यों नहीं होता?

समाधान– कर्मकाण्ड गाथा नं. 411 के अनुसार सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व प्रकृति अपने-अपने असंयतादि गुणस्थानों में संक्रमण नहीं करती।

तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व प्रकृति का संक्रमण मिथ्यात्व गुणस्थान में नहीं होता, और मिथ्यात्व प्रकृति स्वोदयी अर्थात् मिथ्यात्व के उदय में ही उसका बन्ध होता है। मिथ्यात्व का उदय पहले गुणस्थान में ही होता है और जो बन्ध प्रकृति हैं उसकाअध:प्रवृत्त संक्रमण बंध होने पर ही होता है। अत: सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व प्रकृति का अध:प्रवृत्त संक्रमण नहीं पाया जाता इसी प्रकार उद्वेलना संक्रमण भी स्वभाव से ही नहीं पाया जाता।

गुण संक्रमण– उपशम सम्यग्दृष्टि के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त तक गुण संक्रमण होता है क्षपणा में भी अपूर्व करण के प्रथम समय से लेकर अन्तिम स्थिति काण्ड की द्वि चरम फालि तक गुण संक्रमण होता है।

शंका– यह संक्रमण कब, क्यों, कैसे किस प्रकृति में होता है?

समाधान– यह संक्रमण पूर्व में कहे गये अवसरों पर होता है जैसे दर्शन मोहनीय की उपशामना क्षपणा उद्वेलना के समय होता है। क्यों होता है? परिणामवशात् होता है। किस प्रकृति में द्रव्य देता है? तो इसका उत्तर है मात्र सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व प्रकृति में ही देता है अन्य प्रकृति में नहीं देता। कैसे होता है? उसे कहते हैं–

उपशम सम्यक्त्व होने के प्रथम समय में सम्यक्त्व प्रकृति में जितना द्रव्य देता है उससे असंख्यात गुणा द्रव्य सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति में देता है। दूसरे समय में सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति में प्रथम समय में दिये हुये द्रव्य से असंख्यात गुणा द्रव्य द्वितीय समय में सम्यक्त्व प्रकृति में देता है। सम्यक्त्व प्रकृति से उसी (द्वितीय) समय में असंख्यात गुणा द्रव्य सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति में देता है। इसी प्रकार द्वितीय समय में सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति में दिये गये द्रव्य से तृतीय समय में सम्यक्त्व प्रकृति में दिया जाने वाला द्रव्य असंख्यात गुणा होता है उससे इसी (तृतीय) समय में सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का द्रव्य असंख्यात गुणा होता है। इसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त पर्यंत इसी क्रम से गुण संक्रमण होता है। इसी प्रकार दर्शन मोहनीय की क्षपणा में जानना चाहिए कोई विशेष इतना नहीं है। विशेषता यह है कि क्षपणा काल में एक समय शेष रहने तक गुण संक्रमण और अन्तिम समय में सर्व संक्रमण होता है।

विध्यात संक्रमण– उपशम सम्यक्त्व के काल में कुछ समय शेष रह जाने पर मिथ्यात्व का विध्यात संक्रमण प्रारंभ होता हैं जो वेदक सम्यक्त्व में पहुँच कर अध:करण के अन्तिम समय तक चलता रहता है। यानि विशुद्धी में मंदता आने पर विध्यात संक्रमण प्रारंभ हो जाता है। और अध:करण के अन्तिम समय तक चलता रहता है उसके बाद अपूर्वकरण से गुण संक्रमण प्रारंभ हो जाता है। जिसका विवेचन ऊपर कर ही चुके है। इस प्रकार मिथ्यात्व प्रकृति के द्रव्य के तीन संक्रमण होते हैं।

गुण संक्रमण को एक बार पुन: अंक संदृष्टि से समझने का प्रयास करते हैं। मिथ्यात्व के द्रव्य में से सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय में 4 परमाणु सम्यक्त्व प्रकृति को प्राप्त हुए यद्यपि यहाँ मानक 4 माना है जबकि अनंत परमाणु होते हैं।

असंख्यात का मानक भी 4 मान लिया है इस प्रकार प्रथम समय में सम्यक्त्व प्रकृति को जो द्रव्य प्राप्त हुआ है उसी समय में सम्यग्मिथ्यात्व को असंख्यात गुणा यानि 4x4=16 परमाणु प्राप्त हुए आगे द्वितीय समय में जो परमाणु प्रथम समय में सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त हुए थे उससे असंख्यात गुणे यानि 16x4=64 परमाणु द्वितीय समय में सम्यक्त्व प्रकृति को द्रव्य मिलता है उसी समय में सम्यक्त्व प्रकृति से असंख्यात गुणा द्रव्य सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति को प्राप्त होता है यानि 64x4=256 परमाणु प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार तृतीय समय में जानना चाहिए और इसी प्रकार यह प्रक्रिया अन्तर्मुहूर्त तक चलती रहती है पश्चात् विध्यात संक्रमण प्रारंभ होता है।

शंका– गुण संक्रमण और विध्यात संक्रमण में क्या अन्तर होता है?

उत्तर– बहुत अन्तर है विध्यात संक्रमण मंद विशुद्धि के साथ अपने भागहार से भाजित द्रव्य का होता है और उसका भागहार अंगुल का असंख्यातवां भाग यानि अंगुल के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं उनका सम्पूर्ण मिथ्यात्व के द्रव्य में भाग देने पर जो संख्या आती है, उतना द्रव्य प्रत्येक समय में दिया जाता है जबकि गुण संक्रमण में विशेष (उत्कृष्ट) विशुद्धि के द्वारा होता है इसका भागहार पल्य का असंख्यातवां भाग यानि पल्य के असंख्यातवें भाग में जितने समय समूह है उनका भाग सम्पूर्ण मिथ्यात्व के द्रव्य में देने पर

जो परमाणुओं की संख्या प्राप्त होती है उतने द्रव्य का प्रथम समय में संक्रमण होता है द्वितीय समय में उससे असंख्यात गुणे द्रव्य का तृतीय समय में भी असंख्यात गुणे द्रव्य का इस प्रकार श्रेणी रूप से प्रत्येक समय असंख्यात गुणा द्रव्य संक्रमित होता है यही दोनों में अन्तर पाया जाता है।

प्रश्न– पल्य में काल के समयों की संख्या ज्यादा है अथवा सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग में आकाश प्रदेशों की संख्या ज्यादा है?

उत्तर– पल्य के असंख्यातवें भाग से असंख्यातासंख्यात गुणी संख्या अंगुल के असंख्यातवें भाग में है। अत: जितना बड़ा भागहार होगा उतना भजनफल कम आयेगा और यदि भाग हार कम (छोटा) होगा तो भजनफल अधिक आयेगा। इस नियम के अनुसार गुण संक्रमण का भागहार छोटा है अत: उसके प्रथम समय में भी विध्यात संक्रमण से असंख्यात गुणा द्रव्य संक्रमित किया जाता है। इस प्रकार दोनों में अन्तर है। इस प्रकार मिथ्यात्व प्रकृति के संक्रमण कहकर आगे सम्यग्मिथ्यात्व के संक्रमण कहते है।

सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति में पाँचों संक्रमण पाये जाते है। सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति में पाँचो ही संक्रमण पाये जाते हैं उनका कथन क्रमश: करेंगे।

विध्यात संक्रमण– उपशम सम्यक्त्व के द्वितीय समय से ही सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के द्रव्य में अंगुल के असंख्यातवें भाग से भाजित एक भाग प्रमाण द्रव्य विध्यात संक्रमण के द्वारा सम्यक्त्व प्रकृति में संक्रमित हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक समय में यही क्रम जानना चाहिए उपशम काल को बिताकर यदि वह जीव वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाता है तो यह क्रम चलता रहता है, जब तक कि वह दर्शन मोहनीय की क्षपणा करने के लिए तीन करण करता है, तब अध:करण के अन्तिम समय तक यही संक्रमण चलता रहता है। पश्चात् अपूर्वकरण में गुण संक्रमण प्रारंभ हो जाता है।

गुण संक्रमण– प्रत्येक समय में सम्यग्मिथ्यात्व का द्रव्य असंख्यात गुणा क्रम से सम्यक्त्व प्रकृति रूप से संक्रमित होता जाता है। यह दो स्थानों पर पाया जाता है। एक तो क्षपणा करने वाले देशव्रती,अव्रति, महाव्रती, जीव जब दर्शन मोहनीय की क्षपणा प्रारंभ करते हैं तो तीन करणों में प्रथम अध:करण के अन्तिम समय तक विध्यात संक्रमण पश्चात् अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर अन्तिम स्थिति काण्डक घात की द्विचरम फालि तक गुण संक्रमण होता है चरम फालि का सर्व संक्रमण होता है इस प्रकार गुण व सर्व संक्रमण की एक विधि का कथन किया द्वितीय प्रकार–इस प्रकार है। कोई उपशम सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व में जाकर अध:प्रवृत्त पश्चात् उद्वेलना संक्रमण के बाद अन्तिम स्थिति काण्ड में गुण संक्रमण करता हुआ द्विचरम फालि तक गुण संक्रमण व चरम फालि का सर्व संक्रमण करता है। इस प्रकार द्वितीय स्थान जानना चाहिए।

अध:प्रवृत्त संक्रमण– जब कोई उपशम अथवा वेदक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व से च्युत हो मिथ्यात्व को प्राप्त करता है तब सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व प्रकृति का अन्तर्मुहूर्त तक अध:प्रवृत्त संक्रमण होता है। उसका भागहार पल्य के असंख्यातवें भाग है। यानि सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व प्रकृति के सम्पूर्ण द्रव्य में पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देने पर जो भजनफल आये उतना द्रव्य एक समय में मिथ्यात्व प्रकृति में

संक्रमित हो जाता है इसी प्रकार दूसरे तीसरे समयादि में जानना चाहिए यह क्रिया अन्तर्मुहूर्त तक चलती है इसे अध:प्रवृत्त संक्रमण कहते हैं।

उद्वेलना– अन्तर्मुहूर्त तक अध:प्रवृत्त संक्रमण होने के पश्चात् अंगुल के असंख्यातवें भाग का भागहार वाला उद्वेलना संक्रमण प्रारंभ हो जाता है जो पल्य के असंख्यातवें भाग तक चलता है। पश्चात् अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में अन्तिम स्थिति काण्डक घात में गुण संक्रमण होता है यह द्विचरम फालि तक होता है चरम फालि का सर्व संक्रमण होता है जिसका भागहार एक है इस प्रकार अध:प्रवृत्त संक्रमण कहा।

सर्व संक्रमण– एक साथ सारा द्रव्य स्वजातीय पर प्रकृति रूप से संक्रमण कर जाना सर्व संक्रमण कहलाता है जिसका भागहार एक है और पहले जिसका कथन हो चुका है इस प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति में पाँच संक्रमण कहें।

सम्यक्त्व प्रकृति में विध्यात संक्रमण के बिना चार संक्रमण पाये जाते हैं। सम्यक्त्व प्रकृति में विध्यात संक्रमण नहीं होता क्योंकि इसका उदय अध:करण के अन्त तक पाया जाता है तथा इसका अपूर्वकरण में भी गुण संक्रमण नहीं होता वहाँ भी इसका उदय पाया जाता है। शेष अध:प्रवृत्त संक्रमण, उद्वेलना संक्रमण, गुण संक्रमण, सर्व संक्रमण, मिथ्यादृष्टि के ही अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान में ही पाये जाते हैं यह प्रकृति स्वमुख से ही नष्ट होती है, शेष कथन जिस प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व का कर आये हैं वैसा ही यहाँ करना चाहिए। इन तीनों प्रकृतियों में एक और संक्रमण होता है जिसका नाम स्थिबुक संक्रमण है।

प्रश्न– स्थिबुक संक्रमण किसे कहते हैं?

उत्तर– उदय रूप निषेक के अनन्तर ऊपर के निषेक अनुदय रूप प्रकृति के द्रव्य का उदय प्रकृति रूप संक्रमण हो जाना स्थिबुक संक्रमण कहलाता है। यह संक्रमण मात्र उदयावली में ही होता है उदयावली के बाह्य नहीं होता। जैसे कोई नारकी जीव हैं उसके नरक गति नाम कर्म का तो उदय चल रहा है किंतु शेष तीन जाति का द्रव्य उदयावली में ही पर प्रकृति रूप होकर निकल जाता है। यह संक्रमण आयु कर्म को छोड़कर शेष सातों कर्मों में होता है। यथा वेदक सम्यग्दृष्टि जीव के उदयावली में मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व प्रकृति तीनों उपस्थित है तीनों का उदय चल रहा है किंतु परिणामों के निमित्त से व बाह्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव के निमित्त से सम्यक्त्व प्रकृति का उदय स्वमुख अर्थात् सम्यक्त्व रूप होकर फल देती है। शेष दोनों प्रकृतियां स्थिबुक संक्रमण के द्वारा परमुख अर्थात् वे भी सम्यक्त्व रूप हो जाती है। जब सम्यग्मिथ्यात्व का उदय आता है उस समय सम्यक्त्व व मिथ्यात्व प्रकृति स्थिबुक संक्रमण द्वारा सम्यग्मिथ्यात्व रूप फल देती हैं और यदि मिथ्यात्व का उदय होता है तो शेष दोनों प्रकृतियां मिथ्यात्व रूप संक्रमण कर जाती है।

इस प्रकार की व्यवस्था मात्र उदयावली की है क्योंकि उदयावली में अन्य संक्रमण नहीं पाये जाते।

चारो अनंतानुबंधी में संक्रमण व्यवस्था

अनंतानुबंधी में उद्वेलना संक्रमण को छोड़ कर शेष चार संक्रमण ही होते हैं।

अध:प्रवृत्त संक्रमण– मिथ्यात्व व सासादन गुणस्थान में इनका अध:प्रवृत्त संक्रमण पाया जाता है क्योंकि वहाँ पर इनका बन्ध होता है।

विध्यात संक्रमण– सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक विध्यात संक्रमण पाया जाता है क्योंकि वहाँ इनका बन्ध नहीं हैं। इतनी विशेषता है कि ऐसा जीव नियम से वेदक सम्यग्दृष्टि अथवा उपशम सम्यग्दृष्टि 28 प्रकृति की सत्ता वाला जिसने अनंतानुबंधी की विसंयोजना नहीं की है।

गुण संक्रमण– जब कोई जीव अनंतानुबंधी की विसंयोजना करने के लिए तीन करण करता है उस समय अध:करण के अन्तिम समय तक विध्यात संक्रमण ही होता है किंतु अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर गुण संक्रमण प्रारंभ होता है और अन्तिम स्थिति काण्डक की द्विचरम फालि तक होता है पश्चात् चरम फालि का सर्व संक्रमण होता है। इस प्रकार अनंतानुबंधी कषाय में चार संक्रमण ही होते हैं। किंतु उपशम सम्यक्त्व में जो सात प्रकृतियों का उपशम (दबना) कहा है उसका तात्पर्य है अनिवृत्तिकरण के संख्यात भाग बीत जाने पर अन्तर करण होता है उस अन्त:करण में अन्तर्मुहूर्त वाली प्रथम स्थिति में मिथ्यात्व का द्रव्य नहीं रहता किंतु उसके उपरितन स्थिति में रहता है अत: जब वह उदय में आता है तब मिथ्यात्व की तीनों प्रकृतियों में से किसी भी प्रकृति का द्रव्य नहीं है। अत: शुद्ध निर्मल सम्यक्त्व के परिणाम हैं यही उसका उपशम या दबना कहलाता है। किंतु अनंतानुबंधी का उपशम किस प्रकार होता है वह बतलाते हैं। अनंतानुबंधी का अन्तरकरण नहीं होता उसका उदय बराबर आ रहा है किंतु मिथ्यात्व के अभाव में विशुद्ध निर्मल श्रद्धान रूप परिणाम होने से अनंतानुबंधी का स्वमुख उदय में नहीं हो सकती है। अत: उसी समय स्थिबुक संक्रमण के द्वारा पर प्रकृति रूप अर्थात् यदि जीव अव्रती है तो अप्रत्याख्यानावरण रूप होकर, देशव्रती है तो प्रत्याख्यानावरण रूप होकर और यदि महाव्रती है तो संज्वलन रूप होकर उदय में आकर फल देती है यही उसका उपशम है। इस प्रकार की प्रक्रिया उपशम व वेदक सम्यग्दृष्टि जिसने उसकी विसंयोजना नहीं की है दोनों के चलती रहती है किंतु विसंयोजना कर देने पर सत्ता रहित हो जाती है। इस प्रकार अनंतानुबंधी तथा दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों में प्रकृति संक्रमण व्यवस्था का कथन किया।

चारित्र मोहनीय की 21 प्रकृतियों में संक्रमण व्यवस्था

अप्रत्याख्यानावरण में उद्वेलना संक्रमण को छोड़कर चार संक्रमण ही होते हैं यथा मिथ्यात्व गुणस्थान से असंयत गुणस्थान तक अध:प्रवृत्त संक्रमण होता है क्योंकि वहाँ तक इनका बन्ध पाया जाता है। अप्रमत्त गुणस्थान के अन्तिम समय तक इनका विध्यात संक्रमण पाया जाता है अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर अन्तिम स्थिति काण्डक की द्वि चरम फालि तक गुण संक्रमण व चरम फालि में सर्व संक्रमण पाया जाता है क्योंकि यह प्रकृति स्वमुख से नष्ट नहीं होती अन्य प्रकृति में संक्रमण के द्वारा नष्ट होती है। इसी प्रकार

* परमुख उदय = अन्य प्रकृति रूप से उदय में आना, जैसे अप्रत्याख्यान का प्रत्याख्यान रूप उदय होना।

* परमुख से नष्ट = दूसरी प्रकृति में संक्रमण करके नष्ट होना।

प्रत्याख्यानावरण को जानना चाहिए इतनी विशेषता है कि उसका अध:प्रवृत्त संक्रमण संयतासंयत गुणस्थान तक पाया जाता है। शेष कोई विशेषता नहीं है।

उदयावली में इनका स्थिबुक संक्रमण पाया जाता है क्योंकि संयतासंयत अथवा संयत जीवों में पर मुख* उदय पाया जाता है इसलिए स्थिबुक संक्रमण पाया जाता है।

संज्वलन क्रोध मान माया में उद्वेलना, विध्यात व गुण संक्रमण के सिवाय शेष दो संक्रमण पाये जाते हैं।

अध:प्रवृत्त संक्रमण अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक पाया जाता है। क्योंकि वहाँ तक इनका बन्ध पाया जाता है जहाँ बन्ध व्युच्छित्ति होती है वहीं पर नवक समय प्रवद्ध को छोड़कर सम्पूर्ण प्राचीन द्रव्य एक साथ पर प्रकृति रूप संक्रमण कर जाता है क्योंकि ये प्रकृतियां संक्रमण करके पर मुख से ही नष्ट होती हैं स्वमुख से नष्ट नहीं होती* इनमें स्थिबुक संक्रमण होता है क्योंकि जब क्रोध कषाय का उदय होता है उस समय शेष मान, माया, लोभ का द्रव्य स्थिबुक संक्रमण के द्वारा क्रोधरूप परिणमन कर जाता है इसी प्रकार माया का उदय होने पर शेष कषायें उसी रूप परिणमन कर जाती है इस प्रकार सभी कषायों में भी जानना चाहिए जैसे अनंतानुबंधी क्रोध का उदय होने पर मान, माया, लोभ उसी रूप में परिणमन कर जाते है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण का समझना चाहिए इनमें एक दूसरे में संक्रमण पाया जाता है।

इसी प्रकार संज्वलन लोभ में अध:प्रवृत्त संक्रमण पाया जाता है शेष संक्रमण नहीं पाये जाते हैं। अध:प्रवृत्त संक्रमण मिथ्यात्व से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक पाया जाता है उसके पश्चात इसका संक्रमण नहीं होता इसका सीधा क्षय होता है अर्थात् स्वमुख क्षय होता है इसलिए इस प्रकृति में अन्य संक्रमण नहीं पाये जाते हैं। जब चारों संज्वलन कषायों का क्षय होता है उससे पूर्व उनमें एक और संक्रमण पाया जाता है उसका नाम है आनुपूर्वी संक्रमण इसका तात्पर्य क्रोध का मान में मान का माया कषाय में माया का लोभ में इस प्रकार संक्रमण होता है। यहाँ ऐसा प्रश्न हो सकता है कि पहले तो स्थिबुक संक्रमण कहा था अब आनुपूर्वी कैसे आया? उसका उत्तर यह है कि स्थिबुक संक्रमण उदयावली में उदय के समय ही होता है किंतु आनुपूर्वी संक्रमण जब इन प्रकृतियों का क्षय करता है तब होता है।

नौ नोकषायों में प्रकृति संक्रमण व्यवस्था

हास्य, रति, भय, जुगुप्सा इन चार नो कषायों में उद्वेलना व विध्यात संक्रमण के बिना तीन संक्रमण ही होते हैं।

इन चारों नो कषायों का अपूर्वकरण के छटवें भाग तक अध:प्रवृत्त संक्रमण पाया जाता है क्योंकि वहाँ तक इनका बन्ध पाया जाता है, आठवें गुणस्थान के छटवें भाग में बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है। तत्पश्चात् गुण संक्रमण अन्तिम स्थिति काण्डक की द्विचरम फालि तक चरम फालि का सर्व संक्रमण होता है। स्थिबुक संक्रमण यथा स्थान उदयावली में जानना चाहिए। इस प्रकार इन चार नो कषायों में तीन संक्रमण ही पाये जाते हैं।

अरति–शोक में उद्वेलना संक्रमण के बिना चार संक्रमण पाये जाते हैं।

मिथ्यात्व से प्रमत्त गुणस्थान तक अध:प्रवृत्त संक्रमण पाया जाता है क्योंकि इनका यहाँ तक बन्ध पाया जाता है तत्पश्चात अप्रमत्त गुणस्थान में विध्यात संक्रमण पाया जाता है, क्योंकि वहाँ इनके बन्ध का अभाव है। अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर अन्तिम स्थिति काण्डक की द्विचरम फालि तक गुण संक्रमण पाया जाता है चरम फालि का सर्व संक्रमण होता है। स्थिबुक संक्रमण यथा स्थान जान लेना चाहिए।

नपुंसक वेद में भी उद्वेलना संक्रमण को छोड़कर चार संक्रमण पाये जाते है।

मिथ्यात्व गुणस्थान में अध:प्रवृत्त संक्रमण पाया जाता है क्योंकि वहाँ इसका बन्ध पाया जाता है नपुंसक वेद का द्रव्य स्त्री वेद अथवा पुरुष वेद आदि में संक्रमण करता रहता है।

सासादन गुणस्थान से अप्रमत्त गुणस्थान तक विध्यात संक्रमण पाया जाता है क्योंकि वहाँ इसका बन्ध नहीं पाया जाता, मंद विशुद्धि में विध्यात संक्रमण होता है, अपूर्वकरण के प्रथम समय में अन्तिम स्थिति काण्डक की द्विचरम फालि तक गुण संक्रमण तथा चरम फालि का सर्व संक्रमण होता है, स्थिबुक संक्रमण उदयावली यथा अवसर होता रहता है इस प्रकार नपुंसक वेद में संक्रमण पाया जाता है।

इसका बंध सासादन गुणस्थान तक पाया जाता है। अध:प्रवृत संक्रमण सासादन तक, मिश्र में अप्रमत्त विध्यात संक्रमण होता है शेष सुगम है।

पुरुष वेद में अध:प्रवृत्त व सर्व संक्रमण होता है।

मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक अध:प्रवृत्त संक्रमण, पश्चात् अन्तिम स्थिति काण्डक की अन्तिम फालि का सर्व संक्रमण होता है क्योंकि पुरुष वेद का अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक बन्ध चलता रहता है, इसकी बन्ध व्युच्छित्ति व उदय व्युच्छित्ति दोनों एक साथ होती हैं इसलिए अन्तिम फालि का सर्व संक्रमण क्रोध कषाय में हो जाता है क्योंकि यह वेद नोकषाय स्वमुख से नष्ट नहीं होती, पर प्रकृति रूप होकर ही क्षय को प्राप्त होती है। स्थिबुक संक्रमण उदयावली में यथास्थान होता रहता है। इस प्रकार मोहनीय कर्म में संक्रमण कहे शेष आयु कर्म को छोड़कर (क्योंकि आयु कर्म में संक्रमण नहीं होता) शेष छ: कर्मों में भी सभी संक्रमण पाये जाते हैं किंतु जहाँ अवसर मिलेगा वहाँ इनको कहेंगे।

प्रश्न– अध:प्रवृत्तादि संक्रमण कहाँ पाये जाते हैं?

उत्तर– जिस गुणस्थान में जिस प्रकृति का बन्ध होता है वहाँ अध:प्रवृत्त संक्रमण पाया जाता है। बंध के रुक जाने पर मिथ्यात्व गुणस्थान से अप्रमत्त गुणस्थान तक विध्यात संक्रमण पाया जाता है। अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा यथायोग्य गुण संक्रमण होता है। जैसे दर्शन मोहनीय संबंधी अपूर्वकरण में दर्शन मोहनीय का गुण संक्रमण होता है, चारित्र मोहनीय संबंधी अर्थात् चारित्र मोहनीय के उपशम क्षय के समय होने वाले अपूर्वकरण गुणस्थान में चारित्र मोहनीय का गुण संक्रमण होता है। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में सर्व संक्रमण हो जाता है।

प्रश्न– अपूर्वकरण परिणाम कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर– दर्शन मोह के उपशम के समय व क्षपण करते समय भी इनमें भेद पाया जाता है। क्योंकि उपशम के योग्य परिणाम मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होते हैं किन्तु क्षय के योग्य परिणाम असंयत गुणस्थान से अप्रमत्त गुणस्थान तक ही होते हैं विसंयोजना इसी के साथ जोड़ लेना चाहिए। चारित्र मोह में जब क्षयोपशम चारित्र प्राप्त करता है उस समय भी अध:करण अपूर्वकरण इन दो करणों को मिथ्यादृष्टि अथवा असंयत सम्यग्दृष्टि करता है क्योंकि यदि प्रथमोपशम सम्यक्त्व के साथ ही संयम धारण करता है तो मिथ्यात्व गुणस्थान में ही तीन करण करके सीधा अप्रमत्त दशा को प्राप्त होता है और यदि पहले सम्यक्त्व प्राप्त करके संयम प्राप्त करता है तो ऐसा जीव मिथ्यादृष्टि अथवा असंयत दो करण करके संयतासंयत अथवा अप्रमत्त दशा को प्राप्त करता है।

चारित्र मोह को उपशम करने वाला या क्षपणा करने वाला अप्रमत्त गुणस्थान में अध:करण करता है पश्चात् अपूर्वकरण करता है उसे ही अपूर्वकरण गुणस्थान कहा जाता है।

परिणामों में भिन्नता होने के कारण अपना-अपना कार्य ही करते हैं अर्थात् क्षपण के योग्य परिणाम उपशामना नहीं करते उपशमाने के योग्य परिणाम क्षपणा नहीं कर सकते है। इस प्रकार अपूर्वकरण का कथन किया उसके प्रथम समय से ही यथा जाति प्रकृति का गुण संक्रमण प्रारंभ हो जाता है।

इतनी और विशेषता है कि प्रथम गुणस्थान में अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा मिथ्यात्व प्रकृति का गुण संक्रमण प्रारंभ नहीं होता उसका तो सम्यक्त्व प्राप्त होने के प्रथम समय से ही होता है।

प्रश्न– किस अवस्था विशेष में कौन से संक्रमण होते है?

उत्तर– यद्यपि यह पूर्व में बतला आये हैं कि कौनसा संक्रमण किस अवस्था में होता है यहाँ इतनी और विशषता है कि कर्म जब तक उदयावली में प्रवेश नहीं करता है तब तक उसके कोई भी संक्रमण हो सकता है किन्तु उदयावली में प्रवेश करने के बाद कोई भी संक्रमण नहीं होता मात्र स्थिबुक संक्रमण के द्वारा पर प्रकृति रूप परिणमन करता है।

प्रश्न– उदयावली किसे कहते हैं?

उत्तर– एक आवली काल में उदय में आने योग्य कर्म निषेकों की पंक्ति को उदयावली कहते हैं।

प्रश्न– आनुपूर्वी संक्रमण किसे कहते हैं?

उत्तर– कर्म क्षपणा के समय क्रमश: क्रोध का मान में, मान का माया में, माया का लोभ में जो संक्रमण होता है उसे आनुपूर्वी संक्रमण कहते हैं यद्यपि यहाँ भी गुण संक्रमण और सर्व संक्रमण ही चल रहा है जो क्रमश: एक दूसरे से परिणमन की अपेक्षा उसे एक अलग संज्ञा दी गई है। इस प्रकार प्रकृति संक्रमण का मोहनीय कर्म में कथन किया।

अनुभाग बंध

–मुनि विनतसागर

णमिऊण णेमिचंद, असहाय परक्कमं महावीरं।
बंधुदय सत्तजुत्तं, ओघा देसे थवं वोच्छं।।

अर्थ– जिनका पराक्रम दूसरों की सहायता से रहित है और जो महावीर हैं ऐसे नेमिनाथ तीर्थंकर को नमस्कार करके गुणस्थान और मार्गणा में बंध–उदय तथा सत्त्व का कथन करने वाले स्तवरूप ग्रंथ को कहूँगा।

परम आराध्य सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान करके एवं पंच परमेष्ठी के चरणों में कोटिश: नमन करके एवं परम पूज्यनीय गणाचार्य श्री विरागसागर जी गुरुदेव को परोक्ष रूप से प्रणाम करता हूँ व मम शिक्षा–दीक्षा प्रदाता साक्षात समवशरण में गणधर पीठ पर आसीन (गणधर परमेष्ठी के समान विराजमान) परम श्रद्धेय गुरुवर उच्चारणाचार्य श्री 108 विनम्रसागर जी गुरुदेव के पावन पुनीत चरणों में सहस्र बार नमन करता हुआ प्रार्थना करता हूँ कि हे पूज्य गुरुदेव मुझे साहस प्रदान कीजिए आपके श्री चरणों की छत्र–छाया में (अपने इस प्रयास में मैं सफल हो सकू) रहकर सिद्धान्त जैसे ग्रन्थों का पठन–पाठन आपने कराया, पर मैं अपनी इस मंद बुद्धि से जितना समझ पाया उसको आपके समक्ष और समस्त सरस्वती पुत्रों के सामने प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

इस विषय के संदर्भ में जो भी त्रुटिया हो तो समस्त विज्ञ पुरुष एवं पूज्य गुरुदेव मुझे दिशा–बोध देकर मेरा मार्ग प्रशस्त करे व गल्तियों को क्षमा प्रदान करें।

हमारा विषय है अनुभाग बंध जो कि कर्म काण्ड ग्रन्थ में एक अपना स्थान रखता है।

* अनुभाग नाम–शक्ति का है या कर्मों के फल देने की शक्ति को (जिसमें पाई जाये वह) अनुभागबंध है।

* वह शक्ति छ: प्रकार की होती है।

1. जीवानुभाग 2. पुद्गलानुभाग 3. धर्मास्तिकायानुभाग 4. अधर्मास्तिकायानुभाग

5. आकाशस्तिकायानुभाग 6. कालद्रव्यानुभाग।

1. जीवानुभाग :– समस्त द्रव्यों का जानना जीवाणु भाग है जीव के अन्दर अनन्त द्रव्यों के अनंत गुण व पर्याय को जानने की शक्ति है।

प्रश्न – जीव के अंदर अनंत शक्ति है, यह कैसे सिद्ध है?

उत्तर– शुद्ध जीव एक समय में 7 राजू गमन करता है व सर्वलोक में भी गमन करता जाता है, क्योंकि जीव को निर्वाण होता है, तो एक समय के लिए चारों गतियों के जीवों को सुख का अनुभव होता है, ऐसे अनंत लोकाकाश होते, तो भी यह जीव गमन कर सकता था लोकाकाश के बाहर जीव इसलिए नहीं जा सकता क्योंकि धर्मास्तिकाय का अभाव है।

* जीव द्रव्य में अनंत शक्ति वाले कर्म परमाणुओं को जड़-मूल से उखाड़ने की क्षमता पाई जाती है।

* कर्मों का विनाश करके ही जीव में अंनत शक्ति सुखादि गुण प्रकट होते है।

2. **पुद्गलानुभाग –** ज्वर, कुष्ट और क्षय आदि का विनाश करना और उनका उत्पन्न करना यह द्रव्य का अनुभाग है योनि प्राभृत में कहे गये मंत्र-तंत्र रूप शक्तियों का नाम पुद्गलानुभाग है ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न– पुद्गल कर्म परमाणु में अनंत शक्ति किस प्रकार हुआ करती है?

उत्तर– क्योंकि आत्मा के अनंत ज्ञान दर्शन-सुख वीर्यादि गुणों को यह पुद्गल कर्म परमाणुओं ने ढक रखा है।

इसलिए पुद्गल कर्म परमाणु में अनंत शक्ति हुआ करती है। पुद्गल की दस पर्यायें होती है-तत्त्वार्थ सूत्र के 5वें अध्याय के 23वें सूत्र में कहा है-

शब्द बंध सौक्ष्म्यस्थौल्य संस्थान भेद तमश्छाया तपोद्योतवन्तश्च।

सूत्रार्थ - शब्द बंध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अन्धकार छाया, आतप, उद्योत, ये पुद्गल की दस पर्यायें है।

यह विषय राजर्वितक से लिया गया है।

शब्द– जो अर्थ की शपति अर्थात् कहता है जिसके द्वारा अर्थ कहा जाता है, वा कहना (शपन) मात्र जिसका अर्थ है, वह शब्द है।

ये पुद्गल द्रव्य की दस पर्यायें हैं और समस्त लोक इन दस पर्यायों के राग में ही उलझा हुआ है।

शब्द– भाषात्मक और अभाषात्मक के भेद से शब्द दो प्रकार का है भाषात्मक शब्द, साक्षर व अनक्षर दो प्रकार का है तथा प्रायोगिक, वैस्रसिक ये अभाषात्मक शब्द के दो रूप है।

भाषात्मक के भेद–

1. **साक्षर शब्द–** जिस भाषा में साहित्य-सृजन किया जाता है जिसके आर्य-म्लेच्छों का परस्पर व्यवहार चलता है ऐसे संस्कारित शब्द तथा इनसे विपरीत शब्द साक्षर शब्द कहलाते है।

नोट- संस्कृत भाषा को आर्य भाषा कहते है और असंस्कृत भाषा को म्लेच्छ भाषा कहते है। अत: आर्य म्लेच्छ का व्यवहार भाषा से ही होता है।

2. **अनक्षर शब्द–** दो-इन्द्रिय आदि जीवों के होते है तथा अतिशयज्ञान (केवलज्ञान) के द्वारा स्वरूप प्रतिपादन में कारण भूत अर्हत्प्रभु की भाषा अनक्षरात्मक ही होती है।

अभाषात्मक के भेद–

प्रायोगिक, वैस्रगिक ये दो भेद है।

प्रायोगिक – शब्द तत, वितत घन ओर सौषिर के भेद से चार प्रकार के है।

तत– पुष्कर, भेरी आदि में चमड़े के तनाव से जो शब्द उत्पन्न होता है वह शब्द तत कहलाता है।

वितत– तंत्रीकृत (तार आदि के चमड़े के तनाव के कारण) वीणा, सुघोष आदि से समुत्पन्न शब्द वितत कहलाता है।

घन– ताल घण्टा आदि के अभिघात से समुद्भव शब्द घन कहलाते है।

सौषिर– बाँसुरी, शंख आदि से निकलने वाला शब्द सौषिट होते है वे वैस्रसिक है, क्योंकि उसमें किसी सचेतन प्राणी के पुरुषार्थ का प्रयोग नहीं है, स्वयमेव पुद्गल वर्गणायें परस्पर टकराकर ध्वनि उत्पन्न करती है।

2. **बंध–** उसी प्रकार जो बाँधता है, जिसके द्वारा बांधा जाता है अथवा बंधन मात्र को बंध कहते है।

3. **सौक्ष्म्य–** जो लिंग द्वारा अपने स्वरूप को सूचित करता है या जिसके द्वारा अपना स्वरूप सूचित किया जाता है या सूचना मात्र है वह सूक्ष्म है– सूक्ष्म के भाव या कर्म को सौक्ष्म्य कहते हैं।

4. **स्थौल्य–** जो स्थूल होता है, बढता है या जिसके द्वारा स्थूलन होता है या स्थूलमात्र को स्थूल कहते है, स्थूल का भाव या कर्म स्थौल्य है।

5. **संस्थान–** जो संस्थित होता है या जिसके द्वारा संस्थित किया जाता है या संस्थिति मात्र है उसको संस्थान कहते है।

6. **भेद–** जो भेदन करता है या जिसके द्वारा भेदन किया जाता है या भेदनमात्र है उसको भेद कहते हैं।

7. **तम –** पूर्वोपात्त अशुभ कर्म के उदय से जो आत्मस्वरूप को अन्धकारावृत करता है या जिसके द्वारा आत्मा अंधकार युक्त किया जाता है या तमन मात्र को तम कहते हैं।

8. **छाया–** पृथिवी आदि सघन द्रव्यों के सम्बंध से शरीरादि तुल्य आकार में जो प्रकाश का आवरण करे या अपने स्वरूप का छेदन करे वह छाया है।

9. **आतप–** असाता वेदनीय के उदय से अपने स्वरूप को तपाता है अर्थात् आत्मा को तपाता है अथवा जिसके द्वारा आत्मा तपाया जाता है या आतपन मात्र को आतप कहते हैं।

10. **उद्योत–** जो निरावरण को द्योतित (प्रकाशित) करता है या जिसके द्वारा द्योतित किया जाता है अथवा जो उद्योतन मात्र है उसको उद्योत कहते है।

नोट– शब्दों की महिमा तो देखो क्षणभर में रुला दें, क्षणभर में हँसा दें, जो भी जगत् में दुख चल रहे है वह शब्दों के माध्यम से चल रहे हैं।

वाणी शीतलता का अथाह सागर होती है जो स्वयं में समाए रखती है, वहीं दूसरी ओर बाण सी शक्ति भी वाणी में ही निहित रहती है।

एक शब्द मंत्र है, एक शब्द मजाक है, एक शब्द गीत रूप है, एक शब्द गाली रूप है।

✻ महाभारत जैसा विशाल शक्तिशाली युद्ध–शब्दों के कारण ही हुआ था।

इसलिए शब्दों को सोच-समझकर बोलना चाहिए- क्योंकि कोई शब्द बाण का कार्य कर जाते है तो कोई (शब्द) निर्वाण का कार्य भी कर जाते है।

3. **धर्मास्तिकायानुभाग–** जीव पुद्‌गल को आवागमन में हेतु होना धर्मास्तिकायानुभाग है।

4. **अधर्मास्तिकायानुभाग–** उन्हीं के अवस्थान में हेतु होना अधर्मास्तिकायानुभाग है।

5. **आकाशास्तिकायानुभाग–** जीवादि द्रव्यों का आधार होना आकाशस्तिकायानुभाग है।

6. **काल द्रव्यानुभाग–** अन्य द्रव्यों के क्रम और अक्रम से परिणमन में हेतु होना कालद्रव्यानुभाग है।

* पुद्गल कर्म का अनुभाग और सिद्ध करते है व अनुभाग बंध सामान्य का लक्षण–

तत्त्वार्थ वार्तिक स्वामी अकलंक देव ने अष्टमोध्याय: में सूत्र 21 व 22 के विशेषार्थ में कहा है–

विपाकोऽनुभवः – 21

स यथानाम – 22 यह दो सूत्र (उमास्वामी आचार्य ने कहे हैं)

विपाकोऽनुभवः– उदय में आकर के फल देने को अनुभव (अनुभाग) बंध कहते है। अर्थात् फल की शक्ति को अनुभाग कहते हैं।

* नाना प्रकार के विशिष्ट पाक का नाम विपाक है।

ज्ञानावरणादीनां कर्म प्रकृतीनाम् अनुग्रहोपघातात्मिकानां पूर्वास्रवतीव्रमन्द भाव निमित्तो विशिष्ट पाको विपाक:।

टीकार्थ– अनुग्रह और उपघात करने वाली ज्ञानावरण आदि कर्म प्रकृतियों के पूर्वास्रव के कारण तीव्र मन्द भाव निमित्तक विशिष्ट पाक को विपाक कहते है।

* द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव लक्षण निमित्त भेद जनित विशिष्ट पाक को विपाक कहते है। यही विपाक अनुभव कहा जाता है।

* शुभ परिणामों की प्रकर्षता में शुभ कर्म प्रकृतियों का उत्कृष्ट और अशुभ कर्म प्रकृतियों का निकृष्ट अनुभाग बंध होता है।

* अशुभ परिणामों की प्रकर्षता में अशुभ कर्म प्रकृतियों का उत्कृष्ट और शुभ कर्म प्रकृतियों का निकृष्ट अनुभाग बंध होता है।

* वही अनुभाग अर्थात् कर्मों के फल का विपाक कारण वश दो प्रकार से होता है– स्वमुख से और परमुख से।

स्वमुख फलोदय– जो कर्म जिस प्रकृति रूप बँधे, उसका उसी रूप में उदय आकर फल देना स्वमुख फलोदय है।

* सर्वमूल प्रकृतियों का (अनुभव) विपाक तो स्वमुख से ही उदय में आता है।

परमुख फलोदय–

उत्तर कर्म प्रकृतियों में आयु, दर्शनमोह और चारित्रमोह को छोड़कर शेष सजातीय प्रकृतियों का विपाक (अनुभव) परमुख से भी उदय में आता है और स्वमुख से भी

नोट– क्योंकि नरकायु अपने स्वमुख (नरकायुरूप) से ही फल देती है तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु वा देवायु रूप से नहीं।

* दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय रूप से वा चारित्रमोहनीय, दर्शनमोहनीय रूप से फल नहीं दे सकती।

अत: चारों आयु व दर्शन मोहनीय एवं चारित्रमोहनीय कर्म का विपाक स्वमुख से ही उदय होता है।

शंका– पूर्व में उपार्जित नाना प्रकार के कर्मों का विपाक अनुभाग है। यह तो जानते है परन्तु यह नहीं जानते कि उनका अनुभाग प्रसंख्यात है कि अप्रसंख्यात।

समाधान– यह अनुभाग कर्मों के अपने नाम के अनुसार होता है, इस बात को बताने के लिए आगे सूत्र आचार्य स्वयं कहेंगे।

स यथानाम– (तत्त्वार्थ सूत्र 8 वाँ अध्याय का 22 नं. सूत्र)

सूत्रार्थ– नामानुसार कर्मों का फल प्राप्त होता है।

जैसे– ज्ञानावरणादि कर्मों के नामानुसार ही फल प्राप्त होता है सविकल्प ज्ञानावरण आदि के प्रत्येक का अन्वर्थ (सार्थक) नाम के अनुसार अनुभव ज्ञान होता है।

अर्थात्–ज्ञानावरण आदि जिसका जैसा नाम है, उसी के अनुसार ज्ञानादि का आवरण होता है।

जैसे–ज्ञानावरण का विपाक ज्ञान का अभाव है।

दर्शनावरण कर्म का विपाक दर्शन–शक्ति का उपरोध है। सूख–दुख का अनुभव कराना वेदनीय का फल–विपाक है। आत्मा को मोहित करना मोहनीय का कार्य है। भव में रोककर रखना आयु का काम है। अनेक प्रकार से शरीर की रचना करना अर्थात् आसमन्तात एति इति आयु नरकादि पर्या को प्राप्त कराने वाली आयु है। नामकरण वा आकार विशेष कारक नाम है उच्च–नीच का व्यवहार करने वाला गोत्र और दाता एवं पात्र के मध्य में विघ्नकारक अन्तराय है।

* ज्ञानावरणादि कर्मों का विपाक फलोदय की अपेक्षा से 148 प्रकृतियों को चार भागों में बांटा है।

1. **जीवविपाकी–** घातिया कर्मों की 47, वेदनीय 2, गोत्र 2, नाम 27, (47+2+2+27)=78 प्रकृतियाँ जीव विपाकी है, जिसका फल जीव की उपयोगादि शक्ति में हो उसको जीव विपाकी कहते है।

2. **पुद्गलविपाकी–** शरीर बंधनादि–62 प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकी है, जिस कर्म का फल शरीर में होता है, उनको पुद्गल विपाकी कहते है, (शरीर 5, आंगोपांग 3, निर्माण, बंधन 5, संघात 5, संस्थान 6, संहनन 6, स्पर्शादि 20, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उद्योत, आतप, प्रत्येक, साधारण, स्थिर, अस्थिर, शुभ–अशुभ =62।

3. भवविपाकी– आयु कर्म की चार प्रकृतियाँ भवविपाकी है, जिस कर्म का फल पर्याय में होता है, उनको भव विपाकी कहते है।

4. क्षेत्रविपाकी– चारानुपूर्वी इनका फल विग्रहगति में जीव के प्रदेशों के आकार रूप ही है।

नोट– इस प्रकार सर्व प्रकृतियों के सर्व विकल्पों के अनुभाग का ज्ञान अपने–अपने अन्वर्थ नाम के अनुसार होता है।

* और भी प्रमाण शास्त्र में लिपि बद्ध है। (अनुभाग बंध में)

* मूलाराधना – गाथा 1240 में कहा है।

कम्माणं जो दु रसो अज्झवसाण जणिद सुह असुहो वा।
बंधो सो अणुभागो पदेसबंधो इमो होइ।240।

ज्ञानावरणादि कर्मों का जो कषायादि परिणाम जनित शुभ अथवा अशुभ रस है वह अनुभाग बंध है।

*** तत्त्वार्थवार्तिक में – अध्याय 8, सूत्र नम्बर 3,** की टीका में तद्रसविशेषोऽनुभव (6)

यथा अजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्र मन्दादि भावेन रस विशेष: तथा कर्म पुद्गलानां स्वगत सामर्थ्य विशेषोऽनुभव इति कथ्यते।

टीकार्थ– कर्मों के रस विशष (फलदान–शक्ति विशेष) को अनुभाग बंध कहते हैं।

जैसे–बकरी, गाय, भैसादि के दूध में तीव्र–मंद आदि भाव से रस विशेष होता है। अर्थात् दूध सामान्य होते हुए भी उनमें स्निग्धता, मधुरता आदि में विशेषता होती है, उसी प्रकार कर्म पुद्गलों की स्वकीय फलदान शक्ति के सामर्थ्य विशेष को अनुभव/अनुभाग कहते है।

धवला पुस्तक 12 में अट्ठण्णं वि कम्माण जीव पदेसाणं अण्णोणाणु–गमणहेदु परिणामो।

आठ कर्मों और प्रदेशों के परस्पर में अन्वय (एकरूपता) के कारण भूत परिणाम को अनुभाग कहते है।

कषाय पाहुड़ में भी, 5 (4–23)

को अणुभागों कम्माणं सगकज्जकरणसत्ती अणुभागो णामा– कर्मों के अपना कार्य करने (फल देने) की शक्ति को अनुभाग कहते है।

नियमसार की तात्प्रर्यवृत्ति 40 में लिखा गया है– शुभाशुभ कर्मणां निर्जरा समये सुख दु:ख फलदान शक्ति–युक्तों ह्यानुभाग बंध:।

शुभाशुभ कर्म की निर्जरा के समय सुख–दुख रूप फल देने की शक्ति वाला अनुभाग बंध है।

1. अनुभाग सत्कर्म का लक्षण अनुभाग स्थान के भेदों के लक्षण **धवला 12/4.2.4.200/112/2**

जमणुभागट्ठाणं घादिज्जमाणं बंधाणुभागट्ठाणेण सरिसंण होदि बंध अट्ठक उव्वंकाणं विच्चाले।

घाता जाने वाला जो अनुभाग स्थान बन्धानुभाग के सदृश नहीं होता, किन्तु बंध सदृश अष्टांग और उर्वक के मध्य में अधस्तन उर्वक में अनंत गुणा और उपरिम अष्टांग से अनंत गुणाहीन होकर स्थित रहता है वह अनुभाग सत्कर्म स्थान है।

2. धवला पुस्तक 12 में (अनुभाग बंध स्थान का लक्षण)

जो बंध से उत्पन्न होता है, वह बंधस्थान कहा जाता है। पूर्व बद्ध अनुभाग का घात किये जाने पर जो बंध अनुभाग के सदृश होकर पड़ता है वह भी बंध स्थान ही है क्योंकि उसके सदृश अनुभाग बंध पाया जाता है।

3. बंध समुत्पत्तिक अनुभाग सत्कर्म स्थान का लक्षण **कषाय पाहुड 5/4-22।**

बंधात्सनुत्पत्तिर्येषां तानिबंध समुत्पत्ति कानि- जिन सत्कर्म स्थानों की उत्पत्ति बंध से होती है, उन्हें बंध समुत्पत्ति कहते है।

अनुभाग बंध के 14 भेदों का निर्देश-

पंचसंग्रह प्रा. 14/441-

अनुभाग के चोदह भेद है वे इस प्रकार है

(1) सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव, जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, प्रशस्त, अप्रशस्त देशघाति, सर्वघाति, प्रत्यय विपाक ये तेरह प्रकार तो अनुभाग बंध और 14वां स्वामित्व- इन चौदह भेदों की अपेक्षा अनुभाग बंध का वर्णन किया जाता है।

✻ सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव आदि अनुभागों के लक्षण

	सादि	अनादि	ध्रुव	अध्रुव
जघन्य	✓			✓
अजघन्य	✓	✓	✓	✓
उत्कृष्ट	✓			✓
अनुत्कृष्ट	✓	✓	✓	✓

नोट- सादि- जिस कर्म के बंध का अभाव होकर वही कर्म पुन: बधे उसे सादि बंध कहते है।

अनादि- जो श्रेणी पर नहीं चढ़ा अर्थात् जिसके बंध का अभाव नहीं हुआ उसके अनादि बंध है।

✻ बंध का अभाव न हो- वह ध्रुव बंध है- यह अभव्यों के होता है।

✻ जिनके बंध का अंत आ जावे-अध्रुव बंध है यह भव्यों के होता है।

प्रश्न - जघन्य-सादि बंध कैसे बनता है व कौन करता है।

उत्तर- सप्तम नरक का नारकी प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्मुख हुआ मिथ्यादृष्टि जीव, तहाँ मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का अंतसमय में जघन्य नीच गोत्र का अनुभाग बंध सादि है।

सादि-अजघन्य बंध - सप्तम नरक का नारकी यदि प्रथमोपशम सम्यक्त्व से पुन: मिथ्यात्व का बंध होने पर सादि अजघन्य नीच गोत्र का अनुभाग बंध करता है।

✻ अनादि अजघन्य अनुभाव बंध तो मिथ्यादृष्टि पहले से ही कर रहा था।

✻ ध्रुव अजघन्य अनुभाग बंध तो अभव्य जीव करता है।

✻ अध्रुव अजघन्य अनुभाग बंध तो जहां अजघन्य को छोड़कर जघन्य को प्राप्त भया तहा सो बंध अध्रुव अनुभाग बंध है।

प्रश्न– उत्कृष्ट सादि बंध किसके होता है व कैसे?

उत्तर– उपशम श्रेणी पर चढने वाला जीव दशवें गुणस्थान में गया वहां उच्च गोत्र का उत्कृष्ट अनुभाग बंध हुआ।

प्रश्न– अनुत्कृष्ट सादि बंध किसके होता है व कैसे?

उत्तर– बाद में वही जीव वापस दशवें गुणस्थान में आया तब अपने उच्च गोत्र का अनुत्कृष्ट बंध किया। वहाँ इस अनुत्कृष्ट बंध को सादि बंध कहते है क्योंकि पहले इस बंध का अभाव हुआ था परन्तु पुन: फिर होने लगा।

प्रश्न– अनादि बंध कैसे?

उत्तर – सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान से अधस्तन गुणस्थानावर्ती जीवों के इस प्रकृति का बंध अनादि है।

✻ अभव्य जीवों के ध्रुव बंध है–अनादि से है।

✻ उपशम श्रेणी वालों के अनुत्कृष्ट बंध का अभाव होकर जब उत्कृष्ट बंध होता है वह अध्रुव बंध है यह बंध भव्यों के होता है।

✻ अब देशघाति व सर्वघाति का विवेचन करते है।

सर्वघातियों में 2, 3, 4 प्रकार (स्पर्द्धक) या स्थान है।

चार प्रकार – शैल, अस्थि, दारु, लता

तीन प्रकार – अस्थि, दारु, लता

दो प्रकार – दारु लता

प्रश्न– देश घातियों में कौनसे स्थान पाये जाते है।

उत्तर– लता का पूरा भाग देशघाति है।

दारु का अनंतवां भाग देशघाति है।

दारु का अनंतवां बहुभाग सर्वघाति है।

✻✻✻✻✻

चारों प्रकार का बंध

–मुनि विनंदसागर

ॐ ह्रूँ आदि महावीरविमलसंमतिविरागविनम्र सूरिभ्यो नम:

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा रचित गोम्मटसार कर्मकाण्ड करणानुयोग का विशिष्ट एवं सारभूत ग्रन्थ है जो कर्मसाहित्य का संक्षेप से साङ्गोपाङ्ग वर्णन करने वाला एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी है। इसी ग्रन्थ में से मेरा विषय बन्ध अधिकार पर है जिसमें से हम बंध, बंध के भेद, प्रभेद व बंध कितने प्रकार से बँधता है। इन विषयों पर कर्मों की निजरार्थ चर्चा करेंगे।

मंगलाचरण

पणमिय सिरसा णेमिं, गुणरयण विभूसणं महावीरं।
सम्मत्तरयणणिलयं, पयडिसमुक्कित्तणं वोच्छं।।

सर्वप्रथम बन्ध किसे कहते हैं?

आत्मा के साथ कर्म परमाणुओं का एक मेक होकर मिल जाना बंध कहलाता है अर्थात् संश्लेष सबंध हो जाना बंध कहलाता है।

अब संश्लेष संबंध क्या है?

संश्लेष संबंध एक ऐसा संबंध है जो दिखाई नहीं देता पर होता अवश्य है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार दूध में पानी का संबंध। दूध में पानी तो है पर वह दिखाई नहीं देता। उसी प्रकार आत्मा के साथ कर्म परमाणुओं का संबंध होता है। यद्यपि कर्म परमाणु पौद्गलिक है किन्तु वह इतने सूक्ष्म होते है कि उन्हें चक्षु इन्द्रिय से हम नहीं देख सकते। ऐसे पुद्गल परमाणुओं का आत्मा के साथ एक मेक होकर मिल जाना (दूध में पानी की तरह) संश्लेष संबंध कहलाता है।

इस संबंध में यह विशेषता है कि ये भले ही हमें दिखाई न दे पर हम इसे समीचीन पुरुषार्थ के माध्यम से अलग कर सकते है। जैसे किसी कढ़ाई में दूध रखें पश्चात् दूध को तपायें और इतना तपायें कि समस्त दूध में से पानी उड़ जाये तब हम देखते है कि वह सारा दूध संघटित होकर मावा बन जाता है। उसी प्रकार इस शरीर में यह आत्मा भी मिली हुई है। जिसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धारण करने के पश्चात् सम्यक् तप के माध्यम से इस शरीर को इतना तपाया जायें कि एक दिन यह शरीर भी कपूर की भांति उड़ जाये और आत्मा संघटित होकर सिद्धालय में विराजमान हो जाए। यह सब मात्र सम्यक् पुरुषार्थ के माध्यम से ही किया जा सकता है। बिना पुरुषार्थ के संश्लेष संबंध से छूटना असंभव है। जो लोग पुरुषार्थ को गौण करके मात्र काललब्धि पर श्रद्धा रखते हैं और कहते हैं कि काललब्धि आयेगी तो कार्य हो जायेगा अर्थात् समय आने पर कार्य अपने आप हो जायेगा उनसे कहना है कि भइया! पुरुषार्थ तो करना ही पड़ेगा। उदाहरण से

समझने का प्रयास करते हैं- एक समय की बात है एक बालक किसी सज्जन के मुख से सुन आया कि समय से पहले और भाग्य से ज्यादा किसी को कुछ भी प्राप्त नहीं होता, भाग्य में हो तो अपने आप प्राप्त हो जाता है। ऐसा सुन आने के पश्चात् वह बालक भाग्य के भरोसे बैठ गया उसका मित्र आया उसने उससे कहा कि भाई खाना बना लो, तो वह बोला कि मेरे भाग्य में होगा तो मुझे मिल जायेगा यह सुनकर मित्र चला गया और थोड़े समय पश्चात् उस मित्र ने खाना बनाया और स्वयं खाकर शयन करने के लिए जाते-जाते अपने मित्र से कह कर चला गया कि खाना रखा है लेकर खा लेना तब भी उसका यही जवाब था कि मेरे भाग्य में होगा तो मुझे मिल जायेगा मुझे लेने की जरूरत नहीं है। मित्र यह सुनकर शयन करने के लिए चला गया और सायंकाल उठा तो उसने देखा कि खाना तो ऐसा ही रखा है तब उसने सोचा कि ये मूर्ख रात हो जायेगी तो भूखा रह जायेगा परेशान होगा, चलो मैं ही इसे भोजन दे देता हूँ। उस मित्र ने वह भोजन अपने मित्र के पास लाकर रख दिया और कहा खा लो अब भी उसका यही जवाब था कि मेरे भाग्य में होगा तो मेरा पेट भर जायेगा। यह सुनकर मित्र को गुस्सा तो आया पर उसने पुनः सोचा कि यह तो भाग्य के भरोसे बैठा रहेगा और भूखा रह जायेगा चलो मैं ही इसे खिला देता हूँ उसने वह भोजन मित्र के मुख में रख दिया। मित्र ने उसे चबाकर खाने के पश्चात् अपने मित्र से कहा कि देखा मेरे भाग्य में था तो मुझे मिल गया और मेरा पेट भर गया यह सुनकर उसका मित्र बोला कि अरे मूर्ख! माना कि तेरे भाग्य में इतना था कि भोजन को मैंने तेरे मुख में लाकर रख दिया लेकिन ये बता भोजन को चबाया किसने, चबाने का पुरुषार्थ किसने किया, बिना पुरुषार्थ किये तेरा पेट भर गया क्या? यह सुनकर उस मित्र की आँखें खुल गई और वह सोचने लगा कि भाग्य के भरोसे बैठे रहना मूर्खता है कितना कुछ भी प्राप्त होने पर अन्तिम पुरुषार्थ तो मुझे स्वयं ही करना पड़ता है।

भावार्थ-यही है कि नगर में साधु संगति प्राप्त हो जाने पर तथा सभी निमित्त भाग्य से मिल जाने पर भी गुरुओं के पास हमें ही चलकर जाना पड़ेगा और दीक्षा लेकर तप करने का पुरुषार्थ स्वयं ही करना पड़ेगा तभी इन कर्म परमाणुओं से संश्लेष संबंध को प्राप्त इस आत्मा को मुक्ति मिलेगी। अतः बिना पुरुषार्थ के संश्लेष संबंध से छुटकारा पाना असंभव है।

यह बात संश्लेष संबंध की हुई। अब कर्म परमाणुओं से संश्लेष संबंध होने से बंध को प्राप्त हुई आत्मा में कौन-कौन से बंध होते है और कितने प्रकार से बंध होता है इसकी चर्चा करते है।

प्रश्न- बंध के कितने भेद होते है?

समाधान- प्रकृति स्थिति-अनुभाग और प्रदेश के भेद से बंध चार प्रकार का होता है।

अब चारों बंधों का स्वरूप कहते हैं-

1. **प्रकृति बंध-** पौद्गलिक मूल व उत्तर प्रकृतियों का जीव के साथ संश्लेष सम्बन्ध होना प्रकृति बन्ध कहलाता है।

2. **स्थिति बंध-** जिन कर्म प्रकृतियों का जीव के साथ संश्लेष संबंध हुआ है उनका जीव के साथ जितने काल पर्यन्त सम्बन्ध रहता है, उस काल को स्थिति बंध कहते हैं।

3. **अनुभाग बंध–** कर्मों के फल देने की शक्ति को अनुभाग बंध कहते है।

4. **प्रदेश बंध –** कर्मरूप हुई पौद्गलिक कार्मण वर्गणाओं के प्रमाण को प्रदेश बन्ध कहते हैं।

प्रश्न – यह चारों बंध किस प्रकार से बँधते हैं?

समाधान– यह चारो बंध उत्कृष्ट–अनुत्कृष्ट–जघन्य और अजघन्य इन चार प्रकार से बँधते है।

प्रश्न– इन उत्कृष्टादि चार बंधों का क्या स्वरूप है?

समाधान– 1. सबसे अधिक बन्ध को उत्कृष्ट बन्ध कहते हैं

2. उत्कृष्ट से हीन बन्ध को अनुकृष्ट बन्ध कहते हैं।

3. सबसे अल्प बन्ध को जघन्य बन्ध कहते हैं।

4. और जघन्य बन्ध से अधिक बन्ध को अजघन्य बन्ध कहते हैं।

प्रश्न – अनुत्कृष्ट बंध और अजघन्य बंध में क्या अन्तर है?

समाधान– अनुत्कृष्ट बंध और अजघन्य बंध में यही अन्तर है कि अनुत्कृष्ट बंध उत्कृष्ट से गिरते हुए होगा और तब तक होगा जब तक जघन्य की प्राप्ति न हो जाये तथा अजघन्य बंध जघन्य से ऊपर उठते हुए होगा यह भी तब तक होगा जब तक उत्कृष्ट की प्राप्ति न हो जाए।

जैसे– माना 100 उत्कृष्ट संख्या है और 1 जघन्य संख्या है तब 100 से नीचे 99 से लेकर 2 तक आने पर अनुत्कृष्ट बंध है और 1 से ऊपर 2 से 99 तक जाने पर अजघन्य बंध कहलाता है।

प्रश्न– क्या बंध इन्हीं चार प्रकार से बँधता है?

समाधान– नहीं, ये उत्कृष्टादि चार बंध भी सादि–अनादि ध्रुव और अध्रुव के भेद से चार प्रकार से बँधते हैं।

प्रश्न– इन सादि आदि बँधों का क्या स्वरूप है?

समाधान– 1. जिस कर्म का बंध छूटकर पुनः उसी कर्म का बंध होने लगे उसे 'सादि बन्ध' कहते हैं।

2. अनादि काल से जिस बन्ध का अभाव नहीं हुआ है उसको 'अनादि बंध' कहते हैं।

3. जिस बन्ध का कभी अभाव नहीं होगा उसे 'ध्रुव बंध' कहते है। इसमें विशेषता यह है कि यह ध्रुव बंध मात्र अभव्यों के होता है।

4. जिस बन्ध का अन्त आ जावे अर्थात् जिसका अभाव हो जायेगा उसे 'अध्रुव बंध' कहते हैं। यह बन्ध मात्र भव्यों का होता है।

*** उत्कृष्टादि चार बंध और सादि आदि चार बंध, प्रकृति आदि चार बंधों में किस प्रकार बँधते हैं उसका स्वरूप कहते हैं।**

सर्वप्रथम प्रकृति बंध की विवेचना करते हैं। प्रकृति बंध में यह विशेषता है कि प्रकृति बंध में उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट-अजघन्य-जघन्य ये चार प्रकार के बंध नहीं बँधते। इसका कारण यह है कि प्रकृति बंध का मापने का कोई मापदण्ड नहीं है। प्रकृति अर्थात् स्वभाव, अत: जो बंध स्वभाविक है तो उसमें कोई उत्कृष्ट-जघन्य का प्रश्न ही नहीं उठता इसलिए प्रकृति बंध में यह उत्कृष्टादि बंध नहीं पाये जाते।

* अब मूल प्रकृतियों में सादि-अनादि इत्यादि रूप बन्ध के भेदों को विशेष रूप से कहते हैं-

छह कर्मों का प्रकृति बन्ध सादि, अनादि, ध्रुव एवं अध्रुव रूप से चारों प्रकार का होता है, किन्तु वेदनीय कर्म का बन्ध सादि बिना तीन प्रकार का होता है और आयु कर्म का अनादि तथा ध्रुव बन्ध के बिना दो प्रकार का अर्थात् सादि और अध्रुव बन्ध ही होता है।

प्रश्न– वेदनीय कर्म का सादि बंध क्यों नहीं होता?

समाधान– क्योंकि वेदनीय कर्म की बंध व्युच्छत्ति 13वें गुणस्थान में होती है और 13वें गुणस्थान से केवली होने के पश्चात् पुन: बंध प्रारंभ नहीं होता इसलिए वेदनीय कर्म में सादि बंध नहीं पाया जाता।

प्रश्न– आयुकर्म में अनादि बंध व ध्रुव बंध क्यों नहीं होता?

समाधान– आयुकर्म मात्र आठ अपकर्ष कालों में ही बँधता है अथवा भुज्यमान आयु के अन्त में आयुकर्म का बंध होता है इसलिए आयुकर्म में अनादि बंध नहीं पाया जाता मात्र सादि बंध ही होता है तथा आयुकर्म मात्र अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही बँधता है इस कारण अध्रुव बंध ही होता है, ध्रुव बंध नहीं।

* अब उत्तर प्रकृतियों में इन चार बन्धों की विशेषता कहते हैं-

मोहनीय के बिना तीन घातिया कर्मों की 19 प्रकृतियाँ, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, जुगुप्सा, तेजस, कार्मण और अगुरुलघु युगल तथा निर्माण, वर्णादिचार में 47 प्रकृतियाँ ध्रुव बंधी कहलाती है। इन ध्रुव बंधी प्रकृतियों में सादि इत्यादि चारों प्रकार का बन्ध होता है तथा शेष 73 प्रकृतियों के सादि और अध्रुव बंध ही होता है।

प्रश्न – शेष 73 प्रकृतियों में सादि और अध्रुव बन्ध ही क्यों पाये जाते हैं?

समाधान– तीर्थंकर, आहारकद्विक और चार आयु इन सात प्रकृतियों का निरन्तर बँधने का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त है, शेष 66 प्रकृतियों का निरन्तर बँधने का काल जघन्य से एक समय है, इसके पश्चात् इनका बंध रुक जाता है। अत: इन 73 प्रकृतियों में सादि और अध्रुव बंध सिद्ध हुआ।

*** अब स्थिति बंध में सादि इत्यादि और उत्कृष्टादि बंधों की विवेचना करते है–**

सर्वप्रथम मूल प्रकृतियों में कहते हैं-

आयु कर्म के बिना सात मूलकर्मों का अजघन्य स्थिति सादि, अनादि, ध्रुव एवं अध्रुव के भेद से वह चार प्रकार का है तथा आयुकर्म के बिना शेष सात मूल कर्मों का उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्यस्थिति बन्ध

ये तीनों बंध सादि और अध्रुव के भेद से मात्र दो प्रकार का ही है। आयुकर्म के उत्कृष्टादि चारों ही प्रकार का स्थिति बंध सादि एवं अध्रुव के भेद से दो प्रकार का ही है।

प्रश्न– आयुकर्म के उत्कृष्टादि चारों ही प्रकार के स्थिति बंध सादि एवं अध्रुव रूप से क्यो बँधता है?

समाधान– इस प्रश्न का समाधान हम पूर्व में कर आये हैं।

प्रश्न– अजघन्य स्थिति बंध का सादि इत्यादि चारों रूप से बँधने का स्वरूप क्या है?

समाधान– आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों का जघन्य स्थिति बंध क्षपक श्रेणी में ही होता है। जब तक जघन्य स्थिति बंध प्राप्त नहीं होता और तब तक जो अनादि से स्थिति बंध चला आ रहा है वह अजघन्य स्थिति बंध होगा। अत: उपशम श्रेणी में अजघन्य स्थिति होता है और जब ग्यारहवें गुणस्थान में कषायों का अभाव होने से स्थिति बंध रुक जाता है तथा पुन: वहाँ से गिरने पर अजघन्य स्थिति बंध होने लगता है और अब जो बंध प्रारंभ हुआ वह सादि होगा। अजघन्य स्थिति बंध अभव्यों के ध्रुव बंधी है क्योंकि अभव्य कभी क्षपक श्रेणी चढ़ेगा नहीं इसलिए इस अजघन्य बंध से छूट नहीं पायेगा और भव्य क्षपक श्रेणी में जघन्य बंध प्राप्त करके इससे छूट जायेगा इसलिए उसके अध्रुव बंध बनेगा। इस प्रकार सादि इत्यादि चार बंधों में अजघन्य बंध की व्याख्या समझनी चाहिए।

प्रश्न–उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बंध सादि और अध्रुव के भेद से मात्र दो ही प्रकार का क्यों होता है?

समाधान– क्योंकि, उत्कृष्ट स्थिति बंध मात्र मिथ्यादृष्टि जीव के तीव्र संक्लेशता होने पर बँधता है, अनादिकाल से नहीं चला आ रहा है, इसलिए इसका सादि बंध ही बनता है अनादि नहीं और यह उत्कृष्ट स्थिति बंध लगातार नहीं बनता है इसलिए ध्रुवबंधी भी नहीं है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति बंध में सादि और अध्रुव बंध सिद्ध हुए।

जब तक उत्कृष्ट स्थिति बंध की प्राप्ति नहीं होती तब तक अनुत्कृष्ट स्थिति बंध भी नही प्राप्त हो सकता। अत: यह भी अनादि से नहीं बँधा आ रहा है इसलिए सादि है और यह अनुत्कृष्ट बंध लगातार न बँधने के कारण ध्रुव बंधी भी नहीं है। इस प्रकार अनुत्कृष्ट स्थिति बंध में सादि, अध्रुव बंध की ही सिद्धि होती है।

अब जघन्य स्थिति बंध मात्र क्षपक श्रेणि में होता है इसलिए यह भी अनादि नहीं है, सादि हुआ और यह जघन्य स्थिति बंध के बँधने का काल मात्र अन्तर्मुहूर्त ही है इसलिए यह ध्रुव बंधी भी नहीं है। इस प्रकार जघन्य स्थिति बंध में सादि और अध्रुव बंध की सिद्धि हुई

अब उत्तर प्रकृतियों के जघन्यादि रूप स्थिति भेदों में जो सादि इत्यादि भेद हैं उन्हें कहते हैं–

सञ्ज्वलन चतुष्क तथा सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में व्युच्छिन्न होने वाली ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों की 14, इन 18 प्रकृतियों का अजघन्य स्थिति बंध सादि–अनादि ध्रुव, अध्रुव के भेद से चार प्रकार का है

और जघन्यादि तीन भेदों के सादि व अध्रुव रूप दो ही भेद हैं शेष 102 प्रकृतियों के जघन्यादि चार भेदों के भी सादि और अध्रुव रूप दो भेद हैं।

*** अब क्रम प्राप्त अनुभाग बंध में सादि इत्यादि भेदों के सर्वप्रथम मूल प्रकृतियों में कहते हैं।**

घातिया कर्मों का अजघन्य अनुभाग बन्ध, वेदनीय व नाम कर्मों का अनुत्कृष्ट अनुभाग बन्ध और गोत्र कर्म का अजघन्य व अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध भी सादि, अनादि, ध्रुव एवं अध्रुव रूप है तथा घातिया कर्मों का उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट व जघन्य अनुभाग, वेदनीय व नाम कर्म का उत्कृष्ट, अजघन्य व जघन्य अनुभाग, गोत्रकर्म का उत्कृष्ट, अजघन्य व जघन्य अनुभाग, गोत्र कर्म का उत्कृष्ट, जघन्य अनुभाग एवं आयुकर्म का उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, अजघन्य व जघन्य अनुभाग बन्ध सादि और अध्रुव के भेदों से दो प्रकार का है।

प्रश्न– आठों कर्मों के उत्कृष्ट व जघन्य अनुभाग बंध में अनादि व ध्रुव बंध क्यों नहीं होता?

समाधान–आठों कर्मों के उत्कृष्ट व जघन्य अनुभाग बंध में अनादि व अध्रुव बंध इसलिए नहीं होते क्योंकि हम जैसा स्थिति बंध में कह आये थे उसी प्रकार यहाँ अनुभाग बंध में समझना चाहिए कि उत्कृष्ट व जघन्य बंध तीव्र संक्लेशता अथवा प्रचंड विशुद्धता होने पर होता है इसलिए यह उत्कृष्ट व जघन्य बंध में कभी भी अनादि बंध व ध्रुव बंध नहीं पाया जाता।

प्रश्न– ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मों के अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध में अनादि व ध्रुव बंध क्यों नहीं है?

समाधान– इन घातियों कर्मों में अनादि काल से अजघन्य बंध ही होता है इसलिए वह अनादि है, उत्कृष्ट अनुभाग का बंध संज्ञी पंचेन्द्रिय सातवें नरक का नारकी विशिष्ट संक्लेश में संयुक्त होकर करता है, इसलिए उत्कृष्ट बंध व अनुत्कृष्ट बंध सादि और अध्रुव है। अत: यह सिद्ध हुआ कि अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध में अनादि व ध्रुव बंध नहीं पाया जाता।

प्रश्न– वेदनीय और नाम कर्म के अजघन्य अनुभाग बंध में अनादि व ध्रुव बंध क्यों नहीं है।

समाधान– साता वेदनीय और नाम कर्म का जघन्य अनुभाग बंध सातवें नरक के नारकी के विशिष्ट संक्लेश से और असाता वेदनीय का जघन्य अनुभाग बंध छँटवें गुणस्थान में होता है और जब तक जघन्य बंध प्राप्त नहीं होगा तब तक अजघन्य बंध भी नहीं बँधेगा इसलिए अजघन्य अनुभाग बंध में सादि और अध्रुव दो ही भेद बनते है।

प्रश्न– आयुकर्म के उत्कृष्टादि चारों ही अनुभाग बंध में अनादि व ध्रुव बंध क्यों नहीं पाया जाता?

समाधान– आयु कर्म की विशेषता पूर्व में बतलाई थी वही विशेषता यहाँ भी समझनी चाहिए।

उत्तर प्रकृतियों में अर्थात् ध्रुव प्रकृतियों में प्रशस्त, अप्रशस्त एवं अध्रुव प्रकृतियों के जघन्य, अजघन्य, अनुत्कृष्ट व उत्कृष्ट अनुभाग सम्बन्धी सादि, अनादि ध्रुव और अध्रुव भेदों का कथन करते हैं।

प्रशस्त ध्रुव प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट तथा अप्रशस्त प्रकृतियों का अजघन्य अनुभाग बंध सादि, अनादि, ध्रुव व अध्रुव के भेद से चार प्रकार का है। प्रशस्त ध्रुव प्रकृतियों का उत्कृष्ट, अजघन्य, जघन्य एवं अप्रशस्त ध्रुव प्रकृतियों का जघन्य, अनुत्कृष्ट, उत्कृष्ट तथा अध्रुव प्रकृतियों का जघन्य आदि चारों प्रकार का अनुभाग बन्ध सादि और अध्रुव के भेद से दो प्रकार का है।

प्रश्न– प्रशस्त ध्रुव प्रकृतियाँ कौनसी है? व अजघन्य बंध में अनादि व ध्रुव बंध क्यों नहीं है?

समाधान– तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण ये चार प्रकृतियाँ प्रशस्त ध्रुव बंधी है। इन चार प्रकृतियों का जघन्य बंध चारों गति के जीव उत्कृष्ट संक्लेश के साथ करते हैं और इन प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट बंध ही अनादि से होता है अजघन्य नहीं होता इसलिए अजघन्य अनुभाग बंध में अनादि व ध्रुव बंध नहीं पाया जाता।

प्रश्न– अप्रशस्त ध्रुव बंधी प्रकृतियाँ कौनसी हैं तथा इनके अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध में अनादि व ध्रुव बंध क्यों नहीं पाया जाता?

समाधान– 5 ज्ञानावरण, 9 दर्शनावरण, 5 अन्तराय, मिथ्यात्व, 16 कषाय, भय, जुगुप्सा और उपघात ये 39 अप्रशस्त ध्रुव बन्धी प्रकृतियाँ है तथा शेष 73 प्रकृतियाँ अध्रुव बंधी है। इन 39 प्रकृतियों के अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध इसलिए नहीं पाया जाता क्योंकि उत्कृष्ट अनुभाग बंध तीव्र संक्लेश परिणामी के ही होगा इसलिए इसमें अनादि व ध्रुव बंध नहीं पाया जाता।

प्रश्न– जो शेष 73 अध्रुव बंधी है उनमें जघन्यादि चारों ही अनुभाग बंध में सादि और अध्रुव बंध ही क्यों पाया जाता है?

समाधान– इन शेष 73 प्रकृतियों का नाम ही अध्रुव प्रकृतियां है। अध्रुव अर्थात् जो लगातार न बंधे वह अध्रुव बंधी है अत: लगातार न बंधने के कारण इनमें अनादि व ध्रुव बंध नहीं होता इसलिए मात्र सादि व अध्रुव बंध ही पाया जाता है।

नोट– प्रशस्त ध्रुव बंधी हो या अप्रशस्त ध्रुव बंधी हो सभी प्रकृतियों के उत्कृष्ट व जघन्य अनुभाग बंध नियम से सादि व अध्रुव दो ही प्रकार से होता है। क्यों होता है इसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है।

अब क्रम प्राप्त प्रदेश बन्ध में उत्कृष्टादि बंधों के सादि इत्यादि भेद मूल प्रकृतियों में कहते है–

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र व अन्तराय इन 6 कर्मों का अनुत्कृष्ट प्रदेश बन्ध सादि इत्यादि चारों ही प्रकार का है तथा शेष उत्कृष्टादि तीन प्रकार के प्रदेश बंध में सादि और अध्रुव रूप दो भेद हैं। मोहनीय व आयुकर्म का उत्कृष्ट आदि चारों प्रकार का प्रदेश बन्ध सादि व अध्रुव के भेद से दो प्रकार का है।

प्रश्न– ज्ञानावरणादि 6 कर्मों का अनुत्कृष्ट प्रदेश बन्ध सादि इत्यादि चार प्रकार से कैसे और कहाँ बँधता है?

समाधान– सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में समय प्रबद्ध का कुलद्रव्य इन छह कर्मों को मिलने से ज्ञानावरणादि छहों कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेश बन्ध होता है। जिन्होंने सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान को प्राप्त नहीं किया उनके इन ज्ञानावरणादि छह कर्मों का अनुत्कृष्ट प्रदेश बन्ध अनादि है। जो उपशम श्रेणी से गिर गये हैं उनके इन 6 कर्मों का अनुत्कृष्ट प्रदेश बन्ध सादि है तथा भव्य के अध्रुव एवं अभव्य के ध्रुव बन्ध होता है। इस प्रकार सादि इत्यादि चार प्रकार का बंध अनुत्कृष्ट प्रदेश बंध में पाया जाता है।

प्रश्न– मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट बंध अनादि व ध्रुव रूप कैसे बंधता है?

समाधान– मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट प्रदेश बंध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि जीव के होता है जो पुनः पुनः प्राप्त हो सकता है, अतः मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट प्रदेश बन्ध सादि व अध्रुवरूप होता है। इसलिए अनादि व ध्रुव बंध नहीं पाया जाता।

प्रश्न– आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों में जघन्य व अजघन्य प्रदेश बंध में अनादि व ध्रुव बंध क्यों नहीं है।

समाधान– इन सातों कर्मों का जघन्य प्रदेश बन्ध सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त के प्रथम समय में होता है। सो वह पुनः पुनः प्राप्त होता रहता है इसलिए इन सात कर्मों का जघन्य व अजघन्य प्रदेश बंध सादि व अध्रुव ही होता है।

प्रश्न– आयुकर्म का उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदेश बन्ध में अनादि व ध्रुव बंध क्यों नहीं होता?

समाधान– आयु कर्म का प्रदेश बन्ध निरन्तर नहीं होता। अतः आयु का उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदेश बंध सादि एवं अध्रुव रूप होता है।

अब उत्तर प्रकृति सम्बन्धी उत्कृष्टादि चतुर्विध प्रदेश बन्ध में सादि इत्यादि चार प्रकार के बन्ध का विवेचन करते हैं।

उत्तर प्रकृतियों में पाँच ज्ञानावरण, 5 अन्तराय, निद्रा, प्रचला, चक्षु–अचक्षु–अवधि और केवल दर्शनावरण, अप्रत्याख्यानावरण–प्रत्याख्यानावरण–संज्वलन क्रोध–मान–माया–लोभ, भय जुगुप्सा इन 30 प्रकृतियों के अनुत्कृष्ट प्रदेश बंध सादि इत्यादि रूप से चार प्रकार का है। अवशेष उत्कृष्ट, अजघन्य और जघन्य प्रदेश बन्ध सादि व अध्रुव के भेद से दो प्रकार का है तथा शेष 90 प्रकृतियों का उत्कृष्टादि चारों प्रकार का प्रदेश बंध सादि–अध्रुव के भेद से दो प्रकार का ही है।

प्रश्न– इन 30 प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट प्रदेश बन्ध सादि इत्यादि रूप बंधने का क्या स्वरूप है?

समाधान– इन 30 प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेश बन्ध श्रेणी में होता है, किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का चतुर्थ गुणस्थान में और प्रत्याख्यानावरण कषाय का पञ्चम गुणस्थानों में होता है, अतः जो श्रेणी पर

आरूढ़ नहीं हुए अथवा चतुर्थ व पञ्चम गुणस्थान को प्राप्त नहीं हुए उनके इन 30 प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट प्रदेश अनादि है, जो चढ़कर पुन: गिर गये है उनके सादि है भव्य की अपेक्षा अध्रुव और अभव्य की अपेक्षा ध्रुव है। इस प्रकार 30 प्रकृतियों सादि इत्यादि चार प्रकार के बंध की सिद्धि हुई।

नोट:- शेष 90 प्रकृतियों में सादि व अध्रुव बंध ही होता है। इसका विवेचन मूल प्रकृतियों के अनुसार ही समझना चाहिए।

*****

दश करण का महत्त्व
कर्मों की दश अवस्थाएँ

–श्रमणी आर्यिका 105 विमलश्री माताजी

संघस्थ: उच्चारणाचार्य 108 श्री विनम्रसागर जी महामुनिराज

कर्म और आत्मा का प्रवाह अनादि संबंध है जब कर्म आत्मा से संबंध बनाते हैं तब उनकी दश अवस्थाएँ बनती हैं, इनको दश करण कहते हैं। और यही कर्म बंध होने के पश्चात् एक आावली तक वैसा का वैसा ही पड़ा रहता है। जो दस प्रकार की अवस्था रूप प्रक्रिया होती हैं उन्हें करण संज्ञा प्राप्त है उसके बाद दस करण के अनुसार काम करता है।

बंधुक्कट्ट करणं, संकममोकट्टुदीरणां सत्तं।
उदयुवसामणि धत्ती, णिकाचणा होदि पडिपयडी।।

बंध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशम, निर्धात्त और निकाचित ये दस करण कर्म प्रकृतियों के होते हैं।

1. बंध –

1. एकी भावो बंधो*[1] (ध.पु. 13), **2. बंधो णाम दुभाव परिहारेण एयत्तावत्तो***[2] (ध.पु.13),
3. श्लेषलक्षण: बंध:*[3] (रा.वा. 5/33)
4. जीव कम्माणं मिच्छत्तासंजम कसाय जोगेहिं एयत्त परिणामो बंधो*[4](ध.पु.8)

बंध चार प्रकार का है – 1. प्रकृति बंध 2. स्थिति बंध 3. प्रदेश बंध 4. अनुभाग बंध यहाँ प्रकृति बंध का विशद् वर्णन है। द्रव्य व भावबंध से बंध दो प्रकार का है।

भाव णिमित्तो बंधो, भावो रदिरागदोसमोह जुदो*[5] (पं.का. 148), बंध का निमित्त भाव है। भाव रति राग–द्वेष मोह से युक्त है।

वत्थुं पडुच्च तं पुण अज्झवसाणंति भवई ववहारो।
ण य वत्थुदो हु बंधो बंधो अज्झप्पजोएण।।*[6] **(क.पा.गा.51)**

यद्यपि वस्तु की अपेक्षा करकेअध्यवसान होते हैं ऐसा व्यवहार कहता है, परन्तु केवल वस्तु के निमित्त से बंध नहीं होता आत्म परिणाम से होता।

2. उत्कर्षण–

कम्मप्पदेसट्लिदि वट्ठावण मुक्कड्डणा।*[7] (ध.10)
स्थित्यनुभागयोर्वृद्धि: उत्कर्षण।*[8] (कर्म 438)

उत्कर्षण कर्म बंध के समय ही होता है, कर्मों में उत्कर्षण हमेशा संक्लेशता में ही होता है वह संक्लेशता दो प्रकार की होती है प्रशस्त व अप्रशस्त। जब बंध के समय विशुद्धि होती है उस समय प्रशस्त संक्लेशता होती है। इससे पुण्य व प्रशस्त प्रकृतियों के स्थिति अनुभागादि में वृद्धि होती है और जब बंध के समय संक्लेशता होती है तब अप्रशस्त व पाप प्रकृतियों के स्थिति आदि बढ़ती हैं इसे उत्कर्षण कहते हैं। जैसे प्रथम समय में किसीने 10 कोड़ा कोड़ी सागर का बंध किया। दूसरे समय में 15कोड़ा कोड़ी किया तो जो 10 कोड़ा कोड़ी सागर का द्रव्य था उसी में वृद्धि हुई यह उत्कर्षण है।

3. अपकर्षण

कम्म पदेसाणं ठिदीणमोवट्टणा ओक्कड्डणा णामं*[1] अर्थात् कर्म प्रदेशों की स्थितियों का अपवर्तन (ध.10)

स्थित्यनुभागयोर्हानिरपकर्षण णाम*[2] अर्थात् स्थिति व अनुभाग की हानि का नाम अपकर्षण है। (कर्म का. 438)

भेद – 1. व्याघात और 2. अव्याघात से दो प्रकार का है, जहाँ स्थितिकांडक घात सो व्याघात, नहीं तो अव्याघात होता है।

4. संक्रमण

अवत्थादो अवत्थंतरं संकंति संकमोत्ति*[3] (ध.9)

जा पयडी अण्णपयडिं णिज्जदि एसो पयडिसंकमो*[4] (ध.16)

कम्म संकमो चउव्विहो*[5] (ध.8)

अन्य प्रकृति रूप परिणमने को संक्रमण कहते है। जिस प्रकृति का बंध होता है उसी का संक्रमण होता है ऐसा एकांत से नियम नहीं समझना क्योंकि सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व का बंध नहीं होता अपितु संक्रमण होता है, ऐसा नियम उन प्रकृतियों के लिए है जिनका बन्ध होता है।

1. प्रकृति, 2. स्थिति, 3. अनुभाग 4. प्रदेश संक्रमण

प्रकृति संक्रमण–

उव्वेलण विज्झादो अधापवत्तो गुणो य सव्वो य।
संकमदि जेहि कम्मं, परिणाम णसेण जीवाणं।।*[6](पंच भागहार 409)

संसारी जीवों के अपने जिन परिणामों से शुभ व अशुभ कर्म पर प्रकृति रूप परिणमें उन परिणामों को संक्रमण कहते हैं। यह संक्रमण 5 प्रकार का होता है। पर प्रकृति रूप जो परिणमे उसे संक्रमण कहा है यहाँ विचारणीय बात यह भी है कि सभी मूल प्रकृति का संक्रमण नहीं होता, उत्तर प्रकृति का अपनी ही सजातीय प्रकृति में संक्रमण होता है जैसे दर्शनावरणी का कभी ज्ञानावरणी स्वरूप नहीं होता अपितु दर्शनावरणी के ही

उत्तर भेदों में होगा। इसी प्रकार ज्ञानावरणी का समझना चाहिए। दर्शन मोहनीय का कभी चारित्र मोहनीय रूप नहीं होता चारित्र मोहनीय कभी दर्शन मोहनीय रूप नहीं होता किंतु अपने-अपने सजातीय स्वरूप ही संक्रमित होते हैं1 आयु कर्म का पर प्रकृति रूप संक्रमण नहीं होता।

1. उद्वेलना, 2. विध्यात, 3. अध:प्रवृत्त, 4. गुण व 5 सर्व संक्रमण

1. उद्वेलना संक्रमण – उकेलना = जो प्रकृति बंधी उसे पूर्णरूप परिवर्तित करना संपूर्ण द्रव्य कुछ कम डेढ़ गुणहानि प्रमाण जो कि अनंत द्रव्य होता है। उसमें पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देने पर जो द्रव्य आये उतने द्रव्य का उद्वेलन एक समय में करता है यह द्रव्य भी अनंत होता है। ऐसा करण परिणामों के बिना रस्सी को उकेलने के समान कर्म प्रदेशों का पर प्रकृति रूप से संक्रात होना उद्वेलना संक्रमण है। जब जीव विशुद्धि रहित होता है तब होता है।

भागहार अंगुल का असंख्यातवां भाग

2. विध्यात संक्रमण– मंद विशुद्धता वाले जीव की स्थिति अनुभाग घटाने रूप, भूतकालीन स्थिति कांडक और अनुभाग कांडक तथा गुणश्रेणी आदि परिणामों में प्रवृत्ति होना विध्यात संक्रमण है।

वेदक सम्यक्त्व काल के भीतर दर्शन मोहनीय की क्षपणा संबंधी अध:प्रवृत्तकरण के अंतिम समय तक सर्वत्र ही मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व का विध्यात संक्रमण होता है तथा उपशम सम्यग्दृष्टि के भी गुण संक्रमकाल के पश्चात् सर्वत्र विध्यात संक्रमण होता है।

भागहार – अंगुल का असंख्यातवां भाग, यह उद्वेलना से असंख्यात गुणहीन है।

3. अध:प्रवृत्त संक्रमण – बंध प्रकृतियों का अपने बंध के संभव विषय में जो प्रदेश संक्रम होता है वह अध:प्रवृत्त संक्रमण है।

जिन प्रकृतियों का बंध होता है उनमें कर्म बंध के समय अध:प्रवृत्त संक्रम होता है जिनका बंध नहीं होता उनमें बंध के बिना भी होता है जैसे – सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व प्रकृति का मिथ्यात्व रूप होना। अत: दर्शनमोहनीय के बिना शेष प्रकृतियाँ बंध होने पर उनमें ही संक्रमण रूप होती है ऐसा नियम है। जैसे ज्ञानावरण दर्शनावरण रूप नहीं होती पर ज्ञानावरण की उत्तर प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण पाया जाता है। जैसे कि ट्रेन का रिजर्वेशन कराया तो उस ट्रेन की किसी भी सीट पर बैठ सकते हैं लेकिन एक ट्रेन के टिकिट से दूसरी ट्रेन में सफर नहीं कर सकते।

भागहार पल्योपम का असंख्यातवां भाग

4. गुण संक्रमण – जहाँ पर प्रति समय असंख्यात गुण श्रेणी के क्रम से परमाणु प्रदेश अन्य प्रकृति रूप परिणमें उसे गुण संक्रमण कहते हैं।

अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर दर्शनमोहनीय की क्षपणा में, चारित्र मोहनीय की क्षपणा में, उपशम

श्रेणी में, अनंतानुबंधी की विसंयोजना में, सम्यक्त्व की उत्पत्ति में तथा सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की उद्वेलना के अंतिम काण्डक में अर्थात् उपशम सम्यक्त्व के काल तक गुण संक्रम होता है।

भागहार – पल्य के असंख्यातवें भाग लेकिन अध:प्रवृत्त संक्रमण भागहार से असंख्यात गुणाहीन है।

5. सर्व संक्रमण – सभी प्रदेशों का संक्रम सर्व संक्रमण है। 1. उद्वेलना, 2. क्षपणा और 3. विसंयोजना में अंतिम स्थिति काण्डक की अंतिम फालि के संक्रम के समय होता है।

भागहार अंक प्रमाण है।

	संक्रमण	भागहार	समय
1.	उद्वेलना संक्रमण	अंगुल का असंख्यातवां भाग	पल्य का असंख्यातवां भाग
2.	विध्यात संक्रमण	” ” ” ”	66 सागर
3.	अध: प्रवृत्त संक्रमण	पल्योपम ” ”	अंतर्मुहूर्त
4.	गुण संक्रमण	” ” ” ”	”
5.	सर्व संक्रमण	अंक प्रमाण	एक समय

5. उदीरणा

कर्म बंध के पश्चात् एक आवली/बंधावली व्यतीत होने पर अपकर्षण कर जो उदय में दिया जाता है वह उदीरणा है।*[1] (ध.6) नहीं पके कर्मों को पकाने का नाम उदीरणा है।*[2] (ध. 15)

जिन कर्मों का उदयकाल प्राप्त नहीं हुआ है उन्हें उपाय विशेष से पचाना या उदय में लाना उदीरणा है।*[3] (ध.10)

अपक्क परिपाचन मुदीरणेति वचनात् क्योंकि अपक्व का परिपाचन उदीरणा है ऐसा वचन है।

जैसे – पाल में आम पकाना।

उदयागत प्रकृतियों की ही उदीरणा होती है।

(पंच सं.) कर्मों के फल का भोगने के काल को उदय कहते हैं और अपक्व कर्मों के पाचन को उदीरणा कहते हैं।

6. सत्त्व – सत्त्व का अर्थ अस्तित्व है।*[4] (ध.6)

कर्म बंध की ही बँधने के दूसरे समय से निर्लेपन अर्थात् क्षपण होने के अंतिम समय तक सत्त्व संज्ञा है।

पुद्‌गल का कर्म रूप होकर आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह संबंध रहना सत्त्वकरण कहलाता है।

अकर्मबंध व कर्मबंध रूप संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण के पश्चात् कर्म का सत्त्व होता है और जब तक उस कर्म का वेदन होकर अकर्म भाव को प्राप्त नहीं होता तब तक उस कर्म का सत्त्व रहता है। अत: जिन कर्मों का सत्त्व है उन्हीं कर्मों का वेदन होता है। वह वेदन कर्मोदय व उदीरणा के द्वारा होता है।

(पं.सं.) **धण्णस्स संगले वा संतं** धन धान्य के संग्रह के समान जो पूर्व संचित कर्म है उनके आत्मा में अवस्थित रहने को सत्त्व कहते हैं।

7. उपशामना

उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदय, उदीरणा के बिना कर्म का सत्ता में रहना उपशामना है। उपशामना दो प्रकार की है।

1. प्रशस्त

✻ 1. अध:करण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरणों के द्वारा जो मोहनीय कर्म की उपशामना होती है वह प्रशस्तोपशामना है।

✻ 2. प्रशस्तोपशामना केवल मोहनीय कर्म में ही होती है।

2. अप्रशस्त

बंध के समय सभी कर्मों के कुछ प्रदेशों में अप्रशस्तोपशामना होती है, यहाँ उसका प्रकरण है।

8. उदय

ते च्चेथ फलदाण समये उदयववएसं पडिवज्जंति*[1] अर्थात् जीव से संबद्ध हुए वे कर्मस्कंध फल देने के समय में ''उदय'' इस संज्ञा को प्राप्त होते हैं। (जय.ध.1)

यथाकाल उत्पन्न हुए फल के विपाक का नाम कर्मोदय है और कर्मोदय का नाम उदय है।*[2] (ज.ध.10)

''**स्वफलसंपादन समर्थकर्मावस्था लक्षणान्युदय स्थानानि**'' कर्मों का अपना फल देने की समर्थता रूप अवस्था को प्राप्त होना उदय का लक्षण है।*[3] (स.सा.53)

कर्माणामनुभवनमुदय: कर्मफल का वेदन उदय कहलाता है।*[4] (प्रा.पं.सं.)

कर्मणां फलदान समर्थतयोद् भूतिरुदय: कर्मों का फलदान समर्थ रूप से उद्भव सो उदय है।

जो कर्म स्कंध अपकर्षण, उत्कर्षणादि प्रयोग बिना स्थिति क्षय को प्राप्त होकर अपना-अपना फल देते हैं उनकी उदय संज्ञा है।*[5] (ध.पु. 6)

9. निधत्ति – जो कर्म प्रदेशाग्र उदय में देने के लिए अथवा अन्य प्रकृति रूप परिणमने के लिए शक्य नहीं है वह निधत्ति है।*[6] (ध.पु. 9)

जो कर्म अपकर्षण और उत्कर्षण के अविरुद्ध पर्याय के योग्य होकर पुन: उदय और पर प्रकृति संक्रमण रूप न हो सकने की प्रतिज्ञा रूप से स्वीकृत उसकी उस अवस्था विशेष को निधत्तीकरण कहते हैं अर्थात् जो कर्म संक्रमण व उदीरणा के योग्य नहीं है।*[7] (ज.ध.13) किन्तु उत्कर्षण व अपकर्षण के लिए शक्य है।*[8] (ध.16)

यत्कर्म उदयावल्या निक्षेप्तं संक्रामयितुं चाशक्यं तन्निधत्तिर्नाम।[*1] जो कर्म उदयावलि विषै प्राप्त करने व प्रकृति रूप संक्रमण करने को समर्थ नहीं है, सो उसे निधत्ति कहते है। (गो.क.का. 440)

10. निकाचित

''**जं पदेसंग्गं ओकड्डिदुं णो सक्कं, उक्कड्डिदुं णो सक्कं अण्ण पयडिं संकामिदु णो सक्कं उदए दादुं णो सक्कं तं पदेसग्गं णिकाचिदं णाम**'' (ध.16)

जो कर्म-प्रदेशाग्र अपकर्षण, उत्कर्षण, अन्य प्रकृति रूप संक्रमण तथा उदय में देने के लिए शक्य नहीं है उन प्रदेशाग्र को निकाचितकरण कहते हैं।[*2] (ध.16)

उदयावल्यां निक्षेप्तुं संक्रामयितु मुत्कर्षयितु मपकर्षयितुं चाशक्यं तन्निकाचित्त नामं भवति।

जो कर्म उदयावलि विषैं प्राप्त करने को वह अन्य प्रकृति रूप संक्रमण करने को वा उत्कर्षण करने को समर्थ न हूजे सो निकाचित कहिए।[*3](क.का.440)

जिन बिंब के दर्शन से निधत्ति और निकाचित रूप मिथ्यात्वादि कर्म का फल क्षय होता जाता है।[*4] (ध.6)

करण	परिभाषा	उदाहरण
1. बंध	एकीभावो बंधः श्लेष लक्षणः द्वित्व का त्याग एकत्व की प्राप्ति बंध है	1. पूज्य गुरुदेव को चातुर्मास का श्रीफल चढ़ाया आशीर्वाद व संकेत मिला। 2. किसी दुकानदार ने माल मँगाया गोदाम में रखा।
2. उत्कर्षण	स्थित्यनुभागयोर्वृद्धिः उत्कर्षण	1. इस वर्ष नहीं अगले वर्ष होगा चातुर्मास। 2. भाव घट जाने के कारण कुछ दिन बाद माल बेचेंगे।
3. अपकर्षण	स्थित्यनुभागयोर्हानि रपकर्षण णाम	1. विधान या वाचना हेतु पहले ही निवेदन करके बुला लिया भाव। 2. भाव घटने से पहले ही माल बेच दिया।
4. संक्रमण	अवत्थादो अवत्थंतरं संकंति संक्रमोत्ति	1. गुरुदेव स्वयं न आये अपने शिष्य को भेज दिया। 2. वही माल न देकर उसी जैसा मिलता जुलता माल दे दिया।
5. उदीरणा	अपक्क परिपाचन मुदिरणेति वचनात्	1. निश्चित तिथि के पहले ही प्रवेश हो गया। 2. 10 बजे दुकान खुलने का समय है 8 बजे ही दुकान खोल दी। (पाल में आम पकाना।)
6. सत्त्व	बंध के दूसरे समय से निर्लेपन/ क्षपण के अंतिम समय तक सत्त्व संज्ञा	1. जिस समय से श्रीफल भेंट किया तब से जब तक प्रवेश नहीं हुआ तब तक का समय। 2. जितना सामान रखा है वह सत्ता है।
7. उपशामना	उत्कर्षण अपकर्षण संक्रमण उदय उदीरणा बिन कर्म का सत्ता में रहना	1. चातुर्मास प्रारम्भ होने से पहले कोई क्लास या शिविर न होना। 2. भाव गिर जाने से बेचना बंद कर देना।
8. उदय	स्वफल संपादन समर्थ कर्मावस्था लक्षणान्युदय स्थानानि	1. निश्चित तिथि के दिन गुरुदेव का प्रवेश हुआ। 2. माल का बिकना।
9. निधत्ति	जो प्रदेशाग्र उदय में देने व अन्य प्रकृति रूप परिणमने में शक्य नहीं	1. समय से पहले नहीं आये व अन्य शिष्यों को भी नहीं भेजा। 2. समय पर ही उसी रेट में माल बेचना।
10. निकाचित	जो प्रदेशाग्र उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण उदीरणा में शक्य नहीं	1. निश्चित समय पर ही प्रवेश हुआ न पहले न बाद में। 2. वही माल यथासमय बेचना आगे पीछे नहीं।

	बंध	उत्कर्षण	अपकर्षण	संक्रमण	उदीरणा	सत्त्व	उपशम	उदय	निधत्ति	निकाचित	कुल करण होते
आयु कर्म	✓	✓	✓	X	✓	✓	✓	✓	✓	✓	9
शेष 7 कर्म	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	10
1 से 8 गुण.तक	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	10
9-10 गुणस्थान	✓	✓	✓	✓	✓	✓	X	✓	X	X	7
13 गुणस्थान	✓	✓	✓	X	✓	✓	X	✓	X	X	6
14 गुणस्थान	X	X	X	X	X	✓	X	✓	X	X	2

*****

विषय – नामकर्म के बंध स्थान

श्रमणी.आ. विनेहश्री
संघस्थ–उच्चारणाचार्य विनम्रसागर जी महामुनिराज

मंगलाचरण

विद्यावारिधि वीतराग–ममलं सम्यक्त्व सम्पत्प्रदं।
सम्यक्बोध विकाशका सुजनका: रत्नत्रयाराधक:।।
श्री सिद्धान्त सुतत्त्व तर्क निपुणं सत्यं शिवं सुंदरं।
तं प्रणमामि विराग सूरि सततं चारित्र मम दायकम्।।

नाम कर्म के बंध स्थान, जानो समझो हे श्रीमान्।
शुभ कर्म से शुभ प्रकृति, अशुभ कर्म से अशुभ ही जान।।
इतकालीस जीवपद कहे नेमिचन्द्र सूरि महान,
करे यहाँ व्याख्यान हम, सुनो–सुनो धीमान्।
अल्पज्ञानी मैं हूँ यहाँ, क्षमा करो गुरुराज।
गुरु विनम्र का सदा–कोटि कोटि प्रणाम।।

सर्वप्रथम महान ग्रंथ के कृतिकार कलिकाल सर्वज्ञ अथाह ज्ञान के समन्दर जिन्होंने कर्म प्रकृतियों का बहुत ही सुन्दर तरीके से कथन किया है ऐसे आचार्य भगवन् नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती को शत्–शत् नमन करके समस्त पूर्वाचार्य, परम्पराचार्यो को नमन करती हूँ व आचार्य भगवन सूरिगच्छाचार्य श्री विरागसागर जी को त्रय भक्ति सहित नमन करती हूँ। मंच पर साक्षात विराजमान चारों अनुयोगों के ज्ञाता, सिद्धान्त, नय, न्याय के पारगामी, दर्शन की महिमा, ज्ञान की गरिमा, चारित्र की परिपक्वता, अध्यात्म की कुशलता, उच्चारण की शुद्धता, विनम्र की विनम्रता जिनके अन्तरंग में समाहित है। ऐसे पूज्य गुरुदेव के चरणों में रहकर जो सीखा है वही आपको सुनाने का प्रयास करेंगे। सभी मनीषी विद्वान कृपया ध्यान से सुनकर त्रुटियों से अवगत कराएँ। यद्यपि विद्वानों की सभा में मैं हास्य की पात्र हूँ, अल्पज्ञ हूँ त्रुटि होना स्वाभाविक है फिर भी गुरु आज्ञा से आप तक पहुँचाने का प्रयास कर रही हूँ।

प्रकृति में जीव और पुद्गल के संयोग से जो भी रचना होती है उसमें कर्म ही निमित्त होता है। हिन्दू दर्शन कहता है ये सब उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है। ब्रह्मा ही सभी जीवों को (84 प्रकार की योनियों के जीवों को) बनाता है लेकिन भगवान महावीर का दर्शन कहता है भगवान अकर्ता है वह क्यों किसी की रचना करेगा। यदि भगवान ही रचना करता तो भगवान को भी रागी, द्वेषी, मायावी कहा जायेगा क्योंकि भगवान् ने किसी को पुरुष किसी को स्त्री, अमीर, गरीब, गधा, नपुंसक बनाया तो यह कहा जायेगा भगवान भी

भेदभाव करते हैं। जो भगवान की भक्ति करता है उसे सुखी बनाते हैं। अत: यहाँ पर भगवान महावीर का सिद्धान्त कहता है यह रचना ईश्वर नहीं करता यह रचना जीव के शुभ व अशुभ कर्म के आधार पर होती है। किसी का शरीर सुंदर है किसी का कुरूप। यह सारी प्रक्रिया नामकर्म के आधार पर होती है नामकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ 93 हैं।

अशुभ नामकर्म– अशुभ नामकर्म से अशुभ प्रकृतियाँ बँधती है।

शुभ नामकर्म – शुभ नामकर्म से जीव शुभ प्रकृतियों को बाँधता है। नामकर्म के स्थानों के आधारभूत 41 जीवपदों का कथन गाथा 519, 520 कर्मकाण्ड में कहा है।

णिरया पुण्णा पण्हं, बादरसुहुमा तहेव पत्तेया।
वियलाऽसण्णी, मणुवा पुण्णा अपुण्णा य।।519।।
सामण्णतित्थकेवलि, उदय समुग्घादगा य आहारा ।
देवावि य पज्जत्ता, इदि जीवपदा हु इगिदाला।।520।।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और साधारण वनस्पतिकाय ये पाँचों ही बादर और सूक्ष्म हैं ये 10, प्रत्येक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, तिर्यंच, संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच, संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य ये 17 पर्याप्त और अपर्याप्त भी होते हैं। इनके 34 भेद–सामान्य केवली, तीर्थंकर केवली, समुद्रघात करने वाले सामान्य और तीर्थंकरकेवली, आहारकशरीरी, देव व नारकी ये सात प्रकार के जीव ये पर्याप्त ही होते हैं इस प्रकार 34 + 7 = 41 भेद जीवों के हैं।

इस कारण इनको 'जीवपद' कहते हैं ये नामकर्म के बंधस्थानों की विवक्षा से कहे गये हैं इन्हें कर्मपद भी कहते हैं।

एक जीव एक समय में जितनी कर्म प्रकृतियों का बंध करता है वह बंधस्थान कहलाता है।

नामकर्म के आठ बंधस्थानों में 23 प्रकृति रूप स्थान अपर्याप्त सहित जीवों के होता है 25 प्रकृति रूप स्थान में पर्याप्त व अपर्याप्त सहित जीवों के होता है।

नाम कर्म के बंध स्थान

प्रश्न–बंधस्थान किसे कहते हैं।

उत्तर– एक जीव एक समय में जितनी कर्म प्रकृतियों का बंध करता है वह बंध स्थान कहलाता है। इस तरह से नामकर्म के बंधस्थानों के विषय में विशेष कथन करेंगे।

2. नामकर्म के कितने बंधस्थान हैं? नामकर्म के बंधस्थान आठ हैं।

कौन–कौन से गुणस्थानों में कितने बंधस्थान व कौन–कौन से हैं?

नामकर्म के बंधस्थान किन जीवों के कौन-कौन से बँधते है? व कौन-कौन सी प्रकृतियाँ होती हैं।

तेवीसं पणवीसं, छव्वीस अट्ठवीसमुगतीसं ।

तीसेक्कतीसमेवं, एक्को बंधो दुसेढिम्हि ।। 521 ।। कर्म का.

नामकर्म के 23, 25, 26, 28, 29, 30, 31 प्रकृति रूप सात बंधस्थान अपूर्वकरण के आठवें भाग पर्यन्त होते हैं।

1. अष्टमबंधस्थान उपशम-क्षपक श्रेणियों में अपूर्वकरण गुण. के सप्तम भाग के प्रथम समय से सूक्ष्म साम्पराय गुण के चरम समय पर्यंत बँधता है।

नामकर्म के बंधस्थानों का गुणस्थानों में कथन

1. प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में बंध स्थान 6 हैं - 23, 25, 26, 28, 29, 30
2. दूसरे सासादन गुणस्थान में बंध स्थान 3 हैं - 28, 29, 30
3. मिश्र गुणस्थान में बंध स्थान 2 हैं - 28, 29
4. असंयत गुणस्थान में बंध स्थान 3 हैं - 28, 29, 30
5. देशसंयत गुणस्थान में बंध स्थान 2 हैं - 28, 29
6. प्रमत्त गुणस्थान में बंध स्थान 2 हैं - 28, 29
7. अप्रमत्त गुणस्थान में बंध स्थान 4 हैं - 28, 29, 30, 31
8. अपूर्वकरण गुणस्थान में बंध स्थान 5 हैं - 28, 29, 30, 31
9. अनिवृत्तिकरण में 1 हैं - 1
10. सूक्ष्मसाम्पराय में 1 हैं -1

नामकर्म के बंधस्थान किन जीवों के कौनसे बँधते हैं। (कर्मकाण्ड गाथा 522 व 523) में कहा है।

ठाणम पुण्णेण जुदं पुण्णेण य उवरि पुण्णगेणेव।
तावदुगाणण्ण दरेणण्ण दरेण मरणिरयाणं।।522।।

णिरयेण विणा तिण्हं, एक्कदरेणेवमेव सुरगहणा।
बंधंति विणा गइणा, जीवा तज्जोग परिणामा।।523।।

23 का बंधस्थान 1. अपर्याप्त सहित एकेन्द्रिय सभी जीवों के 23 प्रकृति बँधती है।

25 का बंधस्थान 2. एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के, दोइन्द्रिय अपर्याप्त, तीनेन्द्रिय अपर्याप्त, चारेन्द्रिय अपर्याप्त, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, अपर्याप्त मनुष्य व अपर्याप्त सहित सभी जीवों के 25 नामकर्म का बंधस्थान होता है।

26 का बंधस्थान – एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के 26 का बंधस्थान होता है तथा आतप उद्योत में से किसी एक प्रकृति सहित बँधता है।

28 का बंधस्थान – देवगति व नरकगति के जीवों को 28 प्रकृति का बंधस्थान है।

29 का बंधस्थान – दोन्द्रिय पर्याप्त सहित, जीव, तीनेन्द्रिय पर्याप्त सहित जीव, चारेन्द्रिय पर्याप्त सहित जीव, पंचेन्द्रिय पर्याप्त सहित जीव, तिर्यंच, मनुष्य व देवगति सहित बाँधते हैं वे जीव 29 प्रकृतियों का बंध करते हैं।

30 का बंध स्थान – दोन्द्रिय पर्याप्त उद्योत सहित जीव, तीनन्द्रिय पर्याप्त उद्योत सहित जीव, चारन्द्रिय पर्याप्त उद्योत सहित जीव, पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच उद्योत सहित देव व नारकी जीव, व सप्तम गुणस्थानवर्ती अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीव बाँधता है। इन जीवों को 30 प्रकृतियों का बंध होता है।

31 का बंधस्थान – अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनियों का 31 का बंधस्थान होता है।

1 का बंधस्थान – अपूर्वकरण के सातवें भाग से लेकर सूक्ष्म साम्पराय अर्थात (दसवें गुणस्थान) साम्पराय तक बाँधता है। इस प्रकार इन स्थानों के योग्य परिणाम वाले जीव इन स्थानों को बाँधते हैं।

वे कौनसी 23 प्रकृतियाँ हैं जो एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीव बाँधते हैं।

23 प्रकृति का बंध – कर्म.का. गाथा 526 में अपर्याप्त सहित एकेन्द्रिय सभी जीवों के होते हैं।

णामस्स णवधुवाणि य, सरूणतस जुम्मगाण मेक्कदरं ।
गदि जादि देह संठाणाणू णेक्कं च सामण्णा ।।

तैजस शरीर, कार्माण शरीर, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये 9 प्रकृतियाँ ध्रुव प्रकृतियाँ हैं ये सभी के बँधती हैं।

स्थावर, अपर्याप्त, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, कोई एक संस्थान, प्रत्येक साधारण में से कोई एक, अस्थिर, अशुभ, अनादेय, अयशकीर्ति, दुर्भग, बादर–सूक्ष्म में से एक कुल 23 प्रकृति अपर्याप्त सहित जीवों के बँधती है।

25 का स्थान – (1) 23 प्रकृति में से अपर्याप्त घटाने पर तथा पर्याप्त, उच्छ्वास व परघात जोड़ने से 25 प्रकृति एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के बँधती है। एकेन्द्रिय जीव के भी इन प्रकृतियों का बँध होता है।

(2) 25 में से स्थावर, पर्याप्त, एकेन्द्रिय, उच्छ्वास, परघात इन पाँच घटाने पर 1. त्रस, 2. अपर्याप्ति, 3. दोइन्द्रिय, 4. एक संहनन, 5. औदारिक आंगोपांग इन पाँच को जोड़ने से 25 प्रकृति का बँध दोइन्द्रिय अपर्याप्त जीवों के बंध होता है।

(3) 25 में से दोइन्द्रिय जाति घटाने पर तीनेन्द्रिय जाति मिलाने पर अपर्याप्त सहित 25 का बँध होगा।

(4) 25 में से तीनेन्द्रिय घटाने पर चार इन्द्रिय जोड़ने पर चारेन्द्रिय अपर्याप्त सहित जीव के 25 का बंध होगा।

(5) 25 में से चार इन्द्रिय घटाने पर पंचेन्द्रिय जोड़ने पर तिर्यंच अपर्याप्त सहित 25 का बँध होगा।

(6) 25 में से तिर्यंच गति व तिर्यंच गत्यानुपूर्वी घटाने पर मनुष्य गति व मनुष्य गत्यानुपूर्वी जोड़ने पर मनुष्य अपर्याप्त सहित 25 का बंध होगा।

26 का स्थान गाथा 524 में

25 में से त्रस, अपर्याप्त, मनुष्यगति, मनुष्यगत्या, पंचेन्द्रिय जाति, संहनन, आंगोपांग इन 7 को घटाने से स्थावर, पर्याप्त, 3. तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्या, एकेन्द्रिय, उच्छ्वास, परघात व आतप इन 8 को जोड़ने से 26 का बंधस्थान एकेन्द्रिय पर्याप्त आतप सहित होगा।

26 में से आतप घटाकर उद्योत जोड़ने से 26 का स्थान एकेन्द्रिय पर्याप्त उद्योत सहित होगा। (तेज, वायु व साधारण वनस्पति)

भूवादर पज्जत्तेणादावं बंध जोग्गमुज्जोवं।
तेउतिगूण तिरिक्खय सत्थाणं एयदरगेण।।

आतप प्रकृति बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय सहित ही बंध योग्य है।

तेज, वायु और साधारण वनस्पति तथा सूक्ष्म जीवों के बिना बादर पर्याप्त तिर्यंच संबंध पुण्य प्रकृति में से किसी एक प्रकृति के साथ बंध योग्य कही है।

28 का बंधस्थान

9 ध्रुवबंधी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर में 1, अशुभ, सुभग, आदेय, यश, अयश में 1, देवगति, देवगत्या, पंचेन्द्रिय, वैक्रियकशरीर, वैक्रियक आंगोपांग, प्रथम संस्थान, सुस्वर, प्रशस्त विहायो, उच्छ्वास परघात इन 28 प्रकृति का बंध देवगति सहित होगा।

9 ध्रुवबंधी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय वैक्रियक आंगो., हुंडक संस्थान, दुःस्वर, अप्रशस्त विहायो. उच्छवास परघात इन 28 प्रकृतियों का बंध नरकगति सहित होगा।

29 का बंधस्थान

9 ध्रुव, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर में से एक , शुभ अशुभ में से एक, दुर्भग, अनादेय, यश अयश में से एक, तिर्यंच गति, तिर्यंचगत्या, दोइन्द्रिय, औदारिक शरीर औदारिक आंगोपांग, हुंडक संस्थान, अंसप्राप्ता संहनन, दुस्वर, अप्रशस्त विहायो, उच्छ्वास परघात इनका बंध दोइन्द्रिय पर्याप्त सहित होगा।

(2) इन 29 में से दोइन्द्रिय पर्याप्त घटाने पर तीनेन्द्रिय पर्याप्त जोड़ने पर 29 का बंध तीनेन्द्रिय पर्याप्त सहित जीव को होगा।

(3) इन 29 में से तीनेन्द्रिय पर्याप्त घटाने पर चारेन्द्रिय जोड़ने से 29 का बंध चारेन्द्रिय पर्याप्त सहित जीव को होगा।

(4) इन 29 में से चारेन्द्रिय घटाने पर, पंचेन्द्रिय जोड़ने से पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्त सहित जीव को होगा।

(5) 29 में से तिर्यंच गति व तिर्यंच. गत्या. को घटाने पर मनुष्य गति, मनुष्यगत्या. जोड़ने पर 29 का बंध मनुष्य पर्याप्त जीव को होगा।

(6) 9 ध्रुवबंधी, त्रस, बादर, प्रत्येक पर्याप्त स्थिर अस्थिर में एक, शुभ-अशुभ में एक, सुभग, आदेय, यश, अयश में एक, देवगति, देवगत्या., पंचेन्द्रिय, वैक्रियक शरीर, वैक्रियक आंगोपांग, प्रथम संस्थान, सुस्वर, प्रशस्त विहायो,उच्छ्वास, परघात, तीर्थंकर इन 29 का देव, तीर्थंकर सहित मनुष्य, असंयत जीव बाँधते हैं।

30 का बंधस्थान – 29 का दोइन्द्रिय पर्याप्त सहित में उद्योत मिलाने से 30 का बंधस्थान दोइन्द्रिय उद्योत सहित बाँधते हैं।

(2) 29 के बंधस्थान में तीनइन्द्रिय पर्याप्त सहित में उद्योत मिलाने से 30 का बंधस्थान तीनइन्द्रिय पर्याप्त सहित बाँधता है।

(3) 29 का बंधस्थान चारेन्द्रिय पर्याप्त सहित में उद्योत जोड़ने से 30 का बंधस्थान चार इन्द्रिय पर्याप्त उद्योत सहित बाँधता है।

(4) 29 का बंधस्थान पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्त सहित में उद्योत जोड़ने से 30 का बंधस्थान पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच उद्योत सहित बाँधता है।

(5) 29 का बंधस्थान मनुष्य पर्याप्त का उसमें तीर्थंकर मिलाने से 30 का बंधस्थान पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच उद्योत सहित बाँधता है।

(6) 29 का बंधस्थान देवगति सहित बंध में तीर्थंकर निकालकर तथा आहारक शरीर व आंगोपांग मिलाकर 30 का बंध स्थान अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती बाँधता है।

(7) 31 का बंधस्थान – 29 का देवगति व तीर्थंकर सहित बंधस्थान में आहारक-द्विक जोड़ने से 31 का बंध अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती बाँधता है।

1. का बंधस्थान – यश कर्म की अपूर्वकरण के 7वें भाग से लेकर सूक्ष्म साम्पराय तक बाँधता है।

णरगइणामरगइणा, तित्थं देवेण हारमुभयं च।
संजदबंधट्ठाणं इदराहि गईहि णत्थित्ति।।

तीर्थंकर प्रकृति को असंयत देव या नारकी मनुष्य गति सहित ही बाँधते हैं, असंयतादि पंचमगुण-स्थानवर्ती मनुष्य देवगति सहित ही बाँधते हैं।

अप्रमत्त और अपूर्वकरण के छठे भाग पर्यन्त आहारक द्विक तीर्थंकर सहित आहारक द्विक का बंध संयत मनुष्य ही करते हैं।

इस तरह आप सभी ने बड़े ही मनोयोग पूर्वक नामकर्म के बंधस्थान को मेरे लेख के माध्यम से सुना। मुझ अल्पज्ञ के द्वारा मेरे समझने में, सुनाने में त्रुटि हो तो हे गुरुवर! आप हमें अवगत कराये जिससे और अधिक अध्ययन करके मनन, चिंतन करके ज्ञान का प्रकाश फैलाये। अंत में पूज्य गुरुवर के द्वय चरणों में त्रय भक्तिपूर्वक नमोऽस्तु-3।

*****

कर्मकाण्ड गोष्ठी

मोहनीय कर्म के सत्व स्थान

श्रमणी आर्यिका 105 विपुल श्री माताजी
संघस्थ-प.पू. उच्चारणाचार्य 108 श्री विनम्रसागर जी महामुनिराज

मंगलाचरण

वन्दे उसह जिणिंदं, मुणि सावयधम्म तित्थ कत्तारं ।
पणमामि वट्ढमाणं, गोदम गणहरादि वन्दामि ।

विषय भूमिका – विभिन्न दर्शनों में किसी को सृष्टि का कर्त्ता माना है, किसी को सृष्टि का विध्वंस करने वाला माना है व किसी को सृष्टि का पालनहारा माना है। पर भगवान महावीर के दर्शन में सृष्टि को शाश्वत अनादि निधन व स्वयं सिद्ध माना है, जिसमें जीव कर्मों के वशात् ही चारों गतियों में भ्रमण करता है। इस बात को कोई खण्डित नहीं कर पाया है, क्योंकि जैन दर्शन कर्म सिद्धान्त पर आधारित है। इसलिए खण्डित नहीं कर सकते हैं। अन्य दर्शन खण्डित हो जाते हैं क्योंकि वह कर्म सिद्धान्त पर आधारित नहीं हैं। जीव चारों गतियों में भ्रमण कर रहा है उसका कारण कर्म है जैन दर्शन कर्म के कारण ही क्रिया का होना स्वीकार करता है, बिना कर्म के उदय से जीव का सुख दुख गमनागमन संसार परिभ्रमण संभव ही नहीं है। कर्म आठ प्रकार के है वे अपना अपना कार्य करते हैं जैसे ज्ञानावरणी ज्ञान पर आवरण करता है, दर्शनावरणी दर्शन गुण को आव्रत करता है वेदनीय सुख दुख का वेदन कराता है, मोहनीय मोहित करता है, नाम रचना विशेष को करता है, गौत्र ऊच नीच का व्यवहार कराता है, आयु शरीर में रोके रखने का कार्य करता है, अन्तराय विघ्न डालता है। इस प्रकार अलग अलग कार्य हैं। जिसमें मोहनीय कर्म सबसे बलवान है। इसके दो भेद हैं दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय दर्शन मोहनीय तीन प्रकार का व चारित्र मोहनीय दो प्रकार का होता है, चारित्र मोहनीय कषाय वेदनी तथा नोकषाय वेदनीय के भेद से दो प्रकार का है। कषाय वेदनीय सोलह प्रकार का तथा नोकषाय मोहनीय नौ प्रकार का होता है। उसके बन्ध, उदय सत्व स्थान अलग अलग पाये जाते हैं, क्योंकि एक साथ सभी प्रकृतियों का न तो बन्ध होता है न उदय और न एक साथ क्षय होता है। एक बार में जितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है उसे बन्ध स्थान कहते हैं। एक समय में जितनी प्रकृतियों का उदय होता है उसे उदय स्थान कहते हैं तथा एक समय में जितनी प्रकृतियों का क्षय होकर शेष प्रकृतियाँ बचती है उन्हें उतनी प्रकृतियों को सत्व स्थान के नाम से जाना जाता हैं। यहाँ मोहनीय कर्म के सत्व स्थानों का विवेचन करते हैं।

मोहनीय कर्म के सत्त्व स्थान –

अट्ठय सत्तय छक्कय, चदुतिदु गेगाधि माणि वीसाणि ।
तेरस बारेयारं, पवादि एगूणयं सत्तं ।।508।।

मोहनीय कर्म के क्रमश: 28, 27, 26, 24, 23, 22, 21, 13, 12, 11 और 5 प्रकृति में से क्रमश: एक-एक प्रकृति कम करते हुए 4, 3, 2, 1, ये 4 स्थान बने। इस तरह मोहनीय कर्म के सर्व 15 सत्त्व स्थान हैं।

सर्वप्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में सत्त्व स्थान को कहते हैं।

आचार्य अमितगति महाराज ने पंच संग्रह ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय के 44 नं. की गाथा में कहा है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में 3 सत्त्व स्थान है व 45 व 46 नं. गाथा में बाकी गुणस्थान के सत्त्व स्थान कहे हैं।

(1) मिथ्यात्व गुणस्थान – मिथ्यात्व गुणस्थान में 3 सत्त्व स्थान होते हैं। 28, 27, 26 प्रकृति वे इस प्रकार हैं

अनादि मिथ्यादृष्टि के 26 प्रकृति का सत्त्व होता है, किन्तु जब वह सम्यक्त्व उत्पन्न करता है तो मिथ्यात्व के तीन टुकड़े कर 28 प्रकृति की सत्ता वाला हो जाता है, पश्चात् वह मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होकर रहता है वही मिथ्यादृष्टि यदि सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना करता है तो 27 प्रकृति वाला हो जाता है। और अगर वह जीव सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की उद्वेलना करता है तो पुन: 26 प्रकृति की सत्ता वाला हो जाता है।

(2) सासादन गुणस्थान – 2 गु. में एक सत्त्व स्थान पाया जाता है वह 28 प्रकृति का सत्त्व पाया जाता है। क्योंकि सासादन गुणस्थान अवरोही क्रम (गिरता हुआ) वाला होता है। उपशम सम्यक्त्व से नीचे गिरता है तव सासादन गुणस्थान वाला होता है।

(3) मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) गुणस्थान – 3 गु. में 2 सत्त्व स्थान पाये जाते हैं। 28 व 24 प्रकृति वाला।

24 प्रकृति – अनंतानुबंधी की विसंयोजना करने वाले के 24 प्रकृति की सत्ता है।

28 प्रकृति की = पूर्ववत्

विशेष – चारों गति वाला जीव अनंतानुबन्धी की विसंयोजना कर सकता है। (जयधवला पुस्तक 2)

(4) अविरत असंयत गुणस्थान – चतुर्थ गुणस्थान में 5 सत्त्व स्थान है। 28, 24, 23, 22, 21 प्रकृति का

28 प्रकृति का पूर्ववत् होगा।

24 – प्रकृति – अनंतानुबन्धी की विसंयोजना करने पर

23 – प्रकृति – मिथ्यात्व प्रकृति का क्षय करने पर 23 प्रकृति की सत्ता

22 – प्रकृति – सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का क्षय करने पर 22 प्रकृत्ति की सत्ता

21 – प्रकृति – सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय करने पर 21 प्रकृति की सत्ता

नोट :- 5, 6, 7 चतुर्थ गुणस्थान के समान हैं।

(5) 8 गुणस्थान – 8वें गु. में सत्त्व स्थान क्षपक का एक इक्कीस प्रकृति का स्थान व उपशम के 3 सत्त्व स्थान हैं (28, 24, 21)

28 प्रकृति – पूर्ववत्! जिसने द्वितीयोपशम सम्यक्त्व किया है तथा अनंतानुबन्धी की विसंयोजना नहीं की है उसके 28 प्रकृति का सत्त्व पाया जाता है।

24 प्रकृति – जिसने अनंतानुबन्धी की विसंयोजना की है पर मिथ्यात्व का क्षय नहीं किया वह 8वें गु. वाला है। उसके 24 प्रकृति का सत्त्व है। और ये नियम से उपशम श्रेणी वाला है।

21 प्रकृति – यदि कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी चढ़ता है उसके 21 प्रकृति की सत्ता है।

शंका – क्या अनंतानुबन्धी के सद्भाव में उपशम श्रेणी माड़ सकता है?

समाधान – हाँ माड़ सकता है। यहाँ दो आचार्यों के दो मत हैं। आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती और कषाय पाहुड ग्रन्थ के रचयिता गुणधर आचार्य के अनुसार कथन किया गया है।

किंतु षट्खण्डागम के कर्ता आचार्य पुष्पदंत भूतवली के अनुसार अनंतानुबंधी का विसंयोजक ही माड़ सकता है किंतु वह यहाँ विवक्षित नहीं है।

9वाँ गुणस्थान – इस गु. में 11 सत्त्व स्थान है। 28, 24, 21, 13, 12, 11, 5, 4, 3, 2,1

उपशम श्रेणी में – 28, 24, 21 प्रकृति का सत्त्व है। जिसका कथन पूर्व में किया गया है।

क्षपक श्रेणी – क्षपक श्रेणी में 9 सत्त्व स्थान है, 21, 13, 12, 11, 5, 4, 3, 2, 1

क्षपक श्रेणी केवल क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही चढ़ता है। उसके प्रारम्भ में प्रथम भाग में 21 प्रकृति का सत्त्व रहता है।

द्वितीय भाग 13 प्रकृति – द्वितीय भाग में 13 प्रकृति का सत्त्व है क्योंकि मध्यम भाग में 8 (प्रत्याख्यानावरण व अप्रत्याख्यानावरण) कषायों का क्षय करता है। इसलिए द्वितीय भाग में 13 प्रकृति का सत्त्व है।

12 प्रकृति – तृतीय भाग में 13 प्रकृति में से नपुंसक वेद का क्षय करता है जिससे 12 प्रकृति का सत्त्व रहता है।

11 प्रकृति – चतुर्थ भाग में 12 प्रकृति में से स्त्रीवेद का क्षय करता है जिससे 11 प्रकृति का सत्त्व रहता है।

5 प्रकृति – पंचम भाग में 11 प्रकृति में से 6 नोकषायों का क्षय करता है जिससे 5 प्रकृति का सत्त्व है।

4 प्रकृति – छटवें भाग में 5 प्रकृति में से पुरुषवेद का क्षय करता है तो 4 प्रकृति का सत्त्व रहता है।

3 प्रकृति – सातवें भाग में 4 प्रकृति में से सञ्ज्वलन क्रोध का क्षय करता है तो 3 प्रकृति का सत्त्व पाया जाता है।

2 प्रकृति – आठवें भाग में 3 प्रकृति में से सञ्ज्वलन मान का क्षय करता है तो 2 प्रकृति का सत्त्व पाया जाता।

1 प्रकृति – 9वें भाग में 2 प्रकृति में से सञ्ज्वलन माया का क्षय करता है तो 1 प्रकृति का सत्त्व पाया जाता है।

10वाँ गुणस्थान – 10वें गुणस्थान में एक सूक्ष्म लोभ का सत्त्व रह जाता है। उसका भी क्षय करके क्षीण कषायी हो जाता है। यदि **उपशम श्रेणी** वाला है तो 9, 10, व 11वें गुण. में, 8वें गुणस्थान के समान ही सत्त्व स्थान जानना चाहिए (28, 24, 21 प्रकृति)

इस प्रकार से सामान्य से सत्त्व कहा गया। अब विशेषता से सत्त्व स्थान का कथन कहते हैं।

सामान्य को ओघ व विशेष को मार्गणा कहते हैं।

मार्गणाओं में सत्त्व स्थान का कथन करते हैं – (मार्गणाओं में जयधवला, कषाय पाहुड)

गति मार्गणा – (1) नरक गति में – 28, 27, 26, 24, 22, 21 प्रकृति की (6 सत्त्व स्थान है) सत्ता वाला होता है, (21 प्रकृति वाला क्षायिक सम्यक्दृष्टि होता है तथा 28 प्रकृति वाला सादि मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि होता है।

गुणस्थान के अनुसार – 6 सत्त्व स्थान है।

प्रथम गुणस्थान में सत्त्वस्थान 3– 28, 27, 26 प्रकृति का सत्त्वस्थान

द्वितीय गुस्थान में सत्त्वस्थान 1 – 28 प्रकृति का सत्त्वस्थान

तृतीय गुणस्थान में 2–28, 24 प्रकृति का सत्त्वस्थान

चतुर्थ गुणस्थान में 4–28, 24, 22, 21 प्रकृति का सत्त्वस्थान

विशेष – नरक गति में मिथ्यात्व प्रकृति का क्षय नहीं करता है इसलिए 23 प्रकृति का सत्त्व स्थान नहीं बनता है।

शंका– नरक गति में 22 प्रकृति का सत्व कैसे बनता हैं 23 का क्यों नहीं?

समाधान– जिसने मोहनीय कर्म का क्षय करना प्रारंभ कर दिया है। वह सर्वप्रथम मिथ्यात्व प्रकृति का क्षय करता है, ऐसे जीव का मरण नहीं होता पश्चात् सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय करता है उस समय उसकी कृतकृत्य वेदक संज्ञा हो जाती है ऐसा जीव पूर्व बद्धायुष्क मरण कर चारों गतियों में जा सकता है और पर्याप्त होने से पहले सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय कर के क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। अत: पर्याप्तक मनुष्य के अलावा किसी भी गति में पर्याप्त अपर्याप्त अवस्था में 23 प्रकृति का सत्व नहीं पाया जाता 22 प्रकृति का सत्व भी मनुष्यगति को छोड़कर शेष तीन गति में अपर्याप्तक अवस्था में ही पाया जाता है। किंतु मनुष्यगति में पर्याप्त अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में पाया जाता है। नरकादि तीन गतियों में पर्याप्त अवस्था में 22, 23 का सत्व नहीं पाया जाता है।

तिर्यंच गति – तिर्यंच गति में 6 सत्त्व स्थान हैं। (28, 27, 26, 24, 22, 21 प्रकृति का)

23 प्रकृति का सत्त्व स्थान नहीं होता है क्योंकि तिर्यंच गति में भी मिथ्यात्व का क्षय नहीं करता है।

गुणस्थान के अनुसार –

प्रथम गु. में – 3 सत्त्व स्थान – 28, 27, 26 प्रकृति का

द्वितीय गु. में – 1 सत्त्व स्थान – 28 प्रकति का

तृतीय गु. में – 2 सत्त्व स्थान – 28, 24 प्रकृति का

चतुर्थ गु. में – 4 सत्त्व स्थान – 28, 24, 22, 21 प्रकृति का

पंचम गु. में – 2 सत्त्व स्थान – 28, 24, पंचम गुणस्थान में 22 प्रकृति का सत्व स्थान नहीं पाया जाता क्योंकि पंचम गुणस्थान पर्याप्तक अवस्था में होता है 22 प्रकृति अपर्याप्त के होती है। 21 प्रकृति का इसलिए नहीं पाया जाता कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि मरण करके भोग भूमि जाता है वहाँ देशसंयम नहीं होता मात्र असंयम ही होता है।

मनुष्य गति – मनुष्य गति में 15 सत्त्व स्थान होते हैं।

(28, 27, 26, 24, 23, 22, 21, 13, 12, 11, 5, 4, 3, 2, 1) मनुष्य गति में गुणस्थान के अनुसार ही सत्त्व स्थान है।

देवगति – देवगति में 4 गु. हैं तथा 6 सत्त्व स्थान हैं।

(28, 27, 26, 24, 22, 21) यहाँ भी 23 प्रकृति सत्व स्थान नहीं होता।

नोट :– 23 प्रकृतिक स्थान केवल मनुष्य गति में कर्मभूमिज मनुष्य पर्याप्तक के ही पाया जाता है।

(1) मिथ्यात्व गुणस्थान में – 3 सत्त्व स्थान (28, 27, 26 प्रकृति की सत्ता)

(2) सासादन गुणस्थान में – 1 सत्त्व स्थान (28 प्रकृति की सत्ता)

(3) सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में – 2 सत्त्व स्थान (28, 24 प्रकृति की सत्ता)

(4) असंयत गुणस्थान में – 4 सत्त्व स्थान (28, 24, 22, 21 प्रकृति की सत्ता)

इन्द्रिय मार्गणा – इन्द्रिय मार्गणा में भी पूरे 15 सत्त्व स्थान हैं। पर, एकेन्द्रिय आदि के भेद करने पर अलग–अलग सत्त्व स्थान बनेंगे।

(1) एकेन्द्रिय में – 3 सत्त्व स्थान है (28, 27, 26 प्रकृति)

नोट– कोई देव, नारकी, तिर्यंच, मनुष्य सादि या अनादि मिथ्यादृष्टि जीव दर्शन मोहनीय का उपशम करता है, तो मिथ्यात्व के 3 टुकड़े करता है तब वह 28 प्रकृति की सत्ता वाला हो जाता है। मिथ्यात्व में आकर एकेन्द्रिय में चला जाता है, वहाँ पर 28 प्रकृति का सत्त्व होता है। पल्य के असंख्यातवें भाग के बाद उसने सम्यक् प्रकृति की उद्वेवलना कर दी तो 27 प्रकृति की सत्ता वाला हो जाता है और वह सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की उद्वेलना करने पर 26 प्रकृति की सत्ता वाला हो जाता है।

दो इन्द्रिय में एकेन्द्रिय के समान ही 3 सत्त्व स्थान है।

तीन इन्द्रिय में एकेन्द्रिय के समान ही 3 सत्त्व स्थान है।

चार इन्द्रिय में एकेन्द्रिय के समान ही 3 सत्त्व स्थान है।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय में एकेन्द्रिय के समान ही 3 सत्त्व स्थान है।

विशेष – नारकी, एकेन्द्रिय, दो, तीन, चार, इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय नहीं होता है। किन्तु नरक से निकलकर मनुष्य व तिर्यंच होकर एकेन्द्रियों में जा सकता है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय – संज्ञी पंचेन्द्रिय में पूरे 15 सत्त्व स्थान होते हैं।

काय मार्गणा – काय मार्गणा में भी पूरे 15 सत्त्व स्थान हैं पर काय मार्गणा के भेद करने पर अलग-अलग सत्त्व होता है।

स्थावर काय – स्थावर काय में 3 सत्त्व स्थान हैं। एकेन्द्रिय के समान।

त्रस काय में – दो, तीन, चार, असंज्ञी पंचेन्द्रिय में भी 3 सत्त्व स्थान हैं। लेकिन

संज्ञी पंचेन्द्रिय में – पूरे 15 सत्त्व स्थान हैं। वह भी गुणस्थानवत् हैं।

योग मार्गणा – योग मार्गणा में भी पूरे 15 सत्त्व स्थान होते हैं। अलग-अलग भेद करने पर अलग-अलग सत्त्व स्थान होते हैं।

4 मनोयोग व 4 वचन योग में पूरे 15 सत्त्व स्थान ही होते हैं वह गुणस्थानवत्।

काय योग – काय योग में भी पूरे 15 सत्त्व स्थान होते हैं किंतु औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, कार्मण काय योग के अलग-अलग सत्त्व स्थान हैं।

औदारिक काय योग – औदारिक काय योग में पूरे 15 सत्त्व स्थान होते है वह भी गुणस्थानवत् ही बनेंगे।

औदारिक मिश्र काय योग – 1, 2, 4 गुणस्थान है, 6 सत्त्व स्थान 28, 27, 26, 24, 22, 21

प्रथम गुणस्थान में 3 सत्त्व स्थान - 28, 27, 26 प्रकृति

द्वितीय गुणस्थान में - 1 सत्त्व स्थान - 28 प्रकृति

चतुर्थ गुणस्थान में - 4 सत्त्व स्थान - 28, 24, 22, 21 प्रकृति

वैक्रियिक काय योग – 1, 2, 3, 4 गुणस्थान हैं। 5 सत्त्व स्थान हैं 28, 27, 26, 24, 21

प्रथम गु. में 3 सत्त्व स्थान - 28, 27, 26 प्रकृति

2 गुण. में 1 सत्त्व स्थान - 28 प्रकृति

3 गुण. में 2 सत्त्व स्थान - 28, 24

4 गुण. में 3 सत्त्व स्थान - 28, 24, 21 प्रकृति

वैक्रियिक मिश्र काय योग – 1, 2, 4 गुण. में 6 सत्त्व स्थान है। (28, 27, 26, 24, 22, 21)

प्रथम गुणस्थान में 3 सत्त्व स्थान 28, 27, 26 प्रकृति

द्वितीय गुणस्थान में 1 सत्त्व स्थान 28 प्रकृति

चतुर्थ गुणस्थान में 4 सत्त्व स्थान 28, 24, 22, 21 प्रकृति

आहारक काय योग – आहारक काय योग में 3 सत्त्व स्थान है। (28, 24, 21 प्रकृति)

विशेष – आहारक काय योग में दर्शन मोहनीय की क्षपणा नहीं होती इसलिए 23, 22 प्रकृति की सत्ता नहीं रहती है अत: केवल वचन योग, मनोयोग व औदारिक काय योग में ही 23 व 22 प्रकृति की सत्ता रहती है।)

आहारक मिश्र काय योग – आहारक मिश्र काय योग में भी 3 सत्त्व स्थान है (28, 24, 21 प्रकृति)

कार्मण काय योग – 1, 2, 4 गु. में 6 सत्त्व स्थान

प्रथम गु. में – 28, 27, 26 प्रकृति रूप 3 सत्त्व स्थान

2 गुण. में – 28 प्रकृति रूप 1 सत्त्व स्थान

4 गुण. में – 28, 24, 22, 21 प्रकृति रूप 4 सत्त्व स्थान है।

वेद मार्गणा – सामान्य से वेद मार्गणा में पूरे 11 सत्त्व स्थान होते हैं। लेकिन तीनों वेद के अलग-अलग सत्त्व स्थान बनेंगे।

(1) नपुंसक वेद – नपुंसक वेद में 8 सत्त्व स्थान होते हैं।

(28, 27, 26, 24, 23, 22, 21, 13 प्रकृति रूप) गुणस्थान के अनुसार ही उनका सत्त्व स्थान है।

स्त्री वेद – स्त्रीवेद में 9 सत्त्व स्थान हैं।

(28, 27, 26, 24, 23, 22, 21, 13, 12) प्रकृति रूप गुणस्थानोक्त

पुरुष वेद – पुरुष वेद में 11 सत्त्व स्थान हैं (28, 27, 26, 24, 23, 22, 21, 13, 12, 11, 5 प्रकृति रूप है) गुणस्थान के अनुसार उनके सत्त्व स्थान बनेंगे। 9वें गुणस्थान के पाँचवें भाग तक पुरुषवेद रहता है। इसलिए 5 प्रकृति तक सत्व स्थान बनेंगे वही पुरुष वेद की व्युच्छिति हो जाती है।

अपगत वेदी के – 9 सत्त्व स्थान (28, 24, 21*, 11, 5, 4, 3, 2, 1) 1 प्रकृति वाला क्षपक श्रेणी

कषाय मार्गणा – सामान्य से कषाय मार्गणा में 15 स्थान बनते हैं। अलग-अलग भेद करने पर चारों कषायों के अलग-अलग सत्त्व स्थान बनेंगे।

क्रोध कषाय में – 12 सत्त्व स्थान हैं (28, 27, 26, 24, 23, 22, 21, 13, 12, 11, 5, 4) 9वें गु. के छटवें भाग तक क्रोध कषाय रहती है। वही उसकी सत्व व्युच्छिति हो जाती है।

* 28, 24, 21 उपशम श्रेणी तथा 21, 11, 5, 4, 3, 2, 1 क्षपक श्रेणी में।

मान कषाय – 13 सत्त्व स्थान (28, 27, 26, 24, 23, 22, 21, 13, 12, 11, 5, 4, 3) 9वें गु. के सातवें भाग तक मान कषाय रहती इसके बाद नष्ट हो जाती है।

माया कषाय – 14 सत्त्व स्थान – (28, 27, 26, 24, 23, 22, 21, 13, 12, 11, 5, 4, 3, 2) 9वें ग. के 8वें भाग तक रहती है पश्चात् नष्ट हो जाती है।

लोभ कषाय – 15 सत्त्व स्थान

अकषायी के – 2 सत्त्व स्थान – 24, 21– अपेक्षाकृत तीन सत्त्व स्थान भी है 28, 24, 21

ज्ञान मार्गणा – सामान्य से ज्ञान मार्गणा के 15 सत्त्व स्थान व विशेषता से –

कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ज्ञान के – 3 सत्त्व स्थान (28, 27, 26 प्रकृति सत्त्व)

चार ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय ज्ञान के) – 13 सत्त्व स्थान हैं जो इस प्रकार है (मति, श्रुत, अवधि ज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान ये चार ज्ञान है। ज्ञान सम्यक्त्व सहित होते हैं अत: 26, 27 प्रकृति की सत्ता नहीं होती है।

संयम मार्गणा – सामान्य से 15 सत्त्व स्थान। विशेषता से कथन करने पर अलग–अलग सत्त्व स्थान बनेगा।

(1) असंयम में 7 सत्त्व स्थान हैं (1 से 4 गु.)

(28, 27, 26, 24, 23, 22, 21 प्रकृति)

प्रथम गु. – 3 सत्त्व स्थान (28, 27, 26 प्रकृति)

द्वितीय गु. – 1 सत्त्व स्थान (28 प्रकृति)

तृतीय गु. – 2 सत्त्व स्थान (28, 24 प्रकृति)

चतुर्थ गु. – 5 (28, 24, 23, 22, 21 प्रकृति

(2) संयमासंयम संयम – 5 सत्त्व स्थान (28, 24, 23, 22, 21)

(3) परिहार विशुद्धि संयम – 5 सत्त्व स्थान (6–7 गु.)–पूर्वोक्त

(4) सामायिक, छेदोपस्थापना 12 सत्त्व स्थान (6–9 गु. तक)

(28, 24, 23, 22, 21, 13, 12, 11, 5, 4, 3, 2 प्रकृति)

सूक्ष्म साम्पराय संयम – 4 सत्त्व स्थान है (28, 24, 21, 1)

उपशम – 28, 24, 21)

क्षपक – 1

यथाख्यात संयम – 3 सत्त्व स्थान (28, 24, 21 प्रकृति) (11वाँ गु.)

दर्शन मार्गणा – सामान्य से दर्शन मार्गणा में 15 सत्त्व स्थान कहें हैं।।

चक्षु व अचक्षु दर्शन – 15 सत्त्व स्थान (1 से 11 गु.)

अवधि दर्शन – 13 सत्त्व स्थान (4 गुणस्थान से प्रारम्भ हैं)

लेश्या मार्गणा – सामान्य से 15 सत्त्व स्थान हैं।

विशेषता से कथन करने पर अलग-अलग सत्त्व स्थान बनते हैं।

कृष्ण नील लेश्या – 5 सत्त्व स्थान (28, 27, 26, 24, 21)

विशेष– कृष्ण व नील लेश्या में दर्शन मोहनीय की क्षपणा नहीं होती है। इसलिए 23, 22 प्रकृति नहीं है।

शंका– कृष्ण लेश्या में 21 प्रकृति का सत्त्व क्यों कहा है?

समाधान – क्षायिक सम्यग्दर्शन के बाद कृष्ण लेश्या हो सकती है। इसलिए 21 प्रकृति का सत्त्व स्थान है और यह केवल मनुष्यगति में ही होता है।

कापोत लेश्या – 6 सत्त्व स्थान है। (28, 27, 26, 24, 22, 21 प्रकृति)

शंका – कापोत लेश्या में 22 व 21 प्रकृति का सत्त्व स्थान क्यों? तथा 23 प्रकृति का सत्व क्यों नहीं होता?

समाधान – कोई जीव केवली के पाद मूल में मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय कर कृतकृत्य वेदक हुआ और कापोत लेश्या के साथ प्रथम नरक गया वहाँ अपर्याप्त अवस्था में 22 व पर्याप्त होकर 21 प्रकृति सत्व वाला हो जाता है। कापोत लेश्या में भी दर्शन मोहनीय की क्षपणा नहीं करता इसलिए 23 प्रकृति का सत्व नहीं पाया जाता।

पीत, पद्म, लेश्या – 7 सत्त्व स्थान है। (28, 27, 26, 24, 23, 22, 21)

विशेष – तीनों शुभ लेश्या में दर्शन मोहनीय की क्षपणा होती है।

शुक्ल लेश्या – 15 सत्त्व स्थान है। (1-10 गु.)

सम्यक्त्व मार्गणा – सामान्य से 15 सत्त्व स्थान है।

सम्यक्त्व का अलग-अलग कथन पर भिन्न-भिन्न सत्त्व स्थान बनेंगे। (सम्यक्दृष्टि के – 13 सत्त्व स्थान होते हैं)।

(1) मिथ्यात्व सम्यक्त्व – 3 सत्त्व स्थान (28, 27, 26)

(2) सासादन सम्यक्त्व – 1 सत्त्व स्थान (28 प्रकृति)

(3) सम्यग्मिथ्यात्व व उपशम सम्यक्त्व – 2 सत्त्व (28, 24)

(4) क्षायिक सम्यक्त्व – 9 सत्त्व स्थान (21, 13, 12, 11, 5, 4, 3, 2, 1)

(5) वेदक सम्यक्त्व (क्षयो.) – 4 सत्त्व स्थान (28, 24, 23, 22)

भव्य मार्गणा – सामान्य से 15 सत्त्व स्थान

भव्य में – 15 सत्त्व स्थान (गुणस्थानवत्)

अभव्य – 1 (26 प्रकृति)

संज्ञी मार्गणा – सामान्य से 15 सत्त्व स्थान

संज्ञी में – 15 सत्त्व स्थान (गुणस्थानवत्)

असंज्ञी में – 3 सत्त्व – (28, 27, 26)

विशेष – इन्द्रिय मार्गणा में पहले इसका कथन कर चुके हैं।

आहारक मार्गणा – सामान्य से 15 सत्त्व स्थान हैं।

आहारक – 15 सत्त्व स्थान हैं। सभी गुणस्थान वत् है।

अनाहारक – 6 सत्त्व स्थान (28, 27, 26, 24, 23, 21) कार्माण काय योग के समान है।

अपर्याप्त अवस्था में अनाहारक होता है।

इस प्रकार सत्त्व स्थानों का कथन समाप्त हुआ इन्हें जानने पर हमारे कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। अत: ज्ञान की वृद्धि कर्मों का क्षय यही उद्देश्य लेकर यह कथन किया इन्हीं पवित्र भावनाओं के साथ भगवान महावीर स्वामी की जय।

*****

कर्मकाण्ड

कर्मों का उदय, अनुदय व उदय व्युच्छित्ति

आर्यिका विश्रेयश्री माताजी

संघस्थ–उच्चारणाचार्य श्री विनम्रसागर जी महामुनिराज

मंगलाचरण

पणमिय सिरसा णेमिं, गुणरयण विभूसणं महावीरं।
समत्त रयणणिलयं, पयडिसमुक्कित्तणं वोच्छं।।

अरहंत भगवान ने बताया है कि प्रत्येक जीव का कर्मों से अनादि काल से संबंध है। हरपल, हरक्षण प्रत्येक प्राणी के कर्मों का बंध, उदय और सत्त्व चल रहा है। कोई भी जीव यदि कर्म का बंध करता है तो उसका फलीभूत होकर उदय में आना आवश्यक है। हाँ ऐसा हो सकता है कि कोई कर्म बँध जाये और बिना फल दिये ही नष्ट हो जाये यह विशेष स्थिति है लेकिन सामान्य से जो कर्म बाँधा है वह कभी ना कभी, किसी ना किसी रूप में उदय में आयेगा और फल अवश्य देगा। उदय के विषय में कर्म प्रकृतियों की कुछ विशेषताएँ हैं।

⁕ उदय किसे कहते हैं? उदयो विपाकः = कर्म विपाक को उदय कहते हैं।

जीव के द्वारा पहले किए हुए शुभ–अशुभ कर्म उनका अपने–अपने समय पर पककर फल देकर गिर जाना उदय कहलाता है। कर्मों का उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव की अपेक्षा से है। अगर ये सब ना मिले तो कर्म अपना फल नहीं दे पाता है। कर्म के उदय में जीव के परिणाम भी उसी प्रकृति रूप हो जाते हैं।

⁕ सर्वार्थ सिद्धि – अध्याय –2 सूत्र नं. 1 में कहा है। द्रव्यादि निमित्त वशात्, कर्मणां फल प्राप्तिरूदयः

अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के निमित्त के वश से कर्मों के फल का नाम उदय है।

⁕ पंचसंग्रह में कहा है –

धणस्य संगहो वा, संतं जं पुव्वसंचियं कम्मं।
भुंजण कालो उदयो, उदीरणाऽपक्व पाचण फलं वा।।

अर्थ– धन के संग्रह के समान जो पूर्व संचित कर्म है उनके आत्मा में अवस्थित रहने को सत्त्व कहते हैं। और कर्मों के फल भोगने के काल को उदय कहते हैं।

बँधे हुए कर्म बिना फल दिए कभी नहीं झड़ते। कर्मों का उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव का निमित्त पाकर होता है।

⁕ उदय संबंधी नियम– कषाय पाहुड़ पु. 3 में कहा है।

जिस प्रकृति का उदय नहीं होता है उस प्रकृति के उदय निषेकों की स्थिति उपांत (अंत के एक समय पहले) समय में पर रूप में संक्रमित हो जाती है।

* कर्म कभी भी बिना फल दिये नहीं झड़ते हैं।

* गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. 342 व 493 में कहा है।

* जो प्रकृति स्वरूप हो जाये वह स्वमुख उदय है, जो प्रकृति अन्य रूप हो जाये तो पर मुख उदय है।

* गोम्मटसार कर्मकाण्ड में पृ. 37 गा-42 में कहा है।

* उदय में भेद की अपेक्षा सर्व 148 प्रकृतियाँ उदय योग्य है। और अभेद की अपेक्षा से 122 प्रकृतियाँ उदय योग्य है।

* मूल प्रकृति स्वमुख तथा उत्तर प्रकृतियों का स्व व परमुख उदय होता है।

* सर्वघाती में देशघाती का उदय होता है, पर देशघाती में सर्वघाती का उदय नहीं होता है।

* आहारकद्विक का उदय सिर्फ प्रमत्त विरत 6वें गुणस्थान में ही होता है। लेकिन बंध अप्रमत्त विरत 7वें गुणस्थान में होता है।

* तीर्थंकर प्रकृति का बंध 4 से 8वें गुणस्थान के 6 वें भाग तक होता है। लेकिन उदय 13 व 14वें गुणस्थान में ही होता है।

* 3 गुण. में मिश्र मोहनीय का उदय होता है।

* असंयतादि (4, 5, 6, 7) गुण में वेदक सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होता है।

* 1, 2, 4, गुणस्थान में आनुपूर्वी का उदय होता है। लेकिन 2 गुणस्थान में 3 आनुपूर्वी का उदय रहता है। क्योंकि सासादन गुणस्थान में मरकर जीव नरक गति में नहीं जाता है। इसलिए सासादन गुणस्थान में नरक गत्यानूपूर्वी का उदय नहीं होता है।

* शेष प्रकृतियों का उदय मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में अपने-अपने उदय स्थान के अंत समय तक रहता है।

*** विशेषता –**

जिस-जिस गुणस्थानों में जितनी प्रकृतियों की व्युच्छित्ति कही है और उतने का ही उदय है। उन गुणस्थानों से आगे के गुणस्थानों में उनका उदय नहीं रहता, उन गुणस्थानों में जितनी प्रकृतियों का उदय है सो होता है।

*** पंचास्तिकाय अध्याय-2 श्लोक-38 में कहा है-**

5 वर्ण में – 4 वर्ण, 2 गंध में से – एक गंध, 5 रस में से – 4 रस, 8 स्पर्श में से – 7 स्पर्श और 5 बंधन, 5 संघात = 26 प्रकृतियाँ उदय के अयोग्य हैं। और शेष 122 प्रकृतियाँ उदय योग्य होती हैं। इसलिए उदय योग्य प्रकृति – 122 कहते हैं और बंध योग्य – 120 कहते हैं।

समय के अभाव से मैं अपना विषय यही समाप्त करती हूँ। विषय तो और भी है जैसे गुणस्थानों में उदय व्युच्छित्ति, उदय और अनुदय भी है।

कर्मकाण्ड गा. 261 (गुणस्थान) (उदय)

प्रमत्त गुणस्थान में – आहारक शरीर और आहारक आंगोपांग का उदय

13 व 14 गुणस्थान में – तीर्थंकर प्रकृति का उदय

3 गुणस्थान में – मिश्र मोहनीय का उदय

असंयतादि 4 गुण में – सम्यक्त्व प्रकृति (वेदक सम्यग्दृष्टि के ही) (4 5 6 7 गुणस्थान)

1, 2, 4 गुण. में – आनुपूर्वी का उदय

कर्मकाण्ड गा. 262 – सासादन सम्यग्दृष्टि मरकर नरक गति में नहीं जाता है। (इसी कारण से सासादन गुणस्थान में नरक गत्यानुपूर्वी का उदय नहीं है।)

नोट– शेष प्रकृतियों का उदय मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में अपने-अपने उदयस्थान के अंतसमय तक होता है।

विशेषार्थ – जिस-जिस गुणस्थानों में जितनी प्रकृतियों की व्युच्छित्ति कही, उतने का ही उदय जानना उन गुणस्थानों से आगे के गुणस्थानों में उनका उदय नहीं रहता और उन गुणस्थानों में जितनी प्रकृतियों का उदय हो सो उदय जानना।

*****

कर्मकाण्ड में गाथा 263 आचार्य श्री भूतबली, पुष्पदंत स्वामी के मतानुसार (अभेद विवक्षा से मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में क्रम से उदय, अनुदय और व्युच्छिति जानना)

गुणस्थान	उदय व्युच्छित्ति	उदय	अनुदय	विशेषताऐं
मिथ्यात्व	10	117	5	तीर्थंकर, आहारकद्विक, सम्यक्त्व, सम्यक्त्व मिथ्यात्व (अनुदय रूप 5 प्रकृतियाँ) मिथ्यात्व,आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, स्थावर, एकेन्द्रिय, विकलत्रय (व्युच्छित्ति रूप 10 प्रकृतियाँ)
सासादन	4	106	16	ऊपर की 15 प्रकृति+नरकगत्यानुपूर्वी=16 अनुदय प्रकृतियाँ अनंतानुबंधी की 4 प्रकृति की व्युच्छित्ति
मिश्र	1	100	22	सम्यग्मिथ्यात्व की व्युच्छित्ति ऊपर की 16 प्रकृति+4+3 आनुपूर्वी (नरकगत्यानुपूर्वी के बिना)=23 23-सम्यग्मिथ्यात्व=22 प्रकृति का अनुदय
असंयत	17	104	18	अप्रत्याख्यान की-4, वैक्रियक षट्क नरक व देवायु, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी दुर्भग, अनादेय, अयशकीर्ति (17 व्युच्छित्ति प्रकृतियाँ) ऊपर की 22 प्रकृति+नरकगतयानुपूर्वी=23 प्रकृतियाँ (23-4 आनुपूर्वी व सम्यक्त्व=18 प्रकृति का अनुदय)
देशसंयत	8	87	35	प्रत्याख्यान की=4, तिर्यंचायु, तिर्यंचगति, नीचगोत्र, उद्योत (इन 8 प्रकृति की व्युच्छित्ति) असंयत गुणस्थान की 17 प्रकृति+18 अनुदय प्रकृति=35 प्रकृति का अनुदय
प्रमत्त संयत	5	81	41	देशसंयत गुणस्थान की 35 अनुदय प्रकृति+8 व्युच्छित्ति प्रकृति (35+8=43 प्रकृतियाँ-आहारकद्विक कम की=41 प्रकृति अनुदय) आहारकद्विक, स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला (5 व्युच्छित्ति प्रकृति)
अप्रमत्त	4	76	46	प्रमत्त संयत गुणस्थान की 41 अनुदय प्रकृति+5व्युच्छित्ति की=(46 प्रकृति का अनुदय) सम्यक्त्व प्रकृति, अर्धनाराच, कीलक, सृपाटिका संहनन इन 4 प्रकृति की व्युच्छित्ति

अपूर्वकरण	6	72	50	अप्रमत्त गुणस्थान की अनुदय प्रकृति=46+4 व्युच्छित्ति=(50 प्रकृति का अनुदय) (हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा इन 6 प्रकृति की व्युच्छित्ति)
अनिवृत्तिकरण	6	66	56	अपूर्वकरण गुणस्थान की अनुदय प्रकृति=50+6 व्युच्छित्ति की=(56 प्रकृति का अनुदय) (स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद, संज्वलन की क्रोध, मान, माया इन 6 की व्युच्छित्ति)
सूक्ष्मसांपराय	1	60	62	अनिवृत्तिकरण गुणस्थान की अनुदय प्रकृति=56+6 व्युच्छित्ति की=62 प्रकृति का अनुदय) सूक्ष्म लोभ की व्युच्छित्ति
उपशांत मोह	2	59	63	सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान की अनुदय प्रकृति=62+1 व्युच्छित्ति की=63 प्रकृति का अनुदय (नाराच व वज्रनारायच संहनन इनकी व्युच्छित्ति)
क्षीण मोह	16	57	65	उपशांत मोह गुणस्थान की अनुदय प्रकृति=63+2 व्युच्छित्ति की=65 प्रकृति का अनुदय (ज्ञानावरण की 5, दर्शनावरण की 4, अंतराय की 5, निद्रा, प्रचला इन 16 प्रकृति की व्युच्छित्ति)
सयोगकेवली	29	42	80	क्षीणमोह गुणस्थान की अनुदय प्रकृति=65+16 व्युच्छित्ति की=81-तीर्थंकर=80 प्रकृति का अनुदय) वज्रवृषभनाराच संहनन, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुस्वर-दुःस्वर, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, औदारिक शरीर, औदारिक आंगोपांग, तैजस-कार्मण, 6 संस्थान, वर्णादि 4, अगुरुलघु, उपघात-परघात, उच्छवास, प्रत्येक शरीर ये 29 प्रकृति की व्युच्छित्ति हुई।
अयोगकेवली	13	13	109	(सयोग केवली गुणस्थान की अनुदय प्रकृति=80+29 व्युच्छित्ति की=109 प्रकृति का अनुदय) मनुष्यगति, मनुष्यायु, पंचेन्द्रिय, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशकीर्ति, तीर्थंकर, उच्चगोत्र, साता-असाता इन 13 प्रकृति की व्युच्छित्ति हुई।

नोट :- सयोग केवली व अयोग केवली में साता व असाता में से एक ही व्युच्छित्ति होगी, ये कथन एक जीव की अपेक्षा से है नाना जीव की अपेक्षा से व्युच्छित्ति नहीं है। क्योंकि सयोगी व अयोगी में एक जीव की अपेक्षा 30 व 12 प्रकृति की व्युच्छित्ति, नाना जीव की अपेक्षा 29 व 13 प्रकृति की व्युच्छित्ति है।

* वैक्रियक षट्क किसे कहते हैं।

1. वैक्रियक शरीर, 2. वैक्रियक आंगोपांग, 3. नरक गति, 4. देवगति, 5. नरकगत्यानुपूर्वी, 6. देवगत्यानुपूर्वी।

कर्मकाण्ड गोष्ठी

विषय – मोहनीय कर्म के बन्ध स्थान

–श्रमणी आर्यिका विमुदश्री माताजी

संघस्थ– उच्चारणाचार्य 108 श्री विनम्रसागरजी महामुनिराज

मंगलाचरण– **पणमिय सिरसा णेमिं, गुणरयण विभूषणं महावीरं।**
सम्मत्त रयण णिलयं, पयडि समुकित्तणं वोच्छं।।

सर्वप्रथम नेमिनाथ भगवान के चरणों में तथा आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती मुनिराज के चरणों में और गुरुदेव के चरणों में बारम्बार नमस्कार करती हूँ। ऐसे महान् संतों, विद्वानों के बीच मैं क्या विवेचन कर सकती हूँ, फिर भी गुरु आज्ञा से कुछ बोलने का प्रयास कर रही हूँ, इनके चरणों में रहकर जो भी सीखा है उसमें से ही मैं कर्म प्रकृतियों के बन्ध स्थानों को बताने जा रही हूँ, इसमें जो कुछ भी अच्छा लगे वो गुरुदेव का ही समझना और जो गलत लगे उससे मुझे अवगत कराना ताकि उसमें सुधार किया जा सके।जिनेन्द्र भगवान के सिद्धान्त में कर्म की ही प्रधानता दी गई है। कर्मों के कारण ही जीव अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है, आठों कर्मों में मोहनीय कर्म प्रधान है, मोहनीय कर्म कर्मों का राजा है, कहा है – ''मोह महामद पीयो अनादि भूल आपको भरमत वादि'' इसी के कारण जीव अपने आपको, अपने स्वरूप को भूलकर पर पदार्थों में सुख मानता है, वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता है। मोहनीय कर्म में भी मिथ्यात्व सबसे ज्यादा खतरनाक है इसे नष्ट करना बड़ा कठिन है, कोई विरले ही जीव इन कर्मों को जानकर इनसे बचने का पुरुषार्थ करते हैं, कोई जीव तीव्र पुरुषार्थ के द्वारा इन कर्मों को ध्वस्त कर देते हैं।

आज हम भी यही उद्देश्य, यही भावना लेकर कर्मों को जानने का प्रयास कर रहे हैं, जिससे हम भी मोहनीय कर्म को नष्ट करके सम्यक्त्व प्राप्त करके अनन्त सुखों को पाकर इस दुर्गम संसार से बच जायें।

* प्रकृतियों के समुदाय को अथवा एक जीव के एक काल में जितनी कर्म प्रकृतियों का बंध, उदय या सत्त्व सम्भव हो, उसको **स्थान** कहते हैं।

* ये प्रकृति स्थान तीन प्रकार के होते हैं – 1. बंध स्थान, 2. उदय स्थान, 3. सत्त्व स्थान।

* मूल कर्म प्रकृतियाँ 8 होती हैं।

* 1 से 7 गुण. तक मिश्र गुण. को छोड़कर शेष 6 गुण. में कोई भी जीव 7 अथवा 8 कर्मों को बाँधता है। 7 कर्मों को बाँधता है तो आयु कर्म बिना और 8 कर्मों को बाँधता है तो सभी कर्मों को बाँधता है। क्योंकि आयु कर्म का बंध हर समय नहीं होता।

* तीसरे, आठवें, 9वें गुण. में आयु कर्म बिना 7 कर्मों को बाँधता है।

* 10वें गुण. में आयु कर्म व मोहनीय कर्म बिना 6 कर्मों को बाँधता है। क्योंकि मोहनीय कर्म की बंध व्युच्छुति 9वें गुण. में हो जाती है।

* 11वें, 12वें, 13वें गुण. में एक वेदनीय कर्म का बंध होता है।

* अयोग केवली गुणस्थान बंध रहित होता है।

इस प्रकार मूल प्रकृतियों के सामान्य से 8, 7, 6, 1 प्रकृति रूप चार बंध स्थान होते हैं। अभी तक मूल कर्म प्रकृतियों के बंध स्थान को जाना अब उत्तर प्रकृतियों में से मोहनीय कर्म के बंध स्थान को कहते हैं।

गाथा – 463

बावीस मेक्कवीसं, सत्तारस तेरसेस णव पंच ।
चदुतिय दुग च एक्कं, बंधट्ठाणाणि मोहस्स ।।

कर्मों की उत्तर प्रकृतियों में से मोहनीय कर्म की 22, 21, 17, 13, 9, 5, 4, 3, 2, 1 प्रकृति रूप 10 बंध स्थान मोहनीय कर्म के होते है।

मोहनीय कर्म की बंध योग्य प्रकृतियाँ 26 होती हैं जब मिथ्यात्व के टुकड़े होते है तब सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उद्भव होता है परन्तु सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का बंध नहीं होता है क्योंकि सम्यक्त्व सही मान्यता है, गुण है। सही मान्यता में कर्मों का बंध नहीं होता है, बल्कि कर्म नष्ट किये जाते हैं, जितने अंश में सम्यक्त्व होता है उतने अंश में बंध नहीं होता है।

*** मिथ्यात्व गुण. में –** मिथ्यात्व, 16 कषाय, तीनों वेद में से एक, 6 नोकषाय में से 4 इस प्रकार 22 प्रकृति रूप पहले बंध स्थान के 6 भंग बनते हैं। वे हैं - मिथ्यात्व, 16 कषाय, हास्य-रति, भय-जुगुप्सा इनके तीनों वेदों के साथ एक-एक भंग बनेगा सो 3 भंग। और मिथ्यात्व, 16 कषाय, अरति-शोक, भय-जुगुप्सा इनके भी तीनों वेद के साथ एक-एक भंग बनेगा सो 3 भंग। इस प्रकार 3 + 3 = 6 भंग 22 प्रकृति रूप बनते हैं।

प्रश्न.– मिथ्यात्व गुणस्थान में 22 प्रकृति रूप बंध स्थान क्यों होता है? क्योंकि प्रकृतियाँ तो 26 हैं?

उत्तर – क्योंकि एक समय में तीनों वेद में से एक और हास्य-शोक में से एक, रति-अरति में से एक का ही बंध होता है इसलिए 4 प्रकृति बिना 26-4 = 22 प्रकृति रूप ही बंध होता है।

*** सासादन गुणस्थान –** मिथ्यात्व गुण. में नपुंसक वेद की बंध व्युच्छिति हो जाती है इसलिए नपुंसक वेद के दो भंग कम करने पर मिथ्यात्व बिना 21 प्रकृति रूप 4 भंग बनते हैं।

16 कषाय, अरति-शोक, भय-जुगुप्सा इनके भी दोनों वेदों के साथ एक-एक भंग बनेगा सो 2 भंग। इस प्रकार 2 + 2 = 4 भंग 21 प्रकृति रूप बनते हैं।

*** मिश्र व असंयत गुण. में –** दूसरे गुण. में स्त्री वेद की बंध व्युच्छिति हो जाती है इसलिए सिर्फ पुरुष वेद के 4 अनंतानुबंधी कषाय बिना 2 भंग रह जाते हैं।

12 कषाय, हास्य-रति, भय-जुगुप्सा और पुरुष वेद इस प्रकार 1 भंग बनेगा।

12 कषाय, अरति-शोक भय-जुगुप्सा और पुरुष वेद एक भंग यह बनेगा।

इस प्रकार 1 + 1 = 2 भंग 17 प्रकृति रूप बनते हैं।

*** देशसंयत गुण. में –** 4 अप्रत्याख्यानावरण कषाय बिना 13 प्रकृति रूप 2 भंग बनेंगे।

8 कषाय, हास्य-रति, भय-जुगुप्सा, पुरुष वेद - पहला भंग।

8 कषाय, अरति-शोक, भय जुगुप्सा, पुरुष वेद - दूसरा भंग।

इस प्रकार 1 + 1 = 2 भंग 13 प्रकृति रूप बनते हैं।

*** प्रमत्त गुण. में** - 4 प्रत्याख्यान कषाय बिना 9 प्रकृति रूप 2 भंग बनेंगे।

4 कषाय, हास्य-रति, भय-जुगुप्सा, पुरुष वेद - पहला भंग।

4 कषाय, अरति-शोक, भय-जुगुप्सा, पुरुष वेद - दूसरा भंग ।

इस प्रकार 1 + 1 = 2 भंग 9 प्रकृति रूप बनते हैं।

*** अप्रमत्त व अपूर्वकरण गुण. में –** प्रमत्त गुण. में अरति व शोक की व्युच्छिति हो जाने से इनमें 9 प्रकृति रूप 1 भंग ही बनता है।

4 कषाय, पुरुष वेद, हास्य-रति, भय-जुगुप्सा - एक ही भंग बनेगा।

*** अनिवृत्तिकरण गुण. के प्रथम भाग में –** अप्रमत्त व अपूर्वकरण गुण. में हास्य-रति, भय-जुगुप्सा इन 4 प्रकृतियों की व्युच्छिति हो जाने से 5 प्रकृति रूप एक ही भंग बनता है।

4 कषाय, पुरुष वेद। एक भंग

*** दूसरे भाग में –** प्रथम भाग में पुरुष वेद की व्युच्छिति हो जाने से 4 प्रकृति रूप 1 ही भंग बनता है।

संज्वलन क्रोध - मान-माया-लोभ रूप। एक भंग।

*** तीसरे भाग में –** दूसरे भाग में संज्वलन क्रोध की व्युच्छिति हो जाने से 3 प्रकृति रूप 1 ही भंग बनता है।

संज्वलन मान-माया-लोभ रूप। एक भंग।

*** चतुर्थ भाग में –** तीसरे भाग में संज्वलन मान की व्युच्छिति हो जाने से 2 प्रकृति रूप 1 ही भंग बनता है।

संज्वलन माया-लोभ रूप। एक भंग।

*** पंचम भाग में –** चतुर्थ भाग में संज्वलन माया की व्युच्छिति हो जाने से 1 संज्वलन लोभ प्रकृति रूप-1 ही भंग बनता है।

संज्वलन लोभ रूप। एक भंग।

इस प्रकार मोहनीय कर्म के दस बंध स्थान होते हैं उन्हें भंगों के माध्यम से व्यक्त किया।

इस प्रकार हमने अब तक मोहनीय कर्म के बंध स्थान व उनके भंगों को जाना अब जानेंगे भुजकारादि बंध क्या होते हैं कितने-कितने होते हैं?

* मोहनीय कर्म के 10 बन्धस्थानों में सामान्य प्रकार से भुजकार बंध 20, अल्पतरबंध 11 और अवस्थित बंध 33 व 2 अवक्तव्य बंध होते हैं।

अप्पं बंधंतो बहुबंधे, बहुगादु अप्पबंधेवि ।
उभयत्थ समे बंधे, भुजगारादी कमे होंति ।।469।।

* **भुजकार बंध –** पहले कम प्रकृतियों का बंध हो रहा हो और बाद में ज्यादा प्रकृतियों का बंध होना 'भुजकार बंध' है। **जैसे –** कोई जीव विशुद्धि के द्वारा 11वें गुण. में पहुँच जाता है, वहाँ वह मोहनीय कर्म की एक भी प्रकृति का बंध नहीं करता है, पर संक्लेशता होने पर क्रमश: नीचे उतरते हुए 9वें गुण. में सबसे पहले लोभ प्रकृति का बंध करता है तो यह भुजकार बंध नहीं है, यह अवक्तव्य बंध है, फिर जब 2, 3, 4, 5, 9, 17, 21, 22 प्रकृति का बंध करता है **काल क्षय की अपेक्षा** भुजकार बंध कहलाता है। और वहाँ पर मरण हो जाए तो देव असंयत होकर 17 प्रकृति को बाँधता है तो **भव क्षय की अपेक्षा** से भुजकार बंध कहलाता है। इस प्रकार कुल मिलाकर 20 भुजकार बंध होते हैं।

* **अल्पतर बंध –** पहले ज्यादा प्रकृतियों का बंध हो रहा हो फिर बाद में विशुद्धि से कम प्रकृतियों का बंध होवें तो वह अल्पतर बंध है। **जैसे –** मिथ्यादृष्टि जीव पहले 22 प्रकृति का बंध करता था विशुद्धि के द्वारा तीनों करण करता हुआ प्रथमोपशम सम्यक्त्वी होकर अथवा वेदक सम्यग्दृष्टि होकर असंयती अथवा चौथे गुण. में 17 प्रकृतियों का बंध करने पर इसी प्रकार क्रमश: विशुद्धि बढ़ाते-बढ़ाते मिथ्यादृष्टि से देशसंयती होकर 13 प्रकृति का अथवा अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती होकर 9 प्रकृतियों का बंध करता है, मुनि बन जाता है तब इसी प्रकार विशुद्धि को बढ़ाते-बढ़ाते श्रेणी आरोहण करते हुए क्रमश: 5, 4, 3, 2, 1 प्रकृति का बंध करता है तो यह अल्पतर बंध कहलाता है।

इस प्रकार कुल मिलाकर 11 अल्पतर बंध होते हैं।

* **अवस्थित बंध –** भुजकार बंध व अल्पतर बंध में पहले जितनी प्रकृतियों का बंध होता था बाद में भी उतनी ही प्रकृतियों का बंध होवें तो वह अवस्थित बंध है। **जैसे –** पहले 22 प्रकृतियों का बंध हो रहा था, बाद में भी अगले ही समय में भी 22 प्रकृतियों का बंध होवे तो उसे ही अवस्थित बंध कहते हैं।

इस प्रकार कुल मिलाकर 20 + 11 + 2 = 33 अवस्थित बंध होते हैं।

* **अवक्तव्य बंध –** किसी प्रकृति का बंध रुक जाये और फिर से होने लगे तो पहले समय में होने वाले बंध को अवक्तव्य बंध कहते है।

जैसे – संक्लेशता के द्वारा उपशम श्रेणी से उतरते हुए पहले मोहनीय कर्म का बंध रुका हुआ था 9वें गुण. में सबसे पहले लोभ प्रकृति का बंध करता है तो यह अवक्तव्य बंध कहलाता है। अथवा अगर वहीं पर मरण हो जाये तो देव असंयत होकर जब पहले समय में 17 प्रकृति रूप जो बंध करता है वह भी अवक्तव्य बंध कहलाता है।

इस प्रकार मोहनीय कर्म के 10 स्थानों में 2 अवक्तव्य बंध होते हैं।

नोट – प्राकृत पंचसंग्रह ग्रंथ में भी भुजकारादि बंधों के बारे में वर्णन मिलता है।

20 भुजकार बंध

*** एक प्रकृति रूप दो भुजकार –** (1 से 2 और 1 से 17 प्रकृति रूप)

1. उपशम श्रेणी से उतरने वाला 9वे. गुण. में 1 संज्वलन लोभ को बाँधता था किन्तु वहाँ से उतरकर 2 प्रकृति संज्वलन लोभ और माया को बाँधने पर।

2. मरणकर देव असंयत होकर 17 प्रकृति को बाँधने पर।

*** दो प्रकृति रूप दो भुजकार –** (2 से 3 और 2 से 17 प्रकृति रूप)

3. माया व लोभ प्रकृति को बाँधते हुए नीचे उतरकर मान सहित 3 प्रकृतियों को बाँधने पर।

4. मरणकर देव असंयत होकर 17 प्रकृति को बाँधने पर।

*** तीन प्रकृति रूप दो भुजकार –** (3 से 4 और 3 से 17 प्रकृति रूप)

5. मान, माया, लोभ प्रकृतियों को बाँधते हुए नीचे उतरकर क्रोध सहित संज्वलन चतुष्क को बाँधने पर।

6. मरणकर देव असंयत होकर 17 प्रकृति को बाँधने पर।

*** चार प्रकृति रूप दो भुजकार –** (4 से 5 व 4 से 17 प्रकृति रूप)

7. संज्वलन चतुष्क को बाँधता हुआ नीचे उतरकर सवेद भाग में पुरुषवेद सहित 5 प्रकृति को बाँधने पर।

8. मरणकर देव असंयत होकर 17 प्रकृति को बाँधने पर।

*** पाँच प्रकृति रूप दो भुजकार –** (5 से 9 व 5 से 17 प्रकृति रूप)

9. पाँच प्रकृतियों को बाँधता हुआ नीचे उतरकर अपूर्वकरण गुण. में 9 प्रकृतियों का बंध करता है।

10. मरणकर देव असंयत होकर 17 प्रकृति को बाँधने पर।

*** नो प्रकृति रूप चार भुजकार –** (9 से 13, 9 से 17, 9 से 21, 9 से 22 प्रकृति रूप)

11. अपूर्वकरण, अप्रमत्त और प्रमत्त गुण. में 9 प्रकृति का बंध करता हुआ क्रम से देशसंयती होता है वहाँ 13 प्रकृतियों का बंध करने पर।

12. असंयमी होकर या मरणकर देवअसंयमी होकर 17 प्रकृतियों को बाँधने पर।

13. प्रथमोपशम सम्यक्त्वी सासादन गुण. में 21 प्रकृति का बंध करने पर।

14. प्रथमोपशम सम्यक्त्वी या वेदक सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व को प्राप्त होकर 22 प्रकृतियों का बंध करने पर।

✻ 13 प्रकृति रूप तीन भुजकार – (13 से 17, 13 से 21, 13 से 22)

15. 13 प्रकृतियों को बाँधता हुआ असंयत या मरणकर देव असंयत होकर 17 प्रकृतियों का बंध करने पर।

16. उपशम सम्यग्दृष्टि सासादन गुण. को प्राप्त होकर 21 प्रकृति का बंध करने पर।

17. प्रथमोपशम अथवा वेदक सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व को प्राप्त होकर 22 प्रकृति का बंध करने पर।

✻ 17 प्रकृति रूप दो भुजकार – (17 से 21, 17 से 22)

18. 17 प्रकृतियों को बाँधता हुआ प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि सासादन गुण. को प्राप्त होकर 21 प्रकृति का बंध करने पर।

19. प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि या वेदक सम्यग्दृष्टि या मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्व को प्राप्त हो 22 प्रकृति का बंध करने पर।

✻ 21 प्रकृति रूप एक भुजकार – (21 से 22 प्रकृति रूप)

20. 21 प्रकृतियों का बंध करते हुए मिथ्यात्व को प्राप्त होकर 22 प्रकृतियों का बंध करने पर।

इस प्रकार 2 + 2 + 2 + 2 + 2 + 4 + 3 + 2 + 1 = **20 भुजकार** ऐसा प्राकृत पंचसंग्रह ग्रंथ में कहा गया है।

11. अल्पतर बंध

✻ 22 प्रकृति रूप तीन अल्पतर बंध – (22 से 17, 22 से 13 व 22 से 9 प्रकृति रूप)

1. अनादि अथवा सादि मिथ्यादृष्टि जीव तीन करण करता हुआ अनिवृत्तिकरण के अन्त समय में 22 प्रकृति का बंध करता हुआ अनन्तर समय में प्रथमोपशम सम्यक्त्वी होकर अथवा सादि मिथ्यादृष्टि 22 प्रकृति का बंध करते हुए विशुद्धि से वेदक सम्यक्दृष्टि होकर असंयत गुणस्थान में 17 प्रकृतियों का बंध करने पर।

2. देशसंयती होकर 13 प्रकृतियों का बंध करने पर।

3. अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती होकर 9 प्रकृतियों का बंध करने पर।

नोट – विशुद्धि से कोई जीव पहले गुणस्थान से चौथे, पाँचवें, सातवें गुण. में जा सकता है। मिथ्यादृष्टि मुनिराज भी आत्मस्वरूप के बल से क्षुद्रभव में ही 7वें गुण. में जा सकते हैं।

अव्रती सम्यग्दृष्टि जीव व्रत धारण करके देशसंयमी अथवा मुनि बनता है तब

✻ 17 प्रकृति रूप दो अल्पतर बंध – (17 से 13 व 17 से 9 प्रकृति रूप)

4. 17 प्रकृति का बंध करता हुआ देशसंयमी होकर 13 प्रकृति का बंध करने पर।

5. 17 प्रकृति का बंध करता हुआ अप्रमत्त संयत होकर 9 प्रकृति का बंध करने पर।

※ 13. प्रकृति रूप 1 अल्पतर बंध – (13 से 9 प्रकृति रूप)

6. 13 प्रकृति का बंध करता हुआ अप्रमत्त संयत होकर 9 प्रकृति का बंध करने पर

※ 9 प्रकृति रूप 1 अल्पतर बंध – (9 से 5 प्रकृति रूप)

श्रेणी आरोहण करने पर 4 कषायों की एक साथ बंध व्युच्छिति करने पर

7. 9 प्रकृति का बंध करता हुआ अनिवृत्तिकरण गुण. के प्रथम भाग में 5 प्रकृति का बंध करने पर।

※ 5 प्रकृति रूप 1 अल्पतर बंध – (5 से 4 प्रकृति रूप)

8. 5 प्रकृति का बंध करते हुए 9वें गुण के दूसरे भाग में 4 प्रकृति का बंध करने पर।

※ 4 प्रकृति रूप 1 अल्पतर बंध – (4 से 3 प्रकृति रूप)

9. 4 प्रकृति का बंध करते हुए तीसरे भाग में 3 प्रकृति का बंध करने पर।

※ 3 प्रकृति रूप 1 अल्पतर बंध – (3 से 2 प्रकृति रूप)

10. 3 प्रकृति का बंध करते हुए चौथे भाग में 2 प्रकृति का बंध करने पर।

※ 2 प्रकृति रूप 1 अल्पतर बंध – (2 से 1 प्रकृति रूप)

11. 2 प्रकृति का बंध करते हुए पाँचवें भाग में 1 प्रकृति का बंध करने पर।

इस प्रकार 3 + 2 + 1 + 1 + 1 + 1 + 1 + 1 = **11 अल्पतर बंध।**

अवक्तव्य बंध

※ उपशम श्रेणी से उतरते हुए पहले समय में होने वाले बंध अवक्तव्य बंध है।

※ दूसरा अवक्तव्य बंध वहीं पर मरण होने से होता है।

इस प्रकार **20 भुजकार, 11 अल्पतर, 2 अवक्तव्य बंध** में जितनी प्रकृतियों का बंध कहा है उतनी ही प्रकृतियों का बंध द्वितीयादिक समयों में भी होवे सो वे भी अवस्थित बंध हैं अत: 20 + 11 + 2 = 33 **अवस्थित बंध।**

※ विशेषता से अर्थात् प्रकृतियों के परिवर्तन की अपेक्षा भुजकार बंध के **127,** अल्पतर बंध के **45,** अवक्तव्य बंध के **3,** अवस्थित बंध के **175** भंग हैं।

भुजकार बंध के 127 भंग

※ मिथ्यात्व गुणस्थान में – इस गुणस्थान में 22 प्रकृतियों का ही बंध होता है ज्यादा प्रकृतियों का नहीं इसलिए यहाँ भुजकार बंध नहीं है।

※ सासादन गुण में – 21 प्रकृति से 22 प्रकृति रूप (एक भुजकार बंध)

तो 4 × 6 = **24 भंग** (22 प्रकृति रूप 6 भंग व 21 प्रकृति रुप 4 भंग होते है, इनकी चर्चा हम पहले करके आ चुके है।)

✻ मिश्र गुण.में – 17 प्रकृति से 22 प्रकृति रूप (एक भुजकार बंध)

तो 2 से 6 = **12 भंग** (17 प्रकृति रुप 2 भंग)

✻ असंयत गुण. में – 17 प्रकृति से 21 व 22 प्रकृति रूप (दो भुजकार बंध)

तो 2 × 4 = 8 भंग

2 × 6 = 12 भंग, **8 + 12 = 20 भंग**

✻ देशसंयत गुण. में – 13 प्रकृति से 17, 21 व 22 प्रकृति रूप (तीन भुजकार बंध)

तो 2 × 2 = 4 भंग (13 प्रकृति रुप 2 भंग)

2 × 4 = 8 भंग

2 × 6 = 12 भंग **4 + 8 + 12 = 24 भंग**

✻ प्रमत्त गुण. में – 9 प्रकृति से 13, 17, 21 व 22 प्रकृति रूप (4 भुजकार बंध)

तो 2 × 2 = 4 भंग (9 प्रकृति रुप 2 भंग)

2 × 2 = 4 भंग

2 × 4 = 8 भंग

2 × 6 = 12 भंग, 4+4+8+12=28 भंग

✻ अप्रमत्त गुण. में – 9 प्रकृति से 17 प्रकृति रूप (1 भुजकार बंध)

तो **1 × 2 = 2 भंग** (9 प्रकृति रुप 1 भंग)

क्योंकि प्रमत्त गुण. में ही अरति व शोक की व्युच्छित्ति हो जाती है।

✻ अपूर्वकरण गुण.में – 9 प्रकृति से 17 प्रकृति रूप (1 भुजकार बंध)

तो – **1 × 2 = 2 भंग**

✻ अनिवृत्तिकरण गुण. के पहले भाग में – 5 प्रकृति से 9 व 17 प्रकृति रूप (2 भुजकार बंध)

तो 1 × 1 = 1 भंग

1 × 2 = 2 भंग, **1 + 2 = 3 भंग**

✻ दूसरे भाग में – 4 प्रकृति से 5 व 17 प्रकृति रूप (2 भुजकार बंध)

तो 1 × 1 = 1 भंग

1 × 2 = 2 भंग, **1 + 2 = 3 भंग**

✻ तीसरे भाग में – 3 प्रकृति से 4 व 17 प्रकृति रूप (2 भुजकार बंध)

तो 1 × 1 = 1 भंग

1 × 2 = 2 भंग, **1 + 2 = 3 भंग**

✻ **चौथे भाग में –** 2 प्रकृति से 3 व 17 प्रकृति रूप (2 भुजकार बंध)

तो 1 × 1 = 1 भंग

1 × 2 = 2 भंग, **1 + 2 = 3 भंग**

✻ **पाँचवें भाग में –** 1 प्रकृति से 2 व 17 प्रकृति रूप (2 भुजकार बंध)

तो 1 × 1 = 1 भंग

1 × 2 = 2 भंग, **1 + 2 = 3 भंग**

इस प्रकार भुजकार बंध के – 24 + 12 + 20 + 24 + 28 + 2 + 2 + 3 + 3 + 3 + 3 + 3 **= 127 भंग**

✻ अल्पतर बंध के 45 भंग

✻ **मिथ्यात्व गुण. में –** 22 प्रकृति से 17, 13 व 9 प्रकृति रूप (तीन अल्पर बंध)

तो 6 X 2 = 12 भंग

6 X 2 = 12 भंग

(7वें गुण. को प्राप्त कर) 6X1 = 6 भंग, **12 + 12 + 6 = 30 भंग**

✻ **सासादन व मिश्र गुण.** में अल्पतर बंध नहीं होता है।

असंयत गुण. में – 17 प्रकृति से 13 व 9 प्रकृति रूप (2 अल्पतर बंध)

तो – 2 X 2 = 4 भंग

2 X 1 = 2 भंग, **4 + 2 = 6 भंग**

✻ **देशसंयत गुण. में –** 13 प्रकृति से 9 प्रकृति रूप (1 अल्पतर बंध)

तो 2 X 1 = **2 भंग**

✻ **प्रमत्त गुण. में –** 9 प्रकृति से 9 प्रकृति रूप (1अल्पतर बंध)

तो 2 X 1 = **2 भंग**

यहाँ अवस्थित बंध न कहकर अल्पतर बंध ही कहेंगे क्योंकि प्रमत्त गुण. में अरति व शोक प्रकृति की व्युच्छिति होने से एक भंग सातवें गुण. में कम हो जाता है।

✻ अप्रमत्त गुण. से अपूर्वकरण गुण. में समान रूप से 9 प्रकृति का बंध है इसलिए यहाँ अल्पतर बंध नहीं होता है।

अपूर्वकरण गुण. में – 9 प्रकृति से 5 प्रकृति रूप (1 अल्पतर बंध)

तो 1 X 1 = **1 भंग**

✻**अनिवृत्तिकरण गुण. के प्रथम भाग में –** 5 से 4 प्रकृति रूप (1 अल्पतर बंध)

तो 1 X 1 = **1 भंग**

* **द्वितीय भाग में –** 4 प्रकृति से 3 प्रकृति रूप (एक अल्पतर बंध)

तो 1 **X** 1 = **1 भंग**

* **तृतीय भाग में –** 3 प्रकृति से 2 प्रकृति रूप (एक अल्पतर बंध)

तो 1 **X** 1 = **1 भंग**

* **चतुर्थ भाग में –** 2 प्रकृति से 1 प्रकृति रूप (एक अल्पतर बंध)

तो 1 **X** 1 = **1 भंग**

अनिवृत्तिकरण गुण. के चरम समय में 1 प्रकृति का बन्ध करता है और यहाँ से 10वें गुण. में जाकर वहाँ बंध का अभाव हो जाता है।

इस प्रकार 30 **+** 0 **+** 0 **+** 6 **+** 2 **+** 2 **+** 0 **+** 1 **+** 1 **+** 1 **+** 1 **+** 1 = **45 अल्पतर बंध के भंग**

3 अवक्तव्य बंध

1. सूक्ष्म साम्पराय गुण. मोहनीय कर्म के बंध से रहित है अत: वहाँ से नीचे उतरकर 9वें गुणस्थानवर्ती होकर संज्वलन लोभ को बाँधता है सो अवक्तव्य बंध का एक भंग हुआ।

2. मरण करके देवअसंयत होकर 2 प्रकार के 17 प्रकृति का बंध करता है सो दो भंग हुए।

इस प्रकार भुजकार के 127, अल्पतर के 45, अवक्तव्य बंध के 3 भंगों में द्वितीयादिक समयों में समान प्रकृतियों का बंध होने से अवस्थित बंध होता है। अत: **127 + 45 + 3 = 175 भंग अवस्थित बंध के हुए।**

इस प्रकार **कुल मिलाकर** (127 **+** 45 **+** 3 **+** 175) = **350 भंग** हुए।

प्रश्न– हम सबके मन में प्रश्न उठता है कि हमने इन बंध स्थानों को क्यों जाना? इससे हमें क्या लाभ हुआ?

उत्तर – हम इन बंध स्थानों को जानकर इन पर विशेष चिंतन करें तो हम कर्म बंध से बच सकते हैं अथवा बचने का प्रयास करते हैं। चिंतन से हमारे असंख्यात कर्मों की निर्जरा होती है। परिणामों में विशुद्धि बनती है, समय का सदुपयोग होता है क्षयोपशम बढ़ता है।

आप सभी ने मुझ अल्पज्ञ को बड़े मनोयोग से सुना, अगर इसमें कोई त्रुटि हो गई हो तो मुझे अवगत कराये जिससे कि सुधार किया जा सके।

अंत में पूज्य गुरुदेव के श्री चरणों में बारम्बार नमोऽस्तु-3

कर्मों के भेद-प्रभेद

-क्षु. विश्वकुन्द सागर

ॐ नम: सिद्धेभ्य, ॐ नम: सिद्धेभ्य:, ॐ नम: सिद्धेभ्य:

मैं आचार्य श्री विरागसागर जी महाराज के श्रीचरणों में शतश: नमोऽस्तु करता हूँ। जो शाश्वत् तीर्थराज सम्मेद शिखर जी मैं विराजमान हैं। वो गुरुवर मुझ बोलने के लिए शिखर जी से आशीर्वाद प्रदान कर रहे हैं। मैं गुरुदेव आचार्य श्री 108 विनम्रसागर जी महामुनिराज के श्रीचरणों में सिद्ध श्रुत आचार्य भक्ति सहित त्रिकाल शतश: नमोऽस्तु करता हूँ। जिनके आशीर्वाद से मैं बोलने का प्रयास कर रहा हूँ। गुरुवर ने मुझे भरपूर जिनवाणी का रसपान कराया है, मैं उसमें से कुछ जिनवाणी के बहुमूल्य रत्न आपके सामने रख रहा हूँ। आप सभी जिनवाणी पुत्र हैं, अत: आपको अधिक विस्तार से समझाने की आवश्यकता नहीं है। 15 तारीख से आज 18 तारीख तक गोम्मटसार कर्मकाण्ड पर विद्वानों द्वारा संगोष्ठी चल रही है। इस संगोष्ठी में मैं विद्वानों के द्वारा तथा गुरुवर के द्वारा कहे गये जिनवाणी के कुछ अमृत कणों को आपके समक्ष रख रहा हूँ।

आचार्य श्री नेमिचन्द जी महाराज द्वारा गोम्मटसार कर्मकाण्ड ग्रंथ की रचना की गई है। इस ग्रंथ में कर्मों के भेद-प्रभेद के सन्दर्भ में विस्तार से वर्णन किया है।

प्रकृति, शील और स्वभाव ये कर्म के पर्यायवाची नाम हैं। कर्मों का सम्बन्ध इस संसारी जीव के साथ अनादिकाल से है। बंध की अपेक्षा कर्म एक ही है। लक्षण और भावों की अपेक्षा अनेक भेद हैं। द्रव्य कर्म और भाव कर्म की अपेक्षा दो भेद हैं। तथा घातिया और अघातिया की अपेक्षा भी दो भेद हैं। घातिया कर्म के चार भेद हैं। अघातिया कर्म के भी चार भेद हैं। कर्म के आठ भेद क्रमश: ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये भेद कहे हैं। ज्ञानावरण के 5, दर्शनावरण के 9, वेदनीय के 2, मोहनीय के 28, आयु के 4, नाम के 93, गोत्र के 2, अन्तराय के 5 भेद हैं। टोटल - आठ कर्मों के 148 भेद होते हैं। जैसे तपाया हुआ लोहे का गरम गोला सब ओर से पानी को अपनी ओर खींचता है। उसी प्रकार आत्मा भी सर्व ओर से कर्म परमाणुओं को अपनी ओर खींचता है।

कर्म निम्न प्रकार से अपना कार्य करते हैं। जैसे - ज्ञानावरण परदा के समान है। दर्शनावरण - द्वारपाल के समान है। वेदनीय शहद लिपटी तलवार के समान है। मोहनीय शराब के समान है। आयु जेल के समान है। नाम चित्रकार के समान है। गोत्र कर्म-कुम्भकार की तरह है। अन्तराय कर्म भण्डारी के समान है।

गोम्मटसार ग्रंथ में मिथ्यात्व के तीन खण्ड किये गये हैं। मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक् प्रकृति।

घातिया कर्मों की प्रकृतियाँ सर्वघाती और देशघाती होती हैं। 20 प्रकृतियाँ सर्वघाती तथा मिश्र प्रकृति जाति की अपेक्षा सर्वघाती हैं। इस प्रकार 21 प्रकृतियाँ सर्वघाती होती हैं।

देशघाती प्रकृतियाँ 26 हैं। पुण्य प्रकृतियाँ 68 हैं। पाप प्रकृतियाँ 100 हैं।

कर्मों का फल चार प्रकार से प्राप्त होता है। जीव विपाकी, पुद्गल विपाकी, क्षेत्र विपाकी और भव विपाकी।

इस संगोष्ठी के सत्रों के माध्यम से मैंने समझने की कोशिश की है कि हे गुरुवर! मेरा समाधि और सल्लेखना आपके श्रीचरणों में हो, ऐसी विनम्र प्रार्थना आपसे है। मैं सदैव आपके श्रीचरणों में रहकर आत्मसाधना करता हुआ समाधि को प्राप्त होऊँ। ऐसे विनम्र आशीर्वाद की प्रार्थना करता हूँ।

बोलिये आचार्य गुरुवर श्री विनम्रसागर जी महाराज की जय।

राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी अलवर (राजस्थान)

(दिनांक 05 से 08 अक्टूबर, 2019)

सान्निध्य - परम पूज्य उच्चारणाचार्य विनम्र सागर जी महाराज ससंघ

निर्देशन एवं संयोजन - ब्र. प्रदीप शास्त्री पीयूष, जबलपुर

अन्तर्गत विषय-कर्मकाण्ड

आलेख - पं. शीतल चन्द जैन, पूर्व प्राचार्य, ललितपुर।

''अन्तराय कर्म का लक्षण''

तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार ''विघ्नकरण मन्तरायस्य'' विघ्न करना अन्तराय का कार्य है। जो कर्म जीव के गुणों में बाधा डालता है। सर्वार्थ सिद्धि में ''दानादि परिणामव्यघात हेतु त्वान्त द्वयपदेश:'' दानादि परिणाम के व्याघात का कारण होने से यह अर्थात् अन्तराय संज्ञा मिली है। धवला ग्रंथ में ''अन्तर मेति गच्छतीत्यन्तराय:।'' जो अन्तर अर्थात् मध्य में आता है वह अन्तराय है।

अन्तराय कर्म के भेद-

तत्त्वार्थसूत्र ''दान लाभ भोगोपभोग वीर्याणाम्'' सर्वार्थ सिद्धि, राजवार्तिक, पंचसंग्रह प्राभृत, षट्खण्डागम, धवलाजी, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, पंचसंग्रह प्राकृत अधिकार आदि सभी ग्रन्थों में यही भेद दिये हैं। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच अन्तराय हैं।

1. दानान्तराय - जिसके उदय से देना चाहे और देने को वस्तु भी हो तो भी दान न कर सके। दान का अर्थ है 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं' अपने व दूसरे के लिये न्यायोपार्जित धन का त्याग करना। अपने पास बहुत अधिक सम्पत्ति है और सच्चे गुरुओं के माध्यम से धन की असारता, क्षणभंगुरता का उपदेश भी सुना है। लेने वाला सुपात्र भी है पर जिस कर्मोदय से दान देने की प्रवृत्ति ही न जगे वह दानान्तराय कर्म है।

2. लाभान्तराय - लाभ की इच्छा होते हुए भी तथा प्रयत्न करने पर भी जिसके उदय से लाभ नहीं होता है।

पुरुषार्थ करने पर भी जब इच्छित वस्तु सुलभ न हो और लाभ के बदले हानि होती है, सफलता के स्थान पर निराशा ही मिलती है, सुख के स्थान पर दु:ख ही मिलता है तो कारण स्पष्ट है, जो कुछ हो रहा है, अन्तराय कर्म के कारण हो रहा है। हम कर्म सिद्धान्त के इस रहस्य को न समझकर दूसरों पर दोषारोपण करते हैं। उदाहरणार्थ यदि घर में नई वधु आती है और असाता कर्म के उदय से व्यापार आदि में हानि होने लगती है। कहने लगते हैं कि जब से घर में बहू के पैर पड़े हैं, सारा व्यापार चौपट हो गया, यह मान्यता अज्ञान के कारण होती है।

भगवान ऋषभदेव ने पूर्वभव में बैल के मुख में मूषिका बाँधने का उपदेश दिया था। ऐसी मान्यता है, फलस्वरूप लाभान्तराय कर्म बंध के कारण जन-सामान्य को आहार-विधि (पड़गाहन आदि) का ज्ञान न होने के कारण 06 माह तक आहार का लाभ नहीं हुआ था।

सती अंजना को भी 22 वर्ष तक पति का वियोग सहना पड़ा। उनकी सासु ने घर से निकाल दिया। ऐसे विपत्ति के समय स्वयं उसके माता-पिता ने भी अपने घर में शरण नहीं दी। सखी बसंतमाला के साथ जंगल-जंगल में दर-दर की ठोकर खानी पड़ी और अपार दुःखों को भोगना पड़ा। वन में ध्यानस्थ मुनिराज ने कहा कि पूर्व भव में अंजना ने पटरानी के दर्प (घमंड) में जिनेन्द्र देव की प्रतिमा का अविनय किया था। अर्थात् 22 घड़ी के लिये भगवान की प्रतिमा को कुएँ में डाल दिया था। उससे ऐसा अन्तराय कर्म का बंध किया जिससे 22 वर्ष तक पति का वियोग हुआ और परिवार में अनासक्त होकर तिरस्कृत होना पड़ा।

3. **भोगान्तराय कर्म –** जिसके उदय से भोग इच्छा तथा योग्य वस्तु होते हुए भी भोग न कर सके सो भोगान्तराय कर्म है। उदाहरणार्थ डायबिटीज वाला व्यक्ति मिष्ठान्न खाने की तीव्र अभिलाषा होते हुए भी नहीं खा सकता है।

4. **उपभोगान्तराय –** उपभोग्य वस्तु होते हुये भी उपभोग न कर सके सो उपभोगान्तराय कर्म है। जो एक बार भोगने से नष्ट हो जावे, वे भोग जैसे-भोजन, तेल, माला आदि और जो बार-बार भोगने में आवे सो उपभोग, जैसे कपड़ा, वस्त्र, मकान आदि।

मेरठ के एक व्यापारी के घर के दरवाजे पर एक शेर लिखा है –

अगाह अपनी मौत का कोई वसर नहीं।
सामान सौ बरस का पल की खबर नहीं।

कटनी के स. सिंघई जयकुमार जी ने उस शेर को पढ़कर उन्होंने मकान मालिक व्यापारी से चकित होते हुए कारण पूछा तो मकान मालिक व्यापारी मित्र ने बताया कि मेरे पिताजी ने 30 लाख रुपया खर्च करके यह घर बनवाया था। पर क्या बताऊँ, जिस दिन गृह प्रवेश था, उस दिन उन्होंने जैसे ही अपना पहला पैर मकान के अन्दर रखा, उनका हार्ट फैल हो गया, उनका दूसरा पैर बाहर ही था। इसे ही ध्यान में रखकर बोध वाक्य की तरह उक्त शेर यहाँ लिखवा रखा है।

5. **वीर्यान्तराय कर्म –** जिसके उदय से बल प्राप्ति के साधन मिलते हुए भी बल, शक्ति में उत्साह न हो तो वीर्यान्तराय कर्म है।

वास्तव में तो अन्तराय कर्म आत्मा की शक्तियों में बाधा डालता है और उसके क्षयोपशम और क्षय से आत्मा की शक्तियों का विकास होता है। दानान्तराय के क्षय अथवा क्षयोपशम से अभयदान आदि रूप शक्ति, लाभान्तराय के क्षय-क्षयोपशम से आत्मा में योग्य शक्तियों का लाभ-विकास, भोग तथा उपभोग अन्तराय के क्षय-क्षयोपशम से अपने ज्ञानादि गुणों की भोगने की शक्ति का विकास तथा वीर्यान्तराय के क्षय-क्षयोपशम से आत्मा की सर्व शक्तियों का बल विकास होता है।

अन्तराय कर्म का कार्य – मोक्ष मार्ग प्रकाशक में कहा गया है ''अन्तराय कर्म के उदय से जीव चाहै सो न होय...............बहुरि तिसही का क्षयोपशम नैं किंचित मात्र चाह भी होय।''

अन्तराय कर्म के बन्ध योग्य परिणाम

पूर्व कथित सूत्र ''विघ्न करण मन्तरायस्य'' दानादि में विघ्न डालना अन्तराय कर्म का आस्रव है।

राजवार्तिक में वर्णित विषय-ज्ञान प्रतिषेध, संस्कारोपघात, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, स्थान, अनुलेपन, गन्ध, माल्य, आच्छादन, भूषण, शयन, आसन, भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेय और परिभोग आदि में विघ्न करना, विभव समृद्धि में विस्मय करना, द्रव्य का त्याग न करना, द्रव्य के उपभोग के समर्थन में प्रमाद करना, अवर्णवाद करना, देवता के लिए निवेदित या अनिवेदित द्रव्य का ग्रहण करना, निर्दोष उपकरणों का त्याग नहीं करना, दूसरे की शक्ति का अपहरण, धर्म विच्छेद करना, कुशल चारित्र वाले तपस्वी, गुरु तथा चैत्य की पूजा में व्याघात करना, दीक्षित, कृपण, दीन, अनाथ को दिये जाने वाले वस्त्र, पात्र, आश्रय आदि में विघ्न करना, पर निरोध, बन्धन, गुहा अंगच्छेद, नाक, ओंठ आदि का काट देना प्राणिवध आदि अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

अन्तराय कर्म के बंध के कारणों को उदाहरण सहित वर्णन है।

1. **दान देने में रुकावट या बाधा उपस्थित करना –** जो मनुष्य स्वयं भी दान नहीं देता और जो आहारादि दान देते हैं उन्हें भी रोकता है तथा देने वालों की निन्दा करता है, वह दानान्तराय कर्म बाँधता है। अपने नगर में मुनिराज का चातुर्मास हो रहा हो घर में सब सुविधा होने पर भी मुनिराज को आहार दान नहीं देता है तो वह दानान्तराय कर्म को बाँधता है।

2. **लाभ में अन्तराय डालना –** लाभ यानि प्राप्ति, अन्तराय अर्थात् बाधा डालना। जैसे कोई व्यक्ति को व्यापार में अच्छा लाभ हो रहा है तो ईर्ष्यावश उसकी धन प्राप्ति में रुकावट डालता है या किसी की ज्ञान प्राप्ति, यश प्राप्ति या भोजनादि में बाधा डालता है तो वह लाभान्तराय कर्म का बंध करता है।

3. **भोग्य पदार्थों की प्राप्ति में बाधा डालना –** भोजन आदि भोग पदार्थों में विघ्न डालना। कोई किसी को भोजन देता है तो उसे रोकना अथवा पशु पक्षी या मनुष्य जब खाते हों तो उन्हें भगाना या उनका भोजन छीनना। घर पर आये अतिथि को भोजन नहीं कराना, मुनिराजों को आहारादि नहीं देना, ये सब भोगान्तराय कर्म के बंध के कारण हैं।

4. **उपभोग पदार्थों की प्राप्ति में अन्तराय डालना –** कोई अपने मकान, वस्त्र, बर्तन, वाहन, आभूषण आदि पदार्थों का उपभोग करना चाहता है। उसमें अन्तराय डालने से उपभोगान्तराय कर्म का बंध होता है। पति-पत्नी का वियोग कराने से, माँ पुत्र का वियोग करने से यह कर्म बँधता है। 'भाव-कालत्रयी' ग्रंथ में प्रश्न उपस्थित किया गया है कि हे स्वामिन! कृपा कर बताइये कि स्त्री, पुत्र, बन्धु, इष्टजनों का वियोग किस पाप कर्म के उदय से होता है? तो इसका समाधान देते हुए लिखा है कि जिन जीवों ने पूर्व जन्म में अन्य जीवों

के स्त्री, पुत्र, भाई, कुटुम्बी लोगों के वियोग कराने का प्रयत्न किया है, अनुमोदना की है, अपने कार्यसिद्धि के लिए दूसरों का अपमान किया है, ऐसे लोगों को अगले जन्म में जाकर कुटुम्बी लोगों का वियोग सहन करना पड़ता है।

उदाहरण – जब महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका था, तब एक दिन धृतराष्ट्र ने कृष्ण से पूछा – प्रभो एक पिता के रहते हुए उसके 100 पुत्र मर जाएँ और इस महादुख के लिए पिता को रोना पड़े, ऐसे कौन से महापाप का दण्ड मुझे मिल रहा है।

प्रश्न सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा – हे हस्तिनापुर नरेश! पूर्व भव में आप एक प्रजावत्सल न्यायप्रिय सम्राट थे। यद्यपि आप सात्विक जीवन जीने वाले थे। किन्तु अत्यन्त स्वाद लोलुपी थे। अत: भोजन शुद्ध शाकाहारी है या नहीं इसकी जानकारी किये बिना ही भोजन पर टूट पड़ते थे। धीरे-धीरे आपका रसोइया आपकी इस कमजोरी को जान गया और पक्षियों का माँस पकाकर खिलाने लगा। इस प्रकार उसने एक-एक करके हंस के 100 बच्चों का माँस आपको खिला दिया। उसी पाप का दण्ड आप इस जीवन में भोग रहे हो। हे राजन! इसी कारण आपके 100 बेटे युद्ध में मारे गये। धृतराष्ट्र यह सुनकर अवाक रह गये।

5. शक्ति को कुंठित कर देना – जो धार्मिक कार्यों में आलस्य करता है। शक्ति होते हुये भी जो परोपकार के कार्य नहीं करता, अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता है, दूसरों के यश, ख्याति, उन्नति को देखकर उन्हें हतोत्साहित करता है अथवा कहता है कितनी ही भलाई कर लो बाद में तो बुराई ही मिलती है, अपयश ही मिलता है, हमने तो सब कुछ करके देख लिया कुछ भी फायदा नहीं, आदि बातों को कहकर दूसरों को समाज सेवा आदि कार्यों के करने से रोकता है तो वह वीर्यान्तराय कर्म का बंध करता है।

आहार सम्बन्धी अन्तराय – लाटी संहिता अधिकार में श्रावकों के श्रावक सम्बन्धी पञ्चेन्द्रियगत अन्तराय

1. सामान्य से– सामान्य छह भेद– श्रावकों के लिए भोजन के अन्तराय कई प्रकार के हैं। कितने ही अन्तराय देखने से होते हैं, कितने ही छूने या स्पर्श करने से, कितने ही मन में स्मरण कर लेने मात्र से, कितने ही सुनने से होते हैं, कितने ही सूँघने से होते हैं और कितने ही अन्तराय चखने या स्वाद लेने अथवा खाने मात्र से होते हैं।

2. स्पर्शन सम्बन्धी अन्तराय – सागार धर्मामृत में सूखा चमड़ा, सूखी हड्डी, कुत्ता, बिल्ली और चाण्डाल आदि का स्पर्श हो जाने पर आहार छोड़ देना चाहिए।

लाटी संहिता में वर्णित विषय – सूखा चमड़ा, सूखी हड्डी, बालादि का स्पर्श हो जाने पर भोजन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार चूहा, कुत्ता, बिल्ली आदि घातक पशुओं का स्पर्श हो जाने पर शीघ्र ही भोजन का त्याग कर देना चाहिए।

आहार के चौदह मल दोष

मू.आ. में – नख, रोम (बाल), प्राण रहित शरीर, हाड़, गेहूँ आदि का कण, चावल कण, खराब लोहू (राधि), चाम, लोहू, माँस, अंकुर होने योग्य गेहूँ आदि, ये चौदह मल हैं इनको देखकर आहार त्याग देना चाहिए।

3. **रसना सम्बन्धी अन्तराय – सागार धर्मामृत में पं. आशाधर जी कहते हैं–** जिस वस्तु का त्याग कर दिया है, उसे भोजन में आ जाने पर, तथा जिन्हें भोजन से अलग नहीं कर सकते ऐसे जीवित दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय जीवों के संसर्ग हो जाने पर (मिल जाने पर) अथवा तीन चार मरे हुए जीवों के मिल जाने पर उस समय का भोजन छोड़ देना चाहिए।

लाटी संहिता अधिकार में – भोगोपभोग पदार्थों का परिमाण करते समय जिन पदार्थों का त्याग कर दिया है अथवा जिन रसों का त्याग कर दिया है उनको भूल जाने के कारण अथवा किसी समय अन्य पदार्थ का भ्रम हो जाने के कारण ग्रहण कर ले तथा फिर उसी समय स्मरण आ जाय अथवा किसी भी तरह मालूम हो जाय तो बिना किसी सन्देह के उस समय भोजन छोड़ देना चाहिए। कच्चे दूध, दही आदि गोरस में (मिले हुए चना, मूँग, उड़द, रमास (वोड़ा) आदि जिनके बराबर दो भाग हो जाते हैं। जिनकी दाल बन जाती है) ऐसे अन्न का त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि कच्चे गोरस में मिले चना, उड़द, मूँगादि अन्नों के खाने से मुँह की लार का स्पर्श होते ही उसमें उसी समय अनेक सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। यदि बने हुए भोजन में किसी प्रकार के त्रस जीवों का कलेवर दिखाई पड़े तो उसे देखते ही भोजन छोड़ देना चाहिए, इसी प्रकार यदि भोजन में जड़ सहित बाल दिखाई दे तो भी भोजन छोड़ देना चाहिए। ''यह भोजन चमड़े के पानी से बना है या इसमें चमड़े के बर्तन में रखे हुए घी, दूध, तेल, पानी आदि पदार्थ मिले हुये हैं इसलिए यह भोजन अशुद्ध या सदोष हो गया है'' ऐसा किसी भी सूक्ष्म इशारे से व किसी भी सूक्ष्म चेष्टा से मालूम हो जाय तो उसी समय आहार छोड़ देना चाहिए।

4. **गन्ध सम्बन्धी अन्तराय –** लाटी संहिता अधिकार में – भोजन के अन्तराय और दोषों को जानने वाले श्रावकों को मद्य की दुर्गन्ध के समान गन्ध आने पर अथवा और भी अनेकों प्रकार की दुर्गन्ध आने पर भोजन का त्याग कर देना चाहिए।

5. **दृष्टि या दर्शन सम्बन्धी अन्तराय –** सागार धर्मामृत में वर्णित विषय – गीला चमड़ा, गीली हड्डी, मदिरा, माँस, लोहू तथा पीवादि पदार्थों को देखकर उसी समय भोजन छोड़ देना चाहिए। या पहले दिख जाने पर उसी समय भोजन न करके कुछ काल पीछे करना चाहिए।

चारित्र पाहुड़ टीका के अनुसार हड्डी, मद्य, चमड़ा, रक्त, पीव, मल, मूत्र, मृतक मनुष्य इन पदार्थों के दिख जाने पर तथा त्याग किये हुये अन्नादिका सेवन हो जाने पर अथवा चाण्डाल आदि के दिखाई दे जाने पर या उसका शब्द कान में पड़ जाने पर भोजन त्याग देना चाहिए। क्योंकि ये सब दर्शन प्रतिमा के अतिचार हैं।

6. श्रोत्र सम्बन्धी अन्तराय –

सागार धर्मामृत – 'इसका मस्तक काटो' इत्यादि रूप कठोर शब्दों को, ''हा हा'' इत्यादि आर्त्त स्वर वाले शब्दों को और पर–चक्र के आगमनादि विषयक विडवर प्राय शब्दों को सुनकर के भोजन त्याग देना चाहिए।

चारित्र पाहुड़ टीका–चाण्डालादि दिखाई दे जाने पर या उसका शब्द कान में पड़ने पर आहार छोड़ देना चाहिए।

लाटी संहिता अधिकार में 'मैं इसको मारता हूँ' इस प्रकार के हिंसक शब्दों को सुनकर भोजन का परित्याग कर देना चाहिए। अथवा शोक से उत्पन्न होने वाले वचनों को सुनकर या किसी के मोह से अत्यन्त रोने के शब्द सुनकर अथवा अत्यन्त दीनता के वचन सुनकर या अत्यंत भयंकर शब्द सुनकर शीघ्र ही भोजन छोड़ देना चाहिए।

7– मन सम्बन्धी अन्तराय – सागार धर्मामृत में यह पदार्थ (जैसे तरबूज) माँस के समान है अर्थात् वैसी ही आकृति का है। इस प्रकार भक्ष्य पदार्थ में भी मन के द्वारा संकल्प हो जाने पर नि:संदेह भोजन छोड़ देना चाहिए।

लाटी संहिता अधिकार में – ''यह भोजन माँस के समान या रुधिर के समान है'' इस प्रकार किसी भी उपमेय या उपमान के द्वारा मन में स्मरण हो जावे तो भी उसी समय समस्त जल पानादि का त्याग कर देना चाहिए।

2– साधु सम्बन्धी अन्तराय – (मूलाचार के अनुसार)

साधु के चलते समय या खड़े रहते समय ऊपर जो कौआ आदि बीट करे तो वह काक नामक भोजन का अन्तराय है। अशुचि वस्तु से चरण लिप्त हो जाना वह अमेध्य अन्तराय है। वमन होना छर्दि है। भोजन का निषेध करना रोध है। अपने व दूसरे के लहू निकलता देखना रुधिर है। दु:ख से आँसू निकलते देखना अश्रुपात है। पैर के नीचे हाथ से स्पर्श जान्वध: परामर्श है। घुटने प्रमाण काठ के ऊपर उलंघ जाना वह जानूपरि व्यक्तिक्रम अन्तराय है। नाभि से नीचे मस्तक कर निकलना वह नाभ्यधो निर्गमन है। त्याग की गई वस्तु का भक्षण करना प्रत्याख्यानसेवना है। जीव वध होना जन्तु वध है। कौआ ग्रास ले जाये वह काकादिपिण्ड हरण है। पाणि मात्र से पिण्ड का गिर जाना पाणित पिण्ड पतन है। पाणि मात्र में किसी जन्तु का मर जाना पाणित जन्तु वध है। माँस आदि का दिखना माँसादि दर्शन है। देवादि कृत उपसर्ग का होना उपसर्ग है। दोनों पैर के बीच में कोई जीव गिर जाय वह जीव संपात है। भोजन देने वाले के हाथ से भाजन गिर जाना वह भाजन संपात है। अपने उदर से मल निकल जाये वह उच्चार है। मूत्रादि निकलना प्रसवण है। चाण्डालादि अभोज्य के घर में प्रवेश हो जाना अभोज्य गृह प्रवेश है। मूर्च्छादि से अपने आप गिर जाना पतन है। बैठ जाना उपवेशन है। कुत्तादि का काटना संदंश है। हाथ से भूमि को छूना भूमि स्पर्श है। कफ आदि गठन का फेंकना निष्ठीवन है।

पेट से कृमि अर्थात् कीड़ों का निकलना उदर कृमि निर्गमन है। बिना दिये किंचित ग्रहण करना अदत्त ग्रहण है। ग्राम जले तो ग्राम दाह है। पाँव द्वारा भूमि से कुछ उठा लेना वह पादेन किंचित ग्रहण है। हाथ द्वारा भूमि से कुछ उठाना वह करेण किंचित ग्रहण है। ये काकादि बत्तीस अन्तराय तथा दूसरे भी चाण्डाल स्पर्शादि, कलह, इष्ट मरणादि बहुत से भोजन का त्याग करने का कारण जानना। तथा राजादि का भय होने से, लोक निन्दा होने से संयम के लिए, वैराग्य के लिए, आहार का त्याग करना चाहिये। (अनगार धर्मामृत)

3– भोजन त्याग योग्य अवसर (मूलाचार के अनुसार)

व्याधि के अकस्मात् हो जाने पर, देव मनुष्यादि कृत उपसर्ग हो जाने पर, उत्तम क्षमा धारण करने के समय, ब्रह्मचर्य रक्षण करने के निमित्त, प्राणियों की दया पालने के निमित्त, अनशन तप के निमित्त, शरीर से ममता छोड़ने के निमित्त इन छह कारणों के होने पर भोजन का त्याग कर देना चाहिए।

अनगार धर्मामृत किसी भी आकस्मिक व्याधि मारणान्तिक पीड़ा के उठ खड़े होने पर, देवादिक के द्वारा किये उत्पातादिक के उपस्थित होने पर अथवा ब्रह्मचर्य को निर्मल बनाये रखने के लिए शरीर की कृशता, तपश्चरण और प्राणी रक्षा आदि धर्मों की सिद्धि के लिए भी साधुओं को भोजन का त्याग कर देना चाहिए।

4– एक स्थान से उठकर अन्यत्र चले जाने योग्य अवसर

अनगार धर्मामृत – भोजन के स्थान पर यदि कीड़ा आदि तुच्छ जीव-जन्तु फिरते अधिक नजर पड़ें, या ऐसा ही कोई दूसरा निमित्त उपस्थित हो जाय तो संयमियों को हाथ धोकर वहाँ से दूसरी जगह के लिए आहारार्थ मौनपूर्वक चले जाना चाहिए। इसके सिवाय जिस समय वे अनगार ऋषि भोजन करें उसी समय उनको अपने दोनों पैरों के बीच चार अँगुल का अन्तर रखकर, समरूप में स्थापित करने चाहिए तथा उसी समय दोनों हाथों की अंजलि भी बनानी चाहिए।

इस आलेख में अन्तराय कर्म का लक्षण, कर्म के भेद उदाहरण सहित, अन्तराय कर्म के बन्ध योग्य परिणामों को सोदाहरण प्रस्तुत किया गया है। आहार सम्बन्धी अन्तराय, साधु सम्बन्धी अन्तरायों का अनेक ग्रन्थों से संदर्भ प्राप्त कर उक्त सभी बातों का उल्लेख किया गया है। आशा है प्रस्तुत आलेख से अन्तराय कर्म का स्पष्टीकरण पाठकों के लिए सुलभ हो जायेगा।

पं. शीतल चन्द जैन, ललितपुर।

सन्दर्भ ग्रन्थ –

1-तत्त्वार्थ सूत्र
2- सर्वार्थ सिद्धि
3-राजवार्तिक
4-षट्खण्डागम
5-धवला ग्रन्थ
6-गोम्मटसार कर्मकाण्ड
7-पञ्चसंग्रह प्राकृत अधिकार
8-सदियों का बन्धन
9-लाटी संहिता अधिकार
10-सागार धर्मामृत एवं अनगार धर्मामृत

गोम्मटसार में कर्म प्रकृति

डॉ. सुशील जैन
कुरावली (मैनपुरी)

दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी ई. के आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने जैन धर्म के जीवतत्त्व और कर्म सिद्धान्त की विस्तार से व्याख्या गोम्मटसार जीवकाण्ड और गोम्मटसार कर्मकाण्ड के रूप में की और सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री के सम्पादकत्व में यह ग्रन्थ प्राकृत मूल गाथा, श्रीमत केशववर्णी विरचित कर्नाटक-वृत्ति जीवतत्त्व प्रदीपिका संस्कृत टीका तथा हिन्दी अनुवाद एवं विस्तृत प्रस्तावना के साथ चार वृहत भागों (गोम्मटसार जीवकाण्ड भाग 1, 2 और गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाग 1, 2) में प्रकाशित हुआ है।

गोम्मटसार नाम का प्रथम पद गोम्मट सुनने में कुछ विचित्र सा लगता है। यह शब्द न तो संस्कृत भाषा के कोशों में मिलता है और न प्राकृत भाषा के, अत: यह शब्द विद्वानों के विवाद का विषय रहा है। इस गोम्मट नाम से सम्बन्धित बहुत सारी अवधारणाएँ सामने आयी हैं। यदि हम गोम्मटसार की अन्तिम कुछ गाथाओं को ध्यानपूर्वक पढ़ें तो एक बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि चामुण्डाराय - जो वीर मार्तण्ड की उपाधि से शोभित थे, का एक नाम गोम्मट था और वे गोम्मटराय भी कहे जाते थे। आचार्य नेमिचन्द्र ने ओजपूर्ण शब्दों में उनकी विजय की भावना की है। जैसा निम्न गाथाओं से प्रकट है -

अज्जज्जसेण गुणगणसमूह संघारि अजियसेण गुरु।
भुवणगुरु जस्स गुरु सो राओ गोम्मटो जयऊ।।
जेण विणिम्मिय-पडिमा-वयणं सव्वट्ठ सिद्धिदेवेहिं।
सव्वपरमोहिजोगिहिं दिट्ठं सो राओ गोम्मटो जयऊ।।

पहली गाथा में कहा है वह राय गोम्मट जयवन्त हों, जिनके गुरु अजितसेन हैं जो भुवनगुरु हैं। दूसरी गाथा में कहा है वह राजा गोम्मट जयवन्त हों, जिनकी निर्माण करायी हुई प्रतिमा (बाहुबली की मूर्ति) का मुख सर्वार्थसिद्धि के देवों और सर्वावधि तथा परमावधि के धारक योगियों के द्वारा देखा गया है।

डॉ. उपाध्येय ने अपने लेख में लिखा है भारत की आधुनिक भाषाओं में मराठी ही ऐसी भाषा है जिसमें यह शब्द प्राय: व्यवहृत हुआ है और आज भी इसका व्यवहार होता है। आगे वह लिखते हैं - 'गोम्मट शब्द मराठी में एक विशेषण है और उसका अर्थ है साफ, सुन्दर, आकर्षक, अच्छा आदि। कोंकणी भाषा में गोम्मटो शब्द है और उसका वही अर्थ है जो मराठी में है।' अन्त में वह लिखते हैं - अक्षरश: गोम्मट शब्द का अर्थ है उत्तम आदि।

ग्रन्थ रचना आचार्य श्री द्वारा चन्द्रगिरि पर चामुण्डराय के द्वारा निर्मापित जिनालय में इन्द्रनीलमणि निर्मित नेमीश्वर जिनके सान्निध्य में ही हुई है। जब चामुण्डराय अपनी माता के साथ गोमटेश्वर की मूर्ति के दर्शन के लिए पोदनपुर गये थे तो नेमीचन्द्र भी उनके साथ थे। गोम्मटसार कर्मकाण्ड की प्रशस्ति में इस जिनालय में स्थित बिम्ब का नाम निर्देश है तथा जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड की आद्य मंगल गाथाओं में नेमिजिन को भी नमस्कार किया गया है। गोम्मटसार की अन्तिम प्रशस्ति में राजा गोम्मट अर्थात् चामुण्डराय का जयकार करते हुए उनके द्वारा निर्मित दक्षिण कुक्कुटजिन-बाहुबली की मूर्ति तथा चन्द्रगिरि पर निर्मित जिनालय का उल्लेख किया है। इससे यह प्रकट है उक्त निर्माणों के पश्चात् या उनके समय काल में ही गोम्मटसार की रचना विक्रम संवत् 1037-40 अर्थात् 980-993 में हुई है।

गोम्मटसार ग्रन्थ के दो भाग पूर्वभाग 'जीवकाण्ड' और उत्तरभाग 'कर्मकाण्ड' है। जीवकाण्ड में 734 गाथाएँ हैं जिसमें जीव के अनेक अशुद्ध अवस्थाओं का और भावों का वर्णन है एवं कर्मकाण्ड में 972 गाथाएँ हैं, जिनमें कर्मों की अनेक अवस्थाओं का वर्णन है। सम्पूर्ण जैन साहित्य को विषय के अनुसार चार भागों में विभाजित किये जाने पर प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग में से यह ग्रन्थ करणानुयोग के अन्तर्गत आता है। इस करणानुयोग रूप शास्त्र के अभ्यास के लिए गणित का ज्ञान आवश्यक है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार समय की परिभाषा अत्यन्त सूक्ष्म बताई है। एक आवली मात्र में असंख्यात समय माने हैं। प्रत्येक जीवात्मा में प्रति समय कर्म के परमाणु आते रहते हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में आचार्य श्री नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने कहा है -

सिद्धाणंतिम भागं अभव्वसिद्धादणंत गुणमेव।
समय पबद्धं बंधदिजोगवसादो दु विसरित्थं।।

अर्थात् यह आत्मा सिद्ध जीव राशि के अनन्तवें भाग और अभव्य जीवराशि से अनन्तगुणे समय प्रबद्ध को एक समय में बाँधता है। परन्तु मन-वचन-काय की प्रवृत्ति रूप योगों की विशेषता से कभी थोड़े कभी बहुत परमाणुओं का भी बँध करता है।

सारांश यह है कि परिणामों में कषाय की अधिकता तथा मन्दता होने पर आत्मा के प्रदेश अधिक या कम चलायमान होते हैं, तब कर्म परमाणु भी ज्यादा अथवा कम बँधते हैं। जैसे चिकनी दीवाल पर धूलि अधिक लगती है और कम चिकनी दीवाल पर कम लगती है। वैसे ही राग भाव से चिकनी आत्मा अपनी कम या अधिक चिकनाई के अनुसार कर्म परमाणुओं को ग्रहण करता है।

कर्म सामान्य से आठ प्रकार के हैं। अथवा एक सौ अड़तालीस या असंख्यात लोक प्रमाण भी उसके भेद होते हैं। इन आठ कर्मों में भी घातिया तथा अघातिया ये दो भेद हैं। गोम्मटसार में आचार्य लिखते हैं -

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीयमोहणियं ।
आउगणामं गोदंतरायमिदि अट्ठ पयडीओ।।8।। (गोम्मटसार)

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्मों की मूल प्रकृतियाँ हैं।

आवरणमोहविग्घं घादी जीवगुणघादणत्तादो।
आउगणामं गोदं वेयणियं तह अघादित्ति ।।9।। (गोम्मटसार)

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय ये चार घातिया कर्म हैं, क्योंकि जीव के अनुजीवी गुणों को नष्ट करते हैं। आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय ये चार अघातिया कर्म हैं। जैसे जली हुई रस्सी की तरह इनके रहने से भी अनुजीवी गुणों का नाश नहीं होता। केवलज्ञान, अनन्तवीर्य और क्षायिकसम्यक्त्व तथा च शब्द से क्षायिकचारित्र और क्षायिकदानादि इन क्षायिक भावों को तथा मतिज्ञान आदि (मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय इत्यादि) क्षायोपशमिक भावों को भी ये ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्म घातते हैं अर्थात् ये जीव के सम्पूर्ण गुणों को प्रकट नहीं होने देते इसी कारण ये घातिया कर्म कहलाते हैं।

आठों कर्मों की आगम में 148 प्रकृतियाँ बतलायी गयी हैं उनमें से सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन दो को छोड़ कर शेष 146 प्रकृतियाँ ही बन्धयोग्य मानी गयी हैं। इनमें से प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थानों में योग की प्रतिकूलता के कारण नाम कर्म की तीर्थंकर, आहारक शरीर और आहारकआंगोपांग इन पाँच प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। फलत: प्रथम गुणस्थान में प्रकृतियाँ ही बन्धयोग्य मानी गयी हैं।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में बन्धयोग्य प्रकृतियाँ 120 बतलायी गयी हैं।

भेदे छादालसयं इदरे बंधे हवंति वीससयं ।
भेदे सव्वे उदयेबावीससयं अभेदम्हि ।।37।।

इन दोनों कथनों का समन्वय इस प्रकार करना चाहिए कि गोम्मटसार कर्मकाण्ड में जो 120 प्रकृतियाँ बन्धयोग्य बतलायी गयी हैं उनमें बन्ध की समानता के कारण 8 स्पर्शों को स्पर्शसामान्य में, 5 रस को रससामान्य में, 2 गन्धों को गन्धसामान्य में और 5 वर्णों को वर्ण सामान्य में अंतर्भूत कर लिया गया है। तथा एक साथ बन्ध होने के कारण औदारिक शरीर में औदारिकबन्धन और औदारिक संघात को, वैक्रियकशरीर में वैक्रियक बन्धन और वैक्रियकसंघात को, आहारकशरीर में आहारकबन्धन और आहारकसंघात को, तेजसशरीर में तेजसबन्धन और तेजससंघातको कार्मणशरीरमें कार्मणबन्धन और कार्मणसंघात को समाहित कर लिया गया है। इसलिए बद्ध्यमानप्रकृतियाँ वास्तव में 146 होने पर भी गोम्मटसार कर्मकाण्ड में उक्त प्रकार अभेद से (अभेदविवक्षासे) 120 कही गयी है। फलत: वास्तविकता के आधार पर इस लेख में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या 146 बतलाना गोम्मटसार कर्मकाण्ड के विरुद्ध नहीं है। इसी प्रकार प्रकृतियों के बन्धन के समान अबन्ध और बन्धव्युच्छित्ति को व्यवस्था में गोम्मटसार कर्मकाण्ड के कथन के साथ संख्या भेद का भी समन्वय कर लेना चाहिए।

संसार में कर्मों का मीटर प्रतिक्षण चालू रहता है, चाहे आप सो रहे हों या जाग्रत अवस्था में हों कभी कर्म के चक्र से छूट नहीं सकते। कर्मों से छूटने के लिए निर्ग्रंथ अवस्था धारण करनी पड़ती है मोक्ष पाहुड में कहा भी है –

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तोवि।।मोक्ष पाहुड।।

अर्थात् तीर्थंकर भगवान मोक्ष प्राप्त करेंगे यह बात नियम से सिद्ध है – निश्चित है कि राजपाट छोड़ कर दीक्षा धारण करते हैं। वे गर्भावस्था से ही मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानों के धारी होते हैं एवं दीक्षा लेते ही उन्हें मन:पर्यय ज्ञान प्रकट हो जाता है। हालाँकि केवलज्ञान प्राप्त होने तक प्रत्येक तीर्थंकर मौन रहते हैं और केवलज्ञान के बाद ओंकार–रूप दिव्यध्वनि खिरती है जो कि समस्त भव्य प्राणियों के लिए हितकारी होती है। भगवान ऋषभदेव ने एक हजार वर्षों तक तपस्या की और भगवान महावीर ने बारह वर्ष तप किया था। यह तो अपने पूर्व कर्मों पर निर्भर होता है कि कौन कितने दिन में कर्मों का क्षेपण करता है। जिन महापुरुषों ने समस्त कर्मों का नाश कर दिया उनकी हम लोग आराधना करते हैं। जैन धर्म किसी व्यक्ति विशेष को नहीं पूजता वह तो गुणों का पुजारी होता है। इसलिये जैन धर्म प्राणिमात्र के ग्रहण करने योग्य धर्म है। उसकी परिभाषा बताते हुए आचार्यों ने कहा है –

'कर्मारातीन् जयतीति जिन:'।

अर्थात् जो कर्म शत्रुओं को जीत लेते हैं वे जिन कहलाते हैं तथा **'जिनो देवता यस्यस जैन:'**। जो जिन के उपासक हैं अथवा जिनेन्द्र भगवान ही हैं देवता जिनके, वे जैन कहलाते हैं। मानव से लेकर पशु–पक्षी तक इस धर्म को धारण कर सकते हैं।

सिंह जैसे हिंसक प्राणी ने भी दिगम्बर मुनि का सम्बोधन प्राप्त करके जीवन का उत्थान कर लिया, माँसाहार त्याग करके उसने सल्लेखना ग्रहण कर ली, जिसके प्रभाव से कालान्तर में दसवें भव में वह भगवान महावीर बन गया।

जैन रामायण (पद्मपुराण) में वर्णन आया है – एक बार राम, लक्ष्मण, सीता वंशस्थल वन में पहुँचते ही वहाँ सायंकाल गाँव वाले का दृश्य देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं। गाँव के सभी स्त्री–पुरुष अपने–अपने बच्चों को तथा घर का सामान लेकर कहीं भाग रहे थे। लक्ष्मण ने आगे बढ़कर उन लोगों से पूछा कि आप लोग कहाँ भागे जा रहे हैं? उन लोगों ने बताया कि यहाँ रात्रि में कोई दैत्य आकर पर्वत पर इतना भयंकर शब्द करता है कि कई लोगों की मृत्यु हो जाती है, कितने ही लोग कानों से बहरे हो जाते हैं, गर्भवती स्त्रियों के असमय में गर्भपात हो जाते हैं। हम लोग इस राक्षस के प्रलयकारी शब्द को सहन करने में असमर्थ हैं। इसलिए शाम को सभी दूसरे गाँव में भाग जाते हैं और प्रात: यहीं वापिस आ जाते हैं।

गाँव वालों से यह भयावह वार्ता सुनकर सीता राम से कहने लगी कि चलो! हम लोग भी इन्हीं लोगों के साथ उसी गाँव में चलें और सुबह इन्हीं के साथ वापस आ जायेंगे। राम ने हँसकर कहा – तुम्हें डर लगता है

अत: तुम इन लोगों के साथ चली जाओ, सुबह आकर हम लोगों से मिल लेना। हम लोग तो उस दैत्य का पता लगायेंगे और गाँववासियों को उसके चँगुल से मुक्त करायेंगे। सीता भला इस तरह अकेली कब जाने वाली थी? उसने कहा – आप लोगों की तो हमेशा ही केकड़े की पकड़ के समान जिद रहती है।

मुनियों पर हुए उपसर्ग को राम द्वारा दूर करना अन्तोगत्वा तीनों ही वंशस्थल पर चढ़ते हैं। वहाँ दो मुनिराज ध्यान में लीन खड़े हुए थे, वहाँ पहुँच कर वे लोग मुनिवर की भक्ति करने में अपनी सुधबुध भूल जाते हैं। उस भक्ति का बड़ा रोमांचक वर्णन पद्मपुराण में है –

झरने के जल से सीता ने मुनि के चरण प्रक्षालन किये एवं मलियागिरि का चंदन घिसकर चरणों की पूजा की। राम लक्ष्मण ने संगीत की धुन में भक्ति गीत गाये और सीता ने भाव विभोर होकर नृत्य किया। यह भक्ति का कार्यक्रम चल ही रहा था कि पर्वत पर भयंकर शब्द हो गया। सीता कुछ भयभीत हुई अत: राम ने उसे दोनों मुनियों के बीच वाले स्थान में बिठा दिया और दोनों भाई दैत्य का सामना करने के लिए धनुष बाण तानकर तैयार हो गये। दैत्य जितनी जोर की गर्जना करता था, उससे अधिक गर्जना बलभद्र और नारायण के बाणों से निकलती थी। रात भर दैत्य के साथ वे दोनों युद्ध करते रहे, अंत में रात्रि के पिछले प्रहर में दैत्य स्वयं डरकर भाग गया। इस प्रकार उपसर्ग शांत हुआ और दोनों मुनियों को केवलज्ञान प्रकट हो गया, देवों ने आकर गंधकुटी की रचना कर दी। वे देशभूषण–कुलभूषण नाम के दोनों मुनि केवली बन कर गंधकुटी में विराजमान हो गये और भव्य प्राणियों को दिव्य देशना प्रदान करने लगे।

कहने का तात्पर्य यह है कि दो महापुरुषों के निमित्त से ग्रामवासियों का उपद्रव भी शांत हो गया एवं मुनिराज का उपसर्ग निवारण होते ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उसी गंधकुटी में राम लक्ष्मण और सीता ने भी दिव्य ध्वनि का रसपान किया तथा उपसर्ग करने वाले दैत्य के बारे में एवं मुनियों के बारे में भी परिचय प्राप्त किया कि पूर्वभव में वैर वशात् यह दैत्य उपसर्ग कर रहा था।

यही है कर्मों की विचित्रता! जहाँ वह दैत्य मुनियों पर उपसर्ग करके अपना संसार दीर्घ कर रहा था, वहीं उपसर्ग दूर करने वाले महान् पुण्य का संचय कर रहे थे तथा उपसर्ग को सहन करने वाले महामुनि उस शत्रु को भी अपना मित्र समझ रहे थे क्योंकि उसके निमित्त से उन्हें आत्मा और शरीर का भेद विज्ञान हो रहा था। एक के कर्म कट रहे थे और दूसरे के कर्मबंध रहे थे, यही अन्तर था मुनिराज और दैत्य की आत्मा में। जैन धर्म तो कर्म सिद्धान्त पर ही टिका हुआ है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में एक गाथा आई है–

पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो ।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं ।।

इसका अर्थ यह है कि जीव और पुद्गल का अनादिकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है। जैसे स्वर्ण पाषाण में मल स्वाभाविक रूप से लगा रहता है। उसी प्रकार जीव के साथ कर्ममल अनादिकाल से लगे हुए हैं। उन्हें आत्मा से अलग करने के लिए स्वर्णपाषाण के समान आत्मा को तपस्या की अग्नि में तपाना पड़ेगा।

अन्त में आचार्य भगवन्त कहते हैं कर्म सिद्धान्त के मर्म को समझकर कर्मों से छूटने हेतु दान, पूजा, स्वाध्याय आदि सत्कर्म करें तथा शक्ति के अनुसार जीवन में संयम धारण कर मोक्ष मार्ग प्रशस्त करना चाहिए।

सन्दर्भ सूची –

1. गोम्मटसार

2. पद्म पुराण

3. मोक्ष पाहुड

4. अन्य ग्रन्थ

कर्मकाण्ड

मोहनीय कर्म के भेद एवं बंध के कारण

–पं. खेमचन्द जैन, जबलपुर

मोहनीय कर्म को कर्मों का राजा कहा गया है। जीव के लिए यही सबसे अधिक हानि पहुँचाने वाला कर्म है। जो आत्मा को मोहित कर अज्ञानी बना देता है, आचार विचार को विकृत कर देता है। मोहनीय कर्म आत्मा के सम्यक्त्व गुण और चारित्र गुण का घात करता है।

मोहनीय कर्म की प्रबलता के कारण आत्मा विषय भोगों में फँसकर सम्यक् विचार नहीं कर पाती है और न संयमित हो पाती है। मोह के वशीभूत जीव का ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान हो जाता है और चारित्र भी मिथ्या चारित्र हो जाता है। वेदनीय कर्म को शक्ति देकर मुझे साता–असाता और सुख–दुख आदि का वेदन करना भी इसी कर्म का कार्य है। यह सब कराता हुआ, चेतना को प्रदूषित करके, अधोगति का पात्र बनाने वाला मोहनीय कर्म ही है। इसीलिये इस कर्म को कर्मों का राजा भी कहा गया है। किसी कवि ने कहा है –

मोह तुम्हारी चाल से, फेंक जीव जग जाल।
मदन सहायक बन रहा, जिन का रहा न ख्याल।

यह माया कैसी समझ न आई।

पिता पुत्र माता भगिनी, त्रिभुवन पति सुध विसराई,
आज पुष्पकर सहज बुद्धि, इस ओर मेरी हो आई।
किसी को विफल विथा दी, किसी की सुध विसरा दी,
फैल रही जग में माया, समझो काल मोहनीय तुम्हारा।

आठ कर्मों में सर्वाधिक बलशाली मोहनीय कर्म है। इसे सभी कर्मों का सेनापति कहा गया है। युद्धभूमि में सेनापति के मारे जाने पर सभी सेना में भगदड़ मच जाती है। ऐसे ही मोहनीय कर्म के नष्ट होने पर शेष तीन घातिया कर्म भी अंतर्मुहूर्त में नष्ट हो जाते हैं। शेष अघातिया कर्म भी जली रस्सी के समान प्रभावहीन हो जाते हैं और आत्मा परमात्मा (ईश्वर) बन जाता है।

समयसार गाथा नं. 14 की टीका में मोहनीय कर्म को ग्रह कहा है। नवग्रह होते हैं वे कभी अच्छा फल भी दे सकते हैं और बुरा भी। लेकिन मोह ऐसा ग्रह है जो संसार में हमें दुःख ही देता है।

इष्टोपदेश में भी कहा गया है –

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।
मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदन कोद्रवैः।।

यह कर्म आत्मस्वरूप में बाधक है। मोहनीय कर्म की तुलना मदिरापान से की गई है। जैसे शराब पीकर

मानव सुधबुध भूल जाता है, उसे अपने तथा पराये का ज्ञान नहीं रहता, वह हिताहित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, सत्य-असत्य के विवेक से शून्य हो जाता है। वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से जीव को हित-अहित, तत्त्व-अतत्त्व का भेद-विज्ञान नहीं हो पाता।

छहढाला में भी कहा गया है -

ताहि सुनो भवि मनथिर आन, जो चाहो अपनो कल्याण।
मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि।।

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं :

1. दर्शन मोहनीय 2. चारित्र मोहनीय

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा क्र. 26 के आधार पर दर्शन मोहनीय के भेदों को स्पष्ट किया गया है-

जंतेण कोद्दवं वा, पढ़मुवसमसम्मभाव जंतेण।
भिच्छं दव्वं तु तिधा, असंखगुण हीण दव्व कमा।।

जैसे कोदों धान्य विशेष दलने पर तंदुल कण और भूसी, ऐसे तीन रूप हो जाता है, उसी तरह मिथ्यात्व रूप कर्मद्रव्य भी उपशम सम्यक्त्वरुपी यंत्र के द्वारा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक्त्व इन तीन स्वरूप परिणमन करता है। इस कारण एक मिथ्यात्व रूप दर्शन मोहनीय कर्म के ही तीन भेद कहे हैं।

1. दर्शन मोहनीय - जो आत्मा के सम्यक्त्व गुण को घाते वह दर्शन मोहनीय है।

2. चारित्र मोहनीय - जो आत्मा के चारित्र गुण को घाते वह चारित्र मोहनीय है।

मोहनीय कर्म को तलवार की उपमा दी गई है। जैसे तलवार में दोनों ओर धार होती है, ठीक ऐसे ही मोहनीय कर्म भी दोहरा कार्य करता है। यह श्रद्धा को भी विकृत करता है और चारित्र को भी विकृत करता है।

1. मिथ्यात्व दर्शन मोहनीय : जिस प्रकृति के उदय में जीव अपने स्वभाव की सम्यक् श्रद्धा, अपनत्व रूप से अपने भगवान आत्मा को स्वीकार नहीं कर पाता है। तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान नहीं कर पाता है, उसे मिथ्यात्व दर्शन मोहनीय कहते हैं।

2. सम्यग्मिथ्यात्व दर्शन मोहनीय : जिस प्रकृति के उदय में जीवादि तत्वों का सम्यक्-मिथ्या दोनों रूप एक मिश्र जात्यंतर श्रद्धान करता है, उसे सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्र दर्शनमोहनीय कहते हैं।

3. सम्यक्त्व दर्शन मोहनीय : जिस प्रकृति के उदय में जीवादि तत्त्वों का, अपने ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा का अपनत्वरूप से सम्यक् श्रद्धान होने पर भी उस श्रद्धान में चल, मलिन, अवगाढ़ - ये तीन दोष लगते रहते हैं, उसे सम्यक्त्व दर्शन मोहनीय कहते हैं।

चारित्र मोहनीय - जिस कर्म के उदय से आत्मा के चारित्र गुण का घात होता है इसे चारित्र मोहनीय कहते हैं। इस कर्म का उदय होने पर जीव आत्मस्वरूप में लीनता की अपेक्षा जड़ पौद्गलिक पदार्थों में लीन होता है। वह विभाव को स्वभाव मान लेता है। विकारी परिणामों से ग्रसित रहता है।

चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं – कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय

1. **कषाय वेदनीय –** कष् यानी जन्म मरण रूप संसार और आय का अर्थ है आमदनी अर्थात् जिससे संसार बढ़े उसे कषाय कहते हैं।

कषाय वेदनीय के 16 भेद इस प्रकार हैं –

अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ – जो अनंत संसार का कारण है और सम्यग्दर्शन को प्रकट नहीं होने देता है। यह चौकड़ी आत्मा के चारित्र गुण को तो घातती ही है, यह इसकी द्विस्वभावता है।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ जिसके उदय से थोड़ा सा भी देश चारित्र रूप भाव प्रकट नहीं हो सकता उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ जिसके उदय से जीव के सकल चारित्र रूप भाव नहीं होते।

संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ – जिसके उदय से शुद्धोपयोग रूप यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं होता।

2. **अकषाय वेदनीय –** अकषाय का अर्थ ईषत् कषाय यानी किंचित कषाय है। इसी से कषाय को नोकषाय भी कहते हैं। क्रोध आदि कषाय का बल पाकर ही हास्य आदि होते हैं, उसके अभाव में नहीं होते। इसलिये इन्हें अकषाय कहा जाता है।

हास्य – जिसके उदय से हँसी आती है। उसे हास्य कहते हैं।

रति – जिसके उदय से किन्हीं विषयों में आसक्ति प्रीति होती है उसे रति कहते हैं।

अरति – जिसके उदय से अनिष्ट विषयों में द्वेष उपजे।

शोक – जिसके उदय से रंज होता है।

भय – जिसके उदय से डर लगता है उसे भय कहते हैं।

जुगुप्सा – जिसके उदय से दूसरे से ग्लानि या घृणा होती है।

स्त्रीवेद – जिसके उदय से पुरुष से रमने की इच्छा होती है।

पुरुषवेद – जिसके उदय से स्त्री से रमने की इच्छा होती है।

नपुंसकवेद – जिसके उदय से पुरुष व स्त्री दोनों के साथ रमने की इच्छा होती है।

दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के क्रमश: तीन तथा पच्चीस भेदों को मिलाकर मोहनीय कर्म के 28 भेद हैं।

क्रोध कषाय – जिसके उदय से अपने और दूसरे के घात करने के परिणाम हों, दूसरे का उपकार करने के भाव न हों सो क्रोध कषाय है। तीव्र मंदपने की अपेक्षा इसके चार दृष्टांत हैं –

1. **तीव्रतर** – पत्थर की लकीर जैसा क्रोध जो बहुत अधिक समय में मिटे अनंतानुबन्धी।

2. **तीव्र** – पृथ्वी की रेखा, गाड़ी की लीक जैसा जो उससे कम काल में मिटे अप्रत्याख्यानावरण।

3. **मंद** – धूल की रेखा जैसे जो अल्पकाल में मिटे प्रत्याख्यानावरण।

4. **मंदतर** – जल की रेखा के समान जो तुरन्त ही मिट जावे संज्वलन।

मानकषाय – जिसके उदय से आठ प्रकार के (जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, विद्या, रूप, तप और प्रभुता) आदि के गर्व से उद्धत रूप तथा अन्य से नम्रीभूत न होने रूप परिणाम हों सो मान कषाय है। इसके भी चार दृष्टांत हैं –

1. **तीव्रतर** – पत्थर के खम्भे जैसा जो टूट तो जावे पर झुके नहीं अनंतानुबन्धी।

2. **तीव्र** – हड्डी जैसा जो किसी कारण विशेष से कुछ काल के पीछे झुक जावे। अप्रत्याख्यानावरण।

3. **मंद** – नये काठ जैसा जो नमने का कारण मिलने पर थोड़े ही समय में झुक जावें। प्रत्याख्यानावरण।

4. **मंदतर** – बेल की डंडी जैसा जो तत्काल झुक जावें संज्वलन।

मायाकषाय – इस कषाय के उदय से दूसरों को धोखा देने अथवा ठगने के लिए मन, वचन, काय में कुटिलता आवे सो माया कषाय है। इसके भी चार दृष्टांत है –

1. **तीव्रतर** – बाँस की जड़ के समान कुटिलता – अनंतानुबन्धी।

2. **तीव्र** – मेढ़े के सींग की कुटिलता – अप्रत्याख्यानावरण।

3. **मंद** – गो मूत्र की कुटिलता – प्रत्याख्यानावरण।

4. **मंदतर** – चमरी गाय के बालों की तरह या लेखनी के टेढ़ेपन की तरह संज्वलन।

लोभ कषाय – जिसके उदय से अपने उपकारक द्रव्यों में अभिलाषा वांछा हो सो लोभ है। इसके भी चार दृष्टांत हैं –

1. **तीव्रतर** – किरमिची का रंग सदृश – अनंतानुबन्धी

2. **तीव्र** – काजल के रंग समान – अप्रत्याख्यानावरण।

3. **मंद** – कीचड़ या शरीर के मैल के समान – प्रत्याख्यानावरण।

4. **मंदतर** – हल्दी के रंग सदृश – संज्वलन।

कषायों की वासना का काल – अनंतानुबन्धी का 6 माह से ऊपर संख्यात, असंख्यात तथा अनंतभव। अप्रत्याख्यानावरण का 6 माह के अन्दर, प्रत्याख्यानावरण का 15 दिन व संज्वलन का अंतर्मुहूर्त। मतलब यह है जैसे कि क्रोध किया, बाद में वह दूसरे काम में लग गया, वहाँ पर क्रोध किया उस पर क्षमा भी नहीं है, इस प्रकार जो क्रोध का संस्कार मन में बैठा हुआ है उसकी वासना का काल यहाँ पर कहा गया है।

गोम्मटसार कर्मकांड की गाथा क्र. 802, 803 के अनुसार दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय के बंध के कारण कहते हैं –

आगे गोम्मटसार कर्मकाण्ड में दर्शनमोहनीय के प्रत्यय (आस्रव) कहते हैं –

अरहंत सिद्धचेदिय तव सुदगुरु धम्मसंघ पडिणीगो ।
बंधदि दंसणमोहं अणंत संसारिओ जेण ।।802।।

जो जीव, अरहंत, सिद्ध, प्रतिमा, तपश्चरण, निर्दोषशास्त्र, निर्ग्रन्थ गुरु, वीतराग प्रणीत धर्म और मुनि आदि का समूह रूप संघ – इनसे प्रतिकूल हो अर्थात् इनके स्वरूप से विपरीतता का ग्रहण करे वह दर्शनमोह को बाँधता है जिसके उदय से वह अनंत संसार में भटकता है।

आचार्य उमास्वामी ने भी तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है –

''केवलिश्रुत संघ धर्म देवावर्णवादो दर्शन मोहस्य''

केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद करने से दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव होता है।

अवर्णवाद – जिसमें जो दोष नहीं है उसे वह दोष लगाना अवर्णवाद है।

केवली अवर्णवाद – जिन्हें केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति हो गई है वे केवली कहलाते हैं। उनको कवलाहारी जीव कहना केवली अवर्णवाद है।

श्रुत का अवर्णवाद – जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कही गई वाणी जिनवाणी जिसे हम श्रुत कहते हैं, उसमें आयु पूर्ण करके ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। निमित्त अकिंचित्कर है, आदि शास्त्र विरुद्ध प्ररूपण करना श्रुत का अवर्णवाद है।

धर्म अवर्णवाद – जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा गया जो अहिंसामयी धर्म है उसकी निन्दा करना, धर्म में झूठा दोष लगाना, उससे मनुष्य-देश-राष्ट्र के पतन का कारण बताना धर्म का अवर्णवाद है।

देवों का अवर्णवाद – भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक देवों को माँसभक्षी, मदिरा प्रेमी, परस्त्रीगामी आदि कहना देवों का अवर्णवाद है। वे जीवों की बलि आदि से प्रसन्न होते हैं आदि कहना उनको झूठा दोष लगाना है।

देव-द्रव्य (निर्माल्य) का सेवन करने से भी दर्शन मोहनीय का बंध होता है। चंदे में लिखाया हुआ पैसा, मंदिर का पैसा, पूजा प्रतिष्ठा आदि को बोलियों का पैसा नहीं देने से भी मिथ्यात्व का बंध होता है। निर्माल्य सेवन करने वाला पुत्र-पुत्री रहित, दरिद्री, लँगड़ा, गूँगा, बहरा, अन्धा और चांडाल आदि कुजाति में उत्पन्न होता है।

उदाहरण – धन्यकुमार के पूर्वभव की घटना है। मगध देश के भोगवती नगरी में राजा कामवृष्टि उनकी पत्नी मिष्टदाना और घर में सुकृत पुण्य नाम का नौकर था जब मिष्टदाना गर्भवती हुई तो कामवृष्टि की मृत्यु

हो गई, धन धान्यादि नष्ट हो गया। मिष्टदाना ने अपने अभागे पुत्र का नाम अकृत पुण्य रखा। अब वह लाचार होकर दूसरे के घर भोजन आदि बनाकर पुत्र का पालन करने लगी। पुण्योदय से उसका नौकर सुकृत पुण्य भोगवती नगरी का मालिक बन गया। एक दिन अकृतपुण्य सुकृत पुण्य के खेत पर गया और बोला कि देखो ये लोग चना उखाड़ रहे हैं। मैं भी यदि चने उखाड़ूँगा तो मुझे कुछ चने दोगे? सुकृतपुण्य सोचने लगा देखो संसार की विचित्रता कि कभी स्वामी नौकर हो जाता है तो कभी नौकर स्वामी हो जाता है।

हाय, इसके पिता के प्रसाद से मैं गाँव का स्वामी हो गया और यह उन्हीं का पुत्र आज इसकी यह दशा हो गई कि कर्मों का मारा मुझसे याचना कर रहा है। सुकृतपुण्य ने उसे धन से भरे हुए कलश दिये परन्तु अकृतपुण्य का पाप इतना प्रचण्ड था कि वह स्वर्ण कलश हाथ में रखते ही अंगारे की तरह जलने लगा। इसका कारण था कि अकृतपुण्य ने पूर्वभव में जिनालय के उपकरण चोरी करके व्यसनों में खर्च किये थे। देव द्रव्य की चोरी से तीव्र पापकर्म बाँधा और उसे उसी भव में कोढ़ हो गया वह मरकर सातवें नरक में गया, वहाँ से निकलकर त्रस-स्थावर की योनि में भटका फिर अकृतपुण्य हुआ निर्माल्य द्रव्य के सेवन से उसका पापकर्म अभी भी क्षय को प्राप्त नहीं हुआ था।

चारित्र मोह के बंध के कारण गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा 803 में कहा-

''तिव्व कसाओ बहुमोहपरिणदो राग दो ससंतत्तो ।
बंधदि चरित्त मोहं दुविहंवि चारित्त गुण घादी ।।''

जो जीव तीव्र कषाय और हास्यादि नोकषाय सहित हो, बहुतमोहरूप परिणमता हो, राग और द्वेष में अत्यन्त लीन हो तथा चारित्रगुण के नाश करने का जिसका स्वभाव हो ऐसा जीव कषाय और नोकषाय रूप दो प्रकार के चारित्र मोहनीय कर्म को बाँधता है।

आचार्य उमास्वामी ने भी तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय के सूत्र नं. 14 में चारित्र मोहनीय आस्रव के कारण बतलाये हैं -

''कषायोदयातीव्र परिणामश्चारित्र मोहस्य''

कषाय के उदय में होने वाला आत्मा का तीव्र (कलुषित) परिणाम चारित्र मोहनीय कर्म के आस्रव का कारण है।

चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं (1) कषाय वेदनीय - जो जीव को क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों को वेदन अनुभव करावे। (2) नोकषाय (किंचित हल्की कषाय) वेदनीय - जो जीव को हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद का वेदन करावे। स्वयं क्रोधादि कषाय करना, दूसरों में कषाय उत्पन्न करना अथवा कषाय के आवेश में अनेक खोटी प्रवृत्तियाँ जैसे तपस्वी जनों को चारित्र दोष लगाना, नीच काम करना कषाय वेदनीय है ये आस्रव के कारण हैं।

सत्यधर्म का उपहास करना, दीनहीन गरीब मनुष्य की हँसी उड़ाना, बहुत बकवास और ठट्ठेबाजी की

प्रवृत्ति चालू रखना-मजाक की आदत रखना हास्य नोकषाय आस्रव के कारण हैं। नाना प्रकार की क्रीड़ाओं में संलग्न रहना, व्रतों और शीलों के पालने में अरुचि रखना रति नोकषाय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

दूसरों में **अरति**-बेचैनी उत्पन्न करना, **रति**-आराम को नाश करना और पापी मनुष्यों की संगति करना आदि अरति नोकषाय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

दूसरे को शोक पैदा करना, दूसरे के शोक में हर्ष मनाना आदि शोक नोकषाय कर्म के आस्रव के कारण हैं। स्वयं भय रखना, दूसरों को भय उत्पन्न करना आदि भय नोकषाय कर्म के आस्रव के कारण हैं। भली क्रिया-आचार के प्रति ग्लानि आदि के परिणाम होना जुगुप्सा आस्रव के कारण हैं। असत्य बोलने की आदत, परदोष दर्शन, मायाचार की प्रवृत्ति, रोग की तीव्रता होना आदि परिणाम स्त्रीवेद आस्रव के कारण हैं। थोड़ा क्रोध होना अपनी स्त्री में सन्तोष होना आदि परिणाम पुरुष वेद कर्म के आस्रव के कारण हैं।

कषाय की प्रबलता होना, गुह्य इन्द्रियों का छेदन करना नपुंसक वेद कर्म के आस्रव के कारण हैं।

इस प्रकार मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण जानकर इन्हें हम त्याग करें, तो ही हमारा कल्याण हो सकता है। भगवान महावीर स्वामी जी जय।

*****

गुणस्थान

जीव के परिणामों का आरोहण तथा अवरोहण गुणस्थान कहलाता है। पूज्य आचार्य श्री नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गुणस्थान की परिभाषा करते हुए कहा है –

जेहिं दु लखिज्जंते उदयादिसु सम्भवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा, णिदिट्ठा सव्व दरसीहिं।।8।।

अर्थात् – दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित किये जाते हैं उन्हें सर्व दर्शियों ने 'गुणस्थान' से निर्देश किया है।

सामान्यत: मोह और योग के निमित्त से परिणामों की तारतम्यता को गुणस्थान कहते हैं।

गुणस्थान चौदह होते हैं –

गुणस्थानों का विभाजन मोह और योग की मुख्यता से, अविरत व विरत की अपेक्षा से, अज्ञानी व ज्ञानी की अपेक्षा से छदमस्थ और सर्वज्ञ की अपेक्षा से, योग और अयोग की अपेक्षा से प्रमत्त व अप्रमत्त अपेक्षा से, राग और वीतराग अपेक्षा से, बहिरात्मा व अन्तरात्मा की अपेक्षा से किया गया है।

1. मिथ्यात्व गुणस्थान

मिथ्यात्व कर्म के उदय से तत्वों के विपरीत श्रद्धान को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं।

मिथ्यात्व पाँच भेद रूप होता है। 1. विपरीत 2. एकान्त 3. विनय 4. संशय 5. अज्ञान।

जीव को अजीव मानना व अजीव को जीव मानना, आश्रव को श्रेष्ठ मानना, शुभ बंध से मुक्ति मानना, संवर निर्जरा को कष्टदायी मानना, मोक्ष सुख को सुख न मानना।

उक्त गुणस्थान का सम्बन्ध जीव के साथ अनादिकाल से है। पंचेन्द्रियों में रत, रागी देवी देवताओं की पूजन पाठ में लगा, पाँचों पापों में रत जीव सदा से मिथ्यात्व का पोषण करता रहा है।

इस गुणस्थान में बन्ध योग्य प्रकृति 117, अबन्ध-3, 16 की व्युच्छिति

2. सासादन गुणस्थान

स + आसादन = सासादन, जिस जीव ने सम्यक्त्व की विराधना कर दी है उसे यह गुणस्थान होता है।

पर्वत से गिरने पर भूमि पर गिरने से पहले का काल सासादन काल कहलाता है।

उक्त गुणस्थान में 101 प्रकृतियों का बंध, 145 की सत्ता, 111 का उदय यह गुणस्थान चारों गतियों में, पंचेन्द्रिय को, त्रस काय में, तीनों वेदों में, 25 कषाय सहित, तीन कुज्ञान सहित, असंयत, 6 लेश्या, भव्य

को, संज्ञी को, आहारक व अनाहारक को, 6 पर्याप्ति सहित, 10 प्राण सहित व अपर्याप्तक 7 प्राण सहित होता है। इसमें जीवों की संख्या पल्य के असंख्यातवें भाग, मनुष्यों की अपेक्षा 52 करोड़ होती है।

3. मिश्र गुणस्थान

जिस प्रकार दही व गुड़ मिला देने से खट्टा-मीठा स्वाद आता है उसी प्रकार सम्यक् मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव के सम्यक व मिथ्यात्व रूप मिश्र परिणाम होते हैं।

सम्यक्त्व प्राप्ति के समय मिथ्यात्व कर्म के तीन टुकड़े हो जाते हैं। (1) मिथ्यात्व, (2) सम्यक् मिथ्यात्व (3) सम्यक्त्व प्रकृति

सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से मिश्र गुणस्थान बनता है। इस प्रकृति को 'जात्यान्तर प्रकृति' भी कहा गया है। अर्थात् सम्यक् दर्शन के एक देश का अभाव व एकदेश का सद्भाव।

उक्त गुण. में 74 प्रकृति का बंध, 111 का उदय, 147 की सत्ता।

यह गुणस्थान चारों गतियों में, पंचेन्द्रियों व त्रसकाय में, 3 वेद सहित, 21 कषाय सहित, 3 मिश्रज्ञान, 6 लेश्या सहित, भव्यों को, सैनी को, आहारक को, 6 पर्याप्ति सहित होता है।

विशेष – इसमें मरण नहीं होता। आयु बन्ध व मारणांतिक समुद्घात भी नहीं होता।

4. अविरत गुणस्थान

इस गुणस्थान का नाम अविरत है। इसमें जीव को 6 तत्त्व व 7 पदार्थों पर श्रद्धान होता है। 25 मलों को टालकर वह 8 अंगों का पालन करता है।

णो इन्द्रिये सु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहति जिणुत्तं, सम्माइट्ठी अविरदो सो।।29।।

अर्थात् जो इन्द्रियों से विरत नहीं है परन्तु जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए वचनों पर श्रद्धान् करता है, वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

सत्ता 148, क्षायिक के सत्ता-141 प्रकृतियों की, 43 अबंध, 77 का बंध, 10 की व्युच्छित्ति।

यह चारों गतियों में, छहों पर्याप्ति छः अपर्या. सामान्य से पल्य के असंख्यातवें भाग सहित, 4 संज्ञा, 10 प्राण 7 प्राण।

मनुष्यों की अपेक्षा इसमें जीवों की संख्या-700 करोड़ है।

नोटः- ✻ यह गुणस्थान मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी माना जाता है।

✻ इस गुणस्थान की प्राप्ति होने पर भव भ्रमण पर अंकुश लग जाता है।

✻ अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल रह जाता है।

5 देशसंयत गुणस्थान

अप्रत्याख्यान कषाय के अनुदय से उक्त गुणस्थान बनता है।

इसके नाम देश विरत, विरताविरत विरत, संयमासंयम, देशसंयम है।

यह गुणस्थान केवल मनुष्य व तिर्यंचों को ही होता है।

11 प्रतिमाओं का समावेश इस गुणस्थान में होता है।

इसमें संयम का अंश प्रकट हो जाता है।

यह जीव त्रस हिंसा का त्यागी होता है। परन्तु स्थावर हिंसा का त्याग नहीं कर पाता।

इसमें 5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत व 4 शिक्षा व्रतों का पालन होता है।

इस गुण. में 53 प्र. का अबन्ध, 67 का बन्ध, 4 की व्युच्छिति।

इसमें 3 वेद, 17 कषाय, 3 सुज्ञान, 3 शुभलेश्या, 3 सम्यक्त्व होते हैं।

6 प्रमत्तसंयत गुणस्थान

यह गुणस्थान प्रत्याख्यान कषायों के अनुदय से बनता है। इसका नाम प्रमत्त गुणस्थान है।

सातवें गुणस्थान से गिरकर यह गुणस्थान होता है।

28 मूल गुणधारी मुनिगण को यह गुणस्थान होता है।

तीनों सम्यक्त्वों में से कोई भी सम्यक्त्व मुनिराजों को हो सकता है।

इस गुणस्थान में 146 प्रकृतियों की सत्ता, 57 का अबन्ध, 63 का बन्ध, 6 की व्यु्च्छित्ति होती हैं।

7 अप्रमत्त संयत गुणस्थान

इस गुणस्थान में प्रमाद नहीं पाया जाता इसीलिए इसका नाम अप्रमत्त गुणस्थान है।

इसके दो भेद हैं – 1. स्वस्थान अप्रमत्त 2. सातिशय अप्रमत्त।

संज्वलन कषाय के मंद उदय से स्वस्थान अप्रमत्त मुनिराजों को 3 सम्यक्त्व में से कोई एक सम्यक्त्व रह सकता है। परन्तु सातिशय अप्रमत्त मुनिराजों को द्वितीयोपशम और क्षायिक सम्यक्त्व में से कोई भी एक सम्यक्त्व रह सकता है।

उक्त गुणस्थान में 59 का बंध, 61 अबन्ध, 1 की व्युच्छिति

इसके चारों ध्यान, 6 पर्याप्ति, 3 संज्ञा होती है।

8 अपूर्वकरण गुणस्थान

अध:प्रवृत्तकरण को व्यतीत कर जीव सातिशय अप्रमत्त में पहुँचकर विशुद्धिपूर्वक अपूर्वकरण में पहुँचता है।

21 प्रकृतियों के क्षय या उपशम से यह गुणस्थान होता है।

उपशम श्रेणी – जिसमें चारित्र मोहनीय कर्म की 21 प्रकृतियों का उपशम किया जाता है, वह उपशम श्रेणी कहलाती है। जिसके अन्तर्गत 8,9,10 व 11 गुणस्थान होते हैं।

क्षपक श्रेणी – जिसमें 21 प्रकृतियों का क्षय किया जाता है। जिसमें 8,9,10,12 गुणस्थान आते हैं। इन गुणस्थान में जीव के प्रत्येक समय के परिणाम पूर्व समय की अपेक्षा अपूर्व-अपूर्व होते हैं।

विशेष – इस गुणस्थान में स्थिति कांडक घात, अनुभाग कांडक घात, गुण श्रेणी निर्जरा व गुण संक्रमण होते हैं।

9 अनिवृत्तिकरण गुणस्थान

इस गुणस्थान में उपशमक या क्षपक के 1 समय में स्थित समस्त जीवों के परिणाम एक समान होते हैं।

निर्मल ध्यान अग्नि के द्वारा यहाँ प्रत्येक वृद्धिगत वीतराग परिणाम होते हैं।

मोहनीय कर्म की 21 प्रकृतियों का यहाँ उपशम या क्षपण होता है।

यहाँ 22 का बन्ध, 98 अबन्ध, 5 की व्युच्छिति

10 सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान

इस गुणस्थान में मात्र सूक्ष्म लोभ कषाय का उदय ही शेष रहता है।

साम्पराय का अर्थ कषाय का सूक्ष्म हो जाना है।

आ. नेमीचन्द्र जी ने गोम्मटसार (जीवकांड) गा. 60 में कहा है – धुले हुए कौसुंभी वस्त्र की सूक्ष्म लालिमा के समान सूक्ष्म लोभ का वेदन करने वाले उपशामक या क्षायक जीवों के यथाख्यात चारित्र से किंचित न्यून वीतराग परिणामों को सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान कहते हैं।

बन्ध 17, अबन्ध 103, 16 की व्युच्छिति।

विशेष – बन्ध होने का यह अंतिम गुणस्थान है।

इसमें मरण कर जीव कल्पवासी देव ही होते हैं।

11 उपशान्त मोह गुणस्थान

उक्त गुणस्थान में चारित्र मोहनीय कर्म का पूर्ण उपशम हो जाता है। इसलिए साधक वीतराग नाम से सुसज्जित हो जाता है। इसका काल अंतर्मुहूर्त है। अत: समय व्यतीत होने पर मोहनीय कर्म की प्रकृति का उदय होने लगता है और गुणस्थान क्रमश: गिरने लगते हैं। जीव गिरते हुए 6-7 गुणस्थान में भी रुक सकते हैं।

क्षायिक सम्यक्त्व है तो चौथे गुणस्थान तक आ सकते हैं। यदि उपशम सम्यग्दृष्टि है तो प्रथम गुणस्थान तक भी आ सकता है।

जीव उपशम श्रेणी एकभव में 2 बार ही चढ़ सकता है।

यहाँ 1 प्रकृति का बन्ध, 119 अबन्ध, 59 का उदय, 139 की सत्ता शुक्ल लेश्या, संज्ञातीत होते हैं।

12 क्षीण मोह गुणस्थान

जीव की मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के सर्वथा क्षीण हो जाने पर यह गुणस्थान होता है। क्षीण कषाय स्फटिक के पात्र में रखे स्वच्छ जल के समान होती है।

यह क्षपक श्रेणी का अंतिम गुणस्थान है। चारित्र मोहनीय, सर्वज्ञ, अरहन्त बनने के लिए तैयार रहते हैं।

यहाँ पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति हो जाती है।

इसमें 2 शुक्ल ध्यान होते हैं।

यहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अंतराय कर्म का क्षय हो जाता है।

यहाँ बंध – 1 प्रकृति का, 119 अबन्ध

13 गुणस्थान

चार घातिया कर्म नष्ट होने पर यह गुणस्थान होता है।

यहाँ केवली बनकर भगवान हितोपदेश करते हैं।

योग होने से इस गुणस्थान को सयोगी गुणस्थान कहा जाता है।

इस गुण. को सकल परमात्मा, सर्वज्ञ, सच्चे देव, आप्त आदि नामों से पुकारा जाता है।

यह गुण. 18 दोषों से रहित होता है तथा 46 गुणों से सुशोभित होता है।

पूज्य आ. नेमीचन्द्र जी ने जीवकांड में गा. 63-64 में कहा है – जिसका केवलज्ञान रूपी सूर्य की अविभाग प्रतिच्छेद रूप किरणों के समूह से अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है और जिनका 9 लब्धियों के प्रकट होने से परमात्मा संज्ञा प्राप्त हो गयी है।

यहाँ – 1 प्रकृति का बंध, 119 का अबन्ध व 1 की व्युच्छित्ति होती हैं।

सयोग केवली 7 प्रकार के हो सकते हैं –

5 कल्याणक वाले, तीन कल्याणक वाले, 2 कल्याणक वाले, मूक केवली, अन्तः कृत केवली, उपसर्ग केवली, सामान्यकेवली, समुद्घातकेवली व अनुबद्ध केवली।

14 गुणस्थान

योग के अभाव हो जाने से यह गुणस्थान बनता है। इस गुणस्थान का काल मात्र ह्रस्व 5 अक्षर (अ, इ, उ, ऋ, लृ) उच्चारण प्रमाण है। इस काल पश्चात् जीव सिद्ध शिला में प्रवेश करता है।

आ. नेमीचन्द्र देव ने गोम्मटसार जीवकांड में गा. 65 में कहा है।

सम्पूर्ण शील के ऐश्वर्य से सम्पन्न, सर्व आश्रव निरोधक, कर्मबन्ध रहित, जीव की योग रहित वीतराग सर्वज्ञ अवस्था 'अयोगी केवली' गुणस्थान है।

मुनिराज के 84 लाख उत्तर गुणों की तथा 18 हजार शील के भेदों की पूर्णता अयोग केवली गुण. में होती है।

इस गुणस्थान में जीवों की संख्या 598 है।

अंतिम शुक्ल ध्यान, संज्ञातीत, मात्र आयु प्राण व 6 पर्याप्तियाँ सहित होता है।

*****